नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रुचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरों की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समजिक ढांचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य-

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितम्

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्वितम्

एकत्रिंशत्तमाध्यायतश्चत्वारिंशत्तमाध्यायपर्य्यन्तम्

अजमेरनगरे वैदिकयन्त्रालये मुद्रितम्

(चतुर्थो भागः)

संवत् १९६१

मूल्य २) डाक व्यय ।)

ओ३म्

अथैकत्रिंशत्तमाध्यायारम्भः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षेत्यस्य नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता।
निचृदनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ परमात्मनउपासनास्तुतिपूर्वकं सृष्टिविद्याविषयमाह ॥
अब इकतीशवें अध्याय का आरम्भ है। उस के प्रथम मंत्र में परमात्मा की उपासना, स्तुतिपूर्वक सृष्टि विद्या के विषय को कहते हैं ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिꣳसर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षेति सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः। सहस्राक्षऽइति सहस्रऽअक्षः। सहस्रपादिति सहस्रऽपात्। सः। भूमिम्। सर्वतः। स्पृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशाङ्गुलमिति दशऽअङ्गुलम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(सहस्रशीर्षा) सहस्राण्यसङ्ख्यातानि शिरांसि यस्मिन् सः (पुरुषः) सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूर्त्तेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य॥ यस्मा-

स्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्। वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमित्यपि निगमो भवति ॥ निरु० अ० २ । ख० ३ ।

(सहस्राक्षः) सहस्राण्यसंख्यान्यक्षीणि यस्मिन् सः (सहस्रपात्) सहस्राण्यसंख्याताःपादा यस्मिन् सः (सः) (भूमिम्) भूगोलम् (सर्वतः) सर्वस्माद्देशात् (स्पृत्वा) अभिव्याप्य (अति) उल्लङ्घने (अतिष्ठत्) तिष्ठति (दशाङ्गुलम्) पञ्चस्थूलसूक्ष्मभूतानि दशाङ्गुलान्यङ्गानि यस्य तज्जगत् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्पुरुषोऽस्ति स सर्वतो भूमिं स्पृत्वा दशाङ्गुलमत्यतिष्ठत्तमेवोपासीध्वम् ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यस्मिन् पूर्णे परमात्मन्यस्मदादीनामसंख्यातानि शिरांस्यक्षीणि पादादीन्यङ्गानि च सन्ति यो भूम्याद्युपलक्षितं पञ्चभिः स्थूलैर्भूतैः सूक्ष्मैश्च युक्तं जगत् स्वसत्तया प्रपूर्य यत्र जगन्नास्ति तत्राऽपि पूर्णोऽस्ति तं सर्वनिर्मातारं परिपूर्णं सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं परमेश्वरं विहायाऽन्यस्योपासनं यूयं कदाचिन्नैव कुरुत किन्त्वस्योपासनेन धर्मार्थकाममोक्षानलं कुरुत ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (सहस्रशीर्षा) सब प्राणियों के हजारों शिर (सहस्राक्षः)हजारों नेत्र और (सहस्रपात्) असङ्ख्य पाद जिस के बीच में हैं ऐसा (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर है (सः) वह (सर्वतः) सब देशों से (भूमिम्) भूगोल में (स्पृत्वा) सब ओर से व्याप्त हो के

(दशाङ्गुलम्) पांच स्थूल भूत पांच सूक्ष्म भूत ये दश जिस के अवयव हैं उस सब जगत् को (अति, अतिष्ठत्) उल्लंघकर स्थित होता अर्थात् सब से पृथक् भी स्थिर होता है ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस पूर्ण परमात्मा में हम मनुष्य आदि के असंख्य शिर आंखें और पग आदि अवयव हैं जो भूमि आदि से उपलक्षित हुए पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों से युक्त जगत् को अपनी सत्ता से पूर्ण कर जहां जगत नहीं वहां भी पूर्ण हो रहा है उस सब जगत के बनाने वाले परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परमेश्वर को छोड़ के अन्य की उपासना तुम कभी न करो किन्तु उस ईश्वर की उपासना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करो ॥ १ ॥

पुरुष इत्यस्य नारायण ऋषिः । ईशानो देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

पुरु॑ष एवेदᳬ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य॑म् । उ॒ता मृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

पुरु॑षः । एव । इदम् । सर्व॑म् । यत् । भूतम् । यत् । च । भाव्य॑म् । उ॒त । अमृतत्वस्येत्य॑मृत॒ऽत्वस्य॑ । ईशा॑नः । यत् । अन्ने॑न । अतिरोहतीत्य॑ति॒ऽरोह॑ति ॥ २ ॥

पदार्थः—(पुरुषः) सत्यैर्गुणकर्मस्वभावैः परिपूर्णः (एव) (इदम्) प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकं जगत् (सर्वम्) सम्पूर्णम् (यत्) (भूतम्) उत्पन्नम् (यत्) (च) (भाव्यम्) उत्पत्स्यमानम् (उत) अपि (अमृतत्वस्य)

अविनाशिनो मोक्षसुखस्य कारणस्य वा (ईशानः) अधिष्ठाता (यत्) (अन्नेन) पृथिव्यादिना (अतिरोहति) अत्यन्तं वर्द्धते ॥ २॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यद्भूतं यच्च भाव्यमुतापि यदन्नेनाऽतिरोहति तदिदं सर्वममृतत्वस्येशानः पुरुष एव रचयति ॥ २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! येनेश्वरेण यदा यदा सृष्टिरभूत्तदा तदा निर्मिता इदानीं धरति पुनर्विनाश्य रचयिष्यति यदाधारेण सर्वं वर्त्तते वर्द्धते च तमेव परेशं परमात्मानमुपासीध्वं नाऽस्मादितरम् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्) जो (भूतम्) उत्पन्न हुआ (च) और (यत्) जो (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला (उत) और (यत्) जो (अन्नेन) पृथिवी आदि के सम्बन्ध से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस (इदम्) इस प्रत्यक्ष परोक्ष रूप (सर्वम्) समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्ष सुख वा कारण का (ईशानः) अधिष्ठाता (पुरुषः) सत्य गुण कर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा (एव) ही रचता है ॥ २ ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर ने जब २ सृष्टि हुई तब २ रची इस समय धारण करता फिर विनाश करके रचेगा। जिस के आधार से सब वर्त्तमान है और बढ़ता है उसी सब के स्वामी परमात्मा की उपासना करो इस से भिन्न की नहीं ॥ २ ॥

एतावानित्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ꣳश्च॒ पूरु॑षः । पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रिपाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥ ३ ॥

एतावा॑न् । अस्य॒ । म॒हि॒मा । अत॑: । ज्याया॑न् । च॒ । पूरु॑षः । पुरु॑षुऽइति॒ पुरु॑षः । पाद॑: । अ॒स्य॒ । वि॒श्वा॑ । भू॒तानि॑ । त्रि॒पादिति॑ त्रि॒ऽपात् । अ॒स्य॒ । अ॒मृत॑म् । दि॒वि ॥ ३ ॥

पदार्थः—(एतावान्) दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपम् (अस्य) जगदीश्वरस्य (महिमा) माहात्म्यम् (अतः) अस्मात् (ज्यायान्) अतिशयेन प्रशस्तो महान् (च) (पूरुषः) परिपूर्णः (पादः) एकोंऽशः (अस्य) (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यादीनि (त्रिपात्) त्रयः पादा यस्मिन् (अस्य) जगत्स्रष्टुः (अमृतम्) नाशरहितम् (दिवि) द्योतनात्मके स्वस्वरूपे ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! अस्य परमेश्वरस्यैतावान्महिमाऽतोऽयं पूरुषो ज्यायानस्य च विश्वा भूतान्येकः पादोऽस्य त्रिपादमृतं दिवि वर्त्तते ॥ ३ ॥

भावार्थः—इदं सर्वं सूर्यचन्द्रादिलोकलोकान्तरं चराचरं यावज्जगदस्ति तच्चित्रविचित्ररचनानुमानेनेश्वरस्य महत्त्वं सम्पाद्योत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपेण कालत्रये ह्रासवृद्ध्यादिनाऽपि परमेश्वरस्य चतुर्थांशे तिष्ठति नैवास्य तुरीयांशस्याप्यवधिं प्राप्नोति । अस्य सामर्थ्यस्यांशत्रयं स्वे ऽविनाशिनि मोक्षस्वरूपे सदैव वर्त्तते नानेन कथनेन तस्याऽनन्तत्वं विहन्यते किन्तु जगदपेक्षया तस्य महत्त्वं जगतोन्यूनत्वञ्च ज्ञाप्यते ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (अस्य) इस जगदीश्वर का (एतावान्) यह दृश्य अदृश्य ब्रह्माण्ड (महिमा) महत्त्व सूचक है (अतः) इस ब्रह्माण्ड से यह (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा (ज्यायान्) अतिप्रशंसित और बड़ा है (च)

और (अस्य) इस ईश्वर के (विश्वा) सब (भूतानि) पृथिव्यादि चराचर जगत् एक (पादः) अंश है और (अस्य) इस जगत् स्रष्टा का (त्रिपाद्) तीन अंश (अमृतम्) नाशरहित महिमा (दिवि) द्योतनात्मक अपने स्वरूप में है॥ ३॥

भावार्थः-यह सब सूर्य्य चन्द्रादि लोकलोकान्तर चराचर जितना जगत् है वह सब चित्र विचित्र रचना के अनुमान से परमेश्वर के महत्व को सिद्ध कर उत्पत्ति स्थिति और प्रलय रूप से तीनों काल में घटने बढ़ने से भी परमेश्वर के एक चतुर्थांश में ही रहता किन्तु इस ईश्वर के चौथे अंश की भी अवधि को नहीं पाता। और इस ईश्वर के सामर्थ्य के तीन अंश अपने अविनाशि मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं। इस कथन से उस ईश्वर का अनन्त पन नहीं बिगड़ता किन्तु जगत् की अपेक्षा उस का महत्व और जगत् का न्यूनत्व जाना जाता है॥ ३॥

त्रिपादित्यस्य नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता।

अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥ ४॥

त्रिपादिति त्रिऽपात्। ऊर्ध्वः। उत्। ऐत्। पुरुषः। पादः। अस्य। इह। अभवत्। पुनरिति पुनः। ततः। विष्वङ्। वि। अक्रामत्। साशनानशने इति साशनानशने। अभि॥ ४॥

पदार्थः-(त्रिपात्) त्रयः पादा अंशा यस्य सः (ऊर्ध्वः) सर्वेभ्य उत्कृष्टः संसारात् पृथक् मुक्तिरूपः (उत्) (ऐत्) उदेति

(पुरुषः) पालकः (पादः) एको भागः (अस्य) (इह) जगति (अभवत्) भवति (पुनः) पुनः पुनः (ततः) ततोऽनन्तरम् (विष्वङ्) यो विषु सर्वत्राञ्चति प्राप्नोति (वि) विशेषेण (अक्रामत्) व्याप्नोति (साशनानशने) अशनेन भोजनेन सह वर्त्तमानं साशनं न विद्यतेऽशनं यस्य तदशनं साशनञ्चानशनञ्च ते प्राण्यप्राणिनौ (अभि) अभिलक्ष्य ॥ ४ ॥

अन्वयः—पूर्वोक्तस्त्रिपात्पुरुष ऊर्ध्व उदैत् । अस्य पाद इह पुनरभवत् । ततः साशनानशने अभि विष्वङ् सन् व्यक्रामत् ॥ ४ ॥

भावार्थः—अयं परमेश्वरः कार्य्यजगतः पृथगंशत्रयेण प्रकाशितः सन् एकांशस्वसामर्थ्येन सर्वं जगत्पुनः पुनरुत्पादयति पश्चात् तस्मिन् चराऽचरे जगति व्याप्य तिष्ठति ॥ ४ ॥

पदार्थः—पूर्वोक्त (त्रिपात्) तीन अंशों वाला (पुरुषः) पालक परमेश्वर (ऊर्ध्वः) सब से उत्तम मुक्तिस्वरूप संसार से पृथक् (उत्, ऐत्,) उदय को प्राप्त होता है (अस्य) इस पुरुष का (पादः) एक भाग (इह) इस जगत् में (पुनः) वार २ उत्पत्ति प्रलय के चक्र से (अभवत्) होता है (ततः) इस के अनन्तर (साशनानशने) खाने वाले चेतन और न खाने वाले जड इन दोनों के (अभि) प्रति (विष्वङ्) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (वि, अक्रामत्) विशेष कर व्याप्त होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—यह पूर्वोक्त परमेश्वर कार्य जगत् से पृथक् तीन अंश से प्रकाशित हुआ एक अंश अपने सामर्थ्य से सब जगत् को वार २ उत्पन्न करता है पीछे उस चराचर जगत् में व्याप्त हो कर स्थित है ॥ ४ ॥

ततो विराडित्यस्य नारायण ऋषिः । स्रष्टा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः । स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥

ततः॑ । वि॒राडिति॑ वि॒ऽराट् । अ॒जा॒य॒त॒ । वि॒राज॒ऽ इति॑ वि॒ऽराजः॑ । अधि॑ । पूरु॑षः । पुरु॑ष॒ऽ इति॒ पुरु॑षः । सः । जा॒तः । अति॑ । अ॒रि॒च्य॒त॒ । प॒श्चात् । भूमि॑म् । अथो॒ऽ इत्यथो॑ । पु॒रः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(ततः) तस्मात्पूर्णादादिपुरुषात् (विराट्) विविधैः पदार्थैं राजते प्रकाशते स विराट् ब्रह्माण्डरूपः (अजायत) जायते (विराजः) (अधि) उपरि अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्णः परमात्मा (सः) (जातः) प्रादुर्भूतः (अति) (अरिच्यत) अतिरिक्तो भवति (पश्चात्) (भूमिम्) (अथो) (पुरः) पुरस्ताद्वर्त्तमानः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुष अथो स पुरो जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिं जनयति तं विजानीत ॥ ५ ॥

भावार्थः—परमेश्वरादेव सर्वं समष्टिरूपं जगज्जायते स च तस्मात्पृथग्भूतो व्याप्तोऽपि तत्कल्मषालिप्तोऽस्य सर्वस्याधिष्ठाता भवति । एवं सामान्येन जगन्निर्माणमुक्त्वा विशेषतया भूम्यादिनिर्माणं क्रमेणाच्यते ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (ततः) उस सनातन पूर्ण परमात्मा से (विराट्) विविध प्रकार के पदार्थों से प्रकाशमान विराट् ब्रह्माण्डरूप संसार (अजायत) उत्पन्न होता (विराजः) विराट् संसार के (अधि) ऊपर अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है (अथो) इस के अनन्तर (सः) वह पुरुष (पुरः) पहिले से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी को उत्पन्न करता है उस को जानो ॥ ५ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ही से सब समष्टिरूप जगत् उत्पन्न होता है वह उस जगत् से पृथक् उस में व्याप्त भी हुआ उस के दोषों से लिप्त न होके इस सब का अधिष्ठाता है। इस प्रकार सामान्य कर जगत् की रचना कह के विशेष कर भूमि आदि की रचना को क्रम से कहते हैं ॥ ५ ॥

तस्मादित्यस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवता ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह
फिर उसी वि० ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुत इति सर्वऽहुतः । सम्भृतमिति सम्ऽभृतम् । पृषदाज्यमिति पृषत्ऽआज्यम् । पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् । आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥ ६ ॥

पदार्थः—(तस्मात्) पूर्वोक्तात् (यज्ञात्) पूजनीयात् पुरुषात् (सर्वहुतः) सर्वैर्हूयत आदीयते तस्मात् (सम्भृतम्) सम्यक् सिद्धं जातम् (पृषदाज्यम्) दध्याज्यादि भोज्यंवस्तु (पशून्) (तान्) (चक्रे) करोति (वायव्यान्) वायुवद्गुणान्

(आरण्याः) अरण्ये भवाः सिंहादयः (ग्राम्याः) ग्रामे भवा गवादयः (च) (ये) ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तस्मात्सर्वहुतो यज्ञात्सर्वं पृषदाज्यं सम्भृतं य आरण्या ग्राम्याश्च तान् वायव्यान् पशून् यश्चक्रे तं विजानीत ॥ ६ ॥

भावार्थः—येन सर्वैर्ग्रहीतव्येन पूज्येन जगदीश्वरेण सर्वजगद्धिताय दध्यादिभोग्यं वस्तु ग्रामस्था वनस्थाश्च पशवो निर्मितास्तं सर्वे उपासीरन्॥६॥

पदार्थः- हे मनुष्यो! (तस्मात्) उस पूर्वोक्त (सर्वहुतः) जो सब से ग्रहण किया जाता उस (यज्ञात्) पूजनीय पुरुष परमात्मा से सब (पृषदाज्यम्) दध्यादि भोगने योग्य वस्तु (सम्भृतम्) सम्यक् सिद्ध उत्पन्न हुआ (ये) जो(अरण्याः) वन के सिंह आदि (च) और (ग्राम्याः) ग्राम में हुए गौ आदि हैं (तान) उन (वायव्यान्) वायु के तुल्य गुणों वाले (पशून्) पशुओं को जो (चक्रे) उत्पन्न करता है उस को तुम लोग जानो ॥ ६॥

भावार्थः-- जिस सब को ग्रहण करने योग्य, पूजनीय परमेश्वर ने सब जगत् के हित के लिये दही आदि भोगने योग्य पदार्थों और ग्राम के तथा वन के पशु बनाये हैं उस की सब लोग उपासना करो ॥ ६ ॥

तस्मादित्यस्य नारायण ऋषिः। स्रष्टेश्वरो देवता।
अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥७॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुत इति सर्वऽहुतः । ऋचः । सामानि । जज्ञिरे । छन्दांᳫसि । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् । अजायत ॥ ७ ॥

पदार्थः—(तस्मात्) पूर्णात् (यज्ञात्) पूजनीयतमात् (सर्वहुतः) सर्वे जुह्वति सर्वं समर्पयन्ति वा यस्मै (ऋचः) ऋग्वेदः (सामानि) सामवेदः (जज्ञिरे) जायन्ते (छन्दांसि) अथर्ववेदः (जज्ञिरे) (तस्मात्) परमात्मनः (यजुः) यजुर्वेदः (तस्मात्) (अजायत) जायते ॥ ७ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या ! युष्माभिस्तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः परमात्मन ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्माच्छन्दांᳫसि जज्ञिरे तस्माद्यजुरजायत स विज्ञातव्यः ॥ ७ ॥

भावार्थः— हे मनुष्या ! भवन्तो यस्मात्सर्वे वेदा जायन्ते तं परमात्मानमुपासीरन् वेदांश्चाधीयीरन्तदाज्ञानुकूलं च वर्त्तित्वा सुखिनो भवन्तु ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को चाहिये कि (तस्मात्) उस पूर्ण (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय (सर्वहुतः) जिस के अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होते (तस्मात्) उस परमात्मा से (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होता और (तस्मात्) उस पुरुष से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न होता है उस को जानो ॥ ७ ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो ! आप लोग जिस से सब वेद उत्पन्न हुए हैं उस परमात्मा की उपासना करो वेदों को पढ़ो और उस की आज्ञा के अनुकूल वर्त्त के सुखी होओ ॥ ७ ॥

तस्मादित्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

तस्मादश्वां अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥८॥

तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त । ये । के । च । उभयादतः । उभयादत इत्युभयऽदतः । गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(तस्मात्) परमेश्वरात् (अश्वाः) तुरङ्गाः (अजायन्त) उत्पन्नाः (ये) (के) (च) गर्दभादयः (उभयादतः) उभयोरधऊर्ध्वभागयोर्दन्ता येषान्ते (गावः) धेनवः । गाव इत्युपलक्षणमेकदताम् (ह) किल (जज्ञिरे) उत्पन्नाः (तस्मात्) (तस्मात्) (जाताः) उत्पन्नाः (अजावयः) अजाश्चावयश्च ते ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! युष्माकमश्वा ये के चोभयादतः सन्ति ते तस्मादजायन्त । तस्माद्गावो ह जज्ञिरे तस्मादजावयो जाता इति वेद्यम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यूयं गवाश्वादयो ग्राम्याः सर्वे पशवो यस्मात्समालनात्पूर्णात्पुरुषादेवोत्पन्नास्तस्याज्ञोल्लङ्घनं कदापि मा कुरुत ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को (अश्वाः) घोड़े तथा (ये) जो (के) कोई (च) गदहा आदि (उभयादतः) दोनों ओर ऊपर नीचे दांतों वाले

हैं वे (तस्मात्) उस परमेश्वर से (अजायन्त) उत्पन्न हुए (तस्मात्) उसी से (गावः) गौयें (यह एक ओर दांत वालों का उपलक्षण है इस से अन्य भी एक ओर दांत वाले लिये जाते हैं) (ह) निश्चय कर (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए और (तस्मात्) उस से (अजावयः) बकरी भेड़ (जाताः) उत्पन्न हुए हैं इस प्रकार जानना चाहिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग गौ घोड़े आदि ग्राम के सब पशु जिस सनातन-पूर्ण पुरुष परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं उस की आज्ञा का उलङ्घन कभी मत करो ॥ ८ ॥

तं यज्ञमित्यस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवता ।
निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेवविषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

**तं युज्ञं बुर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमंग्रतः । ते-
नं देवा अंयजन्त साध्या ऋषंयश्च ये ॥ ९ ॥**

तम् । युज्ञम् । बुर्हिषि । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रतः । तेनं । देवाः । अयजन्त । साध्याः । ऋषयः । च । ये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(तम्) उक्तम् (यज्ञम्) संपूजनीयम् (बर्हिषि) मानसे ज्ञानयज्ञे (प्र) प्रकर्षेण (औक्षन्) सिञ्चन्ति (पुरुषम्) पूर्णम् (जातम्) प्रादुर्भूतञ्जगत्कर्त्तारम् (अग्रतः) सृष्टेः प्राक् (तेन) तदुपदिष्टेन वेदेन (देवाः) विद्वांसः (अयजन्त) पूजयन्ति (साध्याः) साधनं योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः (ऋषयः) मन्त्रार्थविदः (च) (ये) ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! ये देवाः साध्या ऋषयश्च यमग्रतो जातं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन् त एव तेनायजन्त च तं यूयं विजानीत ॥ ९ ॥

भावार्थः-विद्वद्भिर्मनुष्यैः सृष्टिकर्त्तेश्वरो योगाभ्यासादिना सदा हृदयान्तरिक्षे ध्यातव्यः पूजनीयश्च ॥ ९ ॥

पदार्थः-हे मनुष्यो! (ये) जो (देवाः) विद्वान् (च) और (साध्याः) योगाभ्यास आदि साधन करते हुए (ऋषयः) मन्त्रार्थ जानने वाले ज्ञानी लोग जिस (अग्रतः) सृष्टि से पूर्व (जातम्) प्रसिद्ध हुए (यज्ञम्) सम्यक् पूजने योग्य (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (बर्हिषि) मानस ज्ञान यज्ञ में (प्र, औक्षन्) सींचते अर्थात् धारण करते हैं वेही (तेन) उस के उपदेश किए हुए वेद से और (अयजन्त) उस का पूजन करते हैं (तम्) उस को तुम लोग भी जानो ॥ ९ ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का योगाभ्यासादि से सदा हृदय रूप अवकाश में ध्यान और पूजन किया करें ॥ ९ ॥

यत्पुरुषमित्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् । मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किम्बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते॥१०॥

यत् । पुरु॑षम् । वि । अद॑धुः । क॒ति॒धा । वि । अ॒क॒ल्प॒य॒न् । मुखम् । किम् । अ॒स्य॒ । आ॒सी॒त् । किम् । बा॒हऽइति॑ बा॒हू । किम् । उ॒रूऽइत्यू॒रू । पादौ॑ । उ॒च्ये॒ते॒ऽ इत्यु॑च्येते ॥ १० ॥

पदार्थः-(यत्) यम् (पुरुषम्) पूर्णम् (वि) विविधप्रकारेण (अदधुः) धरन्ति (कतिधा) कतिप्रकारैः (वि) विशेषेण (अकल्पयन्) कथयन्ति (मुखम्) मुखस्थानीयं श्रेष्ठम् (किम्) (अस्य) पुरुषस्य(आसीत्) अस्ति (किम्) (बाहू) भुजबलभृत् (किम्) (ऊरू) जानुन ऊर्द्ध्वावयवस्थानीयम्(पादौ)नीचस्थानीयम् (उच्येते) ॥ १० ॥

अन्वयः-हेविद्वांसो! भवन्तो यद्यं पुरुषं व्यदधुस्तं कतिधा व्यकल्पयन्नस्य सृष्टौ मुखं किमासीद्बाहू किमुच्येते । ऊरू पादौ च किमुच्येते ॥ १० ॥

भावार्थः-हे विद्वांसोऽत्र संसारेऽसंख्यं सामर्थ्यमीश्वरस्यास्तितत्र समुदाये मुखमुत्तमाङ्गं बाह्वादीनि चाङ्गानि कानि सन्ति इति ब्रूत ॥ १० ॥

पदार्थः-हे विद्वान् लोगो ! आप (यत्) जिस (पुरुषम्) पूर्ण परमेश्वर को (वि, अदधुः) विविधप्रकार से धारण करते हो उस को (कतिधा) कितने प्रकार से (वि, अकल्पयन्) विशेष कर कहते हैं और (अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (मुखम्) मुख के समान श्रेष्ठ (किम्) कौन (आसीत्) है (बाहू भुजबल का धारण करने वाला (किम्) कौन (ऊरू) घोटूं के कार्य्य करने हारे और(पादौ) पांव के समान नीच (किम्) कौन (उच्येते) कहे जाते हैं ॥१०॥

भावार्थः—हे विद्वानों!इस संसार में असंख्य सामर्थ्य ईश्वर का हैउस समुदाय में उत्तम अंग मुख और बाहू आदि अंग कौन हैं ? यह कहिये ॥ १० ॥

ब्राह्मण इत्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥११॥

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहूऽइति बाहू । राजन्यः । कृतः । ऊरूऽइत्यूरू । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पद्भ्यामिति पत्ऽभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥११॥

पदार्थः--(ब्राह्मणः) वेदेश्वरविदनयोः सेवक उपासको वा (अस्य) ईश्वरस्य (मुखम्) मुखमिवोत्तमः (आसीत्) अस्ति (बाहू) भुजाविव बलवीर्य्ययुक्तः (राजन्यः) राजपुत्रः (कृतः) निष्पन्नः (ऊरू) ऊरूइव वेगादिकर्मकारी (तत्) (अस्य) (यत्) (वैश्यः) यो यत्र तत्र विशति प्रविशति तदपत्यम् (पद्भ्याम्) सेवानिरभिमानाभ्याम् (शूद्रः) मूर्खत्वादि गुणविशिष्टो मनुष्यः (अजायत) जायते ॥ ११ ॥

अन्वयः--हे जिज्ञासवो! यूयमस्य सृष्टौ ब्राह्मणो मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतो यदूरू तदस्य वैश्य आसीत्पद्भ्यां शूद्रोजायतेत्युत्तराणि यथाक्रमं विजानीत ॥ ११ ॥

भावार्थः - ये विद्याशमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु मुखमिवोत्तमास्ते ब्राह्मणाः । येऽधिकवीर्य्या बाहुवत्कार्य्यसाधकास्ते क्षत्रियाः । ये

व्यवहारविद्याकुशलास्ते वैश्या ये च सेवायां साधवो विद्याहीनाः पादाविव मूर्खत्वादिनीचगुणयुक्तास्ते शूद्राः कार्य्या मन्तव्याश्च ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु लोगो ! तुम (अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (ब्राह्मणः) वेद ईश्वर का ज्ञाता इन का सेवक वा उपासक (मुखम्) मुख के तुल्य उत्तम ब्राह्मण (आसीत्) है (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रमयुक्त (राजन्यः) रजपूत (कृतः) किया (यत्) जो (ऊरू) जांघों के तुल्य वेगादि काम करने वाला (तत्) वह (अस्य) इस का (वैश्यः) सर्वत्र प्रवेश करने हारा वैश्य है (पद्भ्याम्) सेवा और अभिमान रहित होने से (शूद्रः) मूर्खपन आदि गुणों से युक्त शूद्र (अजायत) उत्पन्न हुआ ये उत्तर क्रम से जानो ॥ ११ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्या और शमदमादि उत्तम गुणों में मुख के तुल्य उत्तम हों वे ब्राह्मण, जो अधिक पराक्रम वाले भुजा के तुल्य कार्य्यों को सिद्ध करने हारे हों वे क्षत्रिय, जो व्यवहार विद्या में प्रवीण हों वे वैश्य और जो सेवा में प्रवीण विद्याहीन पगों के समान मूर्खपन आदि नीच गुणयुक्त हैं वे शूद्र करने और मानने चाहियें ॥ ११ ॥

चन्द्रमाइत्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत । श्रोत्रात् । वायुः । च । प्राणः । च । मुखात् । अग्निः । अजायत ॥ १२ ॥

पदार्थः—(चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (मनसः) मननशीलात्सामर्थ्यात् (जातः) (चक्षोः) ज्योतिःस्वरूपात् (सूर्यः) सूर्यलोकः (अजायत) जातः (श्रोत्राद्)श्रोत्रावकाशरूपसामर्थ्यात् (वायुः) (च) आकाशप्रदेशाः (प्राणः) जीवननिमित्तः (च) (मुखात्) मुख्यज्योतिर्मयाद्भक्षणरूपात् (अग्निः) पावकः (अजायत) ॥१२॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! अस्य ब्रह्मणः पुरुषस्य मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायतेति बुध्यध्वम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—यदिदं सर्वं जगत्कारणादीश्वरेणोत्पादितं वर्त्तते तत्र चन्द्रलोको मनःस्वरूपः सूर्य्यश्चक्षुस्थानी वायुः प्राणश्च श्रोत्रवन्मुखमिवाग्निलोमवदोषधिर्वनस्पतयो नाडीवन्नद्योऽस्थिवत्पर्वतादिर्वर्त्तत इति वेदितव्यम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! इस पूर्ण ब्रह्म के (मनसः) ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक (जातः) उत्पन्न हुआ (चक्षोः) ज्योतिः स्वरूप सामर्थ्य से (सूर्य्यः) सूर्य्यमण्डल (अजायत) उत्पन्न हुआ (श्रोत्रात्)श्रोत्र नाम अवकाश रूप सामर्थ्य से (वायुः) वायु (च) तथा आकाश प्रदेश (च) और (प्राणः) जीवन के निमित्त दश प्राण और (मुखात्) मुख्य ज्योतिर्मय भक्षण स्वरूप सामर्थ्य से (अग्निः) अग्नि (अजायत) उत्पन्न हुआ है ऐसा तुम को जानना चाहिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो यह सब जगत् कारण से ईश्वर ने उत्पन्न किया है उस में चन्द्रलोक मनरूप सूर्य्यलोक नेत्ररूप वायु और प्राण श्रोत्र के तुल्य मुख के तुल्य अग्नि ओषधि और वनस्पति रोमों के तुल्य नदी नाडियों के तुल्य और पर्वतादि हड्डी के तुल्य हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ १२ ॥

नाभ्या इत्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २ ॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्त्तत । पद्भ्यामिति पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(नाभ्याः) अवकाशमयान्मध्यवर्त्ति सामर्थ्यात् (आसीत्) अस्ति (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्त्याकाशम् (शीर्ष्णः) शिरइवोत्तमसामर्थ्यात् (द्यौः) प्रकाशयुक्तलोकः (सम्) (अवर्त्तत) (पद्भ्याम्) पृथिवीकारणरूपसामर्थ्यात् (भूमिः) (दिशः) पूर्वादयः (श्रोत्रात्) अवकाशमयात् (तथा) तेनैव प्रकारेण (लोकान्) (अकल्पयन्) कथयन्ति ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथाऽस्य नाभ्या अन्तरिक्षमासीच्छीर्ष्णो द्यौः पद्भ्यां भूमिः समवर्त्तत श्रोत्राद्दिशोऽकल्पयँस्तथाऽन्याल्लोकानुत्पन्नान् विजानीत ॥ १३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यद्यदत्र सृष्टौ कार्यभूतं वस्तु वर्त्तते तत्तत्सर्वं विराडाख्यस्य कार्यकारणस्याऽवयवरूपं वर्त्तत इति वेद्यम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे इस पुरुष परमेश्वरके (नाभ्याः) अवकाशरूप मध्यम सामर्थ्य से (अन्तरिक्षम्) लोकों के बीच का आकाश (आसीत्) हुआ (शीर्ष्णः) शिर के तुल्य उत्तम सामर्थ्य से (द्यौः) प्रकाशयुक्त लोक (पद्भ्याम्) पृथिवी के कारणरूप सामर्थ्य से (भूमिः) पृथिवी (सम्, अवर्त्तत) सम्यक् वर्त्तमान हुई और (श्रोत्रात्) अवकाशरूप सामर्थ्य से (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं की (अकल्पयन्) कल्पना करते हैं (तथा) वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से अन्य (लोकान्) लोकों को उत्पन्न हुए जानो ॥ १३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो २ इस सृष्टि में कार्यरूप वस्तु है वह २ सब विराट्रूप कार्यकारण का अवयवरूप है ऐसा जानना चाहिये ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेणेत्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ॥
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत । व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥१४॥

यत् । पुरु॑षेण । ह॒विषा॑ । दे॒वाः । य॒ज्ञम् । अत॑न्वत । व॒स॒न्तः । अ॒स्य॒ । आ॒सी॒त् । आज्य॑म् । ग्री॒ष्मः । इ॒ध्मः । श॒रत् । ह॒विः ॥ १४ ॥

पदार्थः—(यत्) यदा (पुरुषेण) पूर्णेन परमात्मना (हविषा) होतुमादातुमर्हेण (देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) मानसं ज्ञानमयम् (अतन्वत) तन्वते विस्तृणन्ति (वसन्तः) पूर्वाह्णः (अस्य) यज्ञस्य (आसीत्) अस्ति (आज्यम्) (ग्रीष्मः) मध्याह्नः (इध्मः) प्रदीपकः (शरत्) अर्द्धरात्रः (हविः) होतव्यं द्रव्यम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यद्धविषा पुरुषेण सह देवा यज्ञमतन्वत तदाऽस्य वसन्त आज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविरासीदिति यूयमपि विजानीत ॥ १४ ॥

भावार्थः—यदा बाह्यसामग्र्यभावे विद्वांसो सृष्टिकर्त्तुरीश्वरस्योपासनाख्यं मानसं ज्ञानयज्ञं विस्तारयेयुस्तदा पूर्वाह्णादिकाल एव साधनरूपेण कल्पनीयः ॥ १४ ॥

पदार्थः- हे मनुष्यो ! (यत्) जब (हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञम्) मानसज्ञान यज्ञ को (अतन्वत) विस्तृत करते हैं । (अस्य) इस यज्ञ के (वसन्तः) पूर्वाह्ण काल ही (आज्यम्) घी (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल (इध्मः) इन्धन प्रकाशक और (शरत्) आधीरात (हविः) होमने योग्य पदार्थ (आसीत्) है ऐसा जानो ॥ १४ ॥

भावार्थः–जब बाह्य सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की उपासनारूप मानस ज्ञान यज्ञ को विस्तृत करें तब पूर्वाह्ण आदि काल ही साधनरूप से कल्पना करने चाहियें ॥ १४ ॥

सप्तास्येत्यस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

स॒प्तास्या॑सन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः ।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिधयऽइति परिऽधयः । त्रिः । सप्त । समिधऽइति समऽइधः । कृताः । देवाः । यत् । यज्ञम् । तन्वानाः । अबध्नन् । पुरुषम् । पशुम् ॥ १५ ॥

पदार्थः-(सप्त) गायत्र्यादीनि छन्दांसि (अस्य) यज्ञस्य) (आसन्) सन्ति (परिधयः) परितः सर्वतः सूत्रवद्धीयन्ते ये ते (त्रिः) त्रिवारम् (सप्त) एकविंशतिः प्रकृतिः महत्तत्त्वं, अहंकारः, पञ्च सूक्ष्मभूतानि, पञ्च स्थूलानि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाश्चेत्येकविंशतिः (समिधः) सामग्रीभूताः (कृताः) निष्पादिताः (देवाः) विद्वांसः (यत्) यम् (यज्ञम्) मानसं ज्ञानमयम् (तन्वानाः) विस्तृणवन्तः (अबध्नन्) बध्नन्ति (पुरुषम्) परमात्मानम् (पशुम्) द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

अन्वयः-हे मनुष्याः ! यद्यं यज्ञं तन्वाना देवाः पशुं पुरुषं हृद्यबध्नन्तस्याऽस्य सप्त परिधय आसंस्त्रिः सप्त समिधः कृतास्तं यथावत् विजानीत ॥१५ ॥

भावार्थः-हे मनुष्याः ! यूयमिममनेकविधकल्पितपरिध्यादिसामग्रीयुक्तं मानसं यज्ञं कृत्वा पूर्णमीश्वरं विज्ञाय सर्वाणि प्रयोजनानि साध्नुत ॥ १५ ॥

पदार्थः-हे मनुष्यो !(यत्) जिस (यज्ञम्) मानसज्ञान) यज्ञ को (तन्वानाः) विस्तृत करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (पशुम्) जानने योग्य (पुरुषम्) परमात्मा को हृदय में (अबध्नन्) बांधते हैं (अस्य) इस यज्ञ के (सप्त) सात गायत्री आदि छन्द (परिधयः) चारों ओर से सूत के सात लपेटों के समान (आसन्) हैं (त्रि, सप्त) इक्कीश अर्थात् प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार,

पांच सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय और सत्व, रजस्, तमस्, तीन गुण ये (समिधः) सामग्री रूप (कृताः) किये उस यज्ञ को। यथावत् जानो ॥१५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग इस अनेक प्रकार से कल्पित परिधि आदि सामग्री से युक्त मानस यज्ञ को कर उस से पूर्ण ईश्वर को जान के सब प्रयोजनों को सिद्ध करो ॥ १५ ॥

यज्ञेनेत्यस्य नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह। नाकम्। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(यज्ञेन) उक्तेन ज्ञानेन (यज्ञम्) पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तेजस्विनम् (अयजन्त) पूजयन्ति (देवाः) विद्वांसः (तानि) ईश्वरपूजनादीनि (धर्माणि) धारणात्मकानि (प्रथमानि) अनादिभूतानि मुख्यानि (आसन्) सन्ति (ते) (ह) एव (नाकम्) अविद्यमानदुःखं मुक्तिसुखम् (महिमानः) महत्त्वयुक्ताः

(सचन्त) समवयन्ति प्राप्नुवन्ति (यत्र) यस्मिन् सुखे (पूर्वे) इतः पूर्वसम्भवाः (साध्याः) कृतसाधनाः (सन्ति) (देवाः) देदीप्यमाना विद्वांसः ॥ १६ ॥

निरुक्तकारइमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे-यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्निनाग्निमयजन्त देवा अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाद्द्युस्थाने देवगणा इति नैरुक्ताः। नि०। अ० १२। खं० ४१॥

अन्वयः—हे मनुष्या! ये देवा यज्ञेन यज्ञमयजन्त तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते महिमानः सन्तो यत्र पूर्वे साध्या देवाः सन्ति तन्नाकं ह सचन्त। तद्यूयमप्याप्नुत ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्योगाभ्यासादिना सदा परमेश्वर उपासनीयः। अनेनानादिकालीनधर्मेण मुक्तिसुखं प्राप्य पूर्वं विद्वद्वदानन्दितव्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) पूर्वोक्त ज्ञान यज्ञ से (यज्ञम्) पूजनीय सर्व रक्षक अग्निवत् तेजस्वि ईश्वर की (अयजन्त) पूजा करते हैं (तानि) वे ईश्वर की पूजा आदि (धर्माणि) धारणारूप धर्म (प्रथमानि) अनादि रूप से मुख्य (आसन्) हैं (ते) वे विद्वान् (महिमानः) महत्व से युक्त हुए (यत्र) जिस सुख में (पूर्वे) इस समय से पूर्व हुए (साध्याः) साधनों को किये हुए (देवाः) प्रकाशमान विद्वान् (सन्ति) हैं उस (नाकम्) सब दुःख रहित मुक्ति सुख को (ह) ही (सचन्त) प्राप्त होते हैं उस को तुम लोग भी प्राप्त होओ ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि योगाभ्यास आदि से सदा ईश्वर की उपासना करें इस अनादि काल से प्रवृत्त धर्म से मुक्ति सुख को पाके पहिले मुक्त हुए विद्वानों के समान आनन्द भोगें ॥ १६ ॥

अद्भ्य इत्यस्योत्तरनारायण ऋषिः । आदित्यो देवता ।
भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

अद्भ्य इत्यत्ऽभ्यः । सम्भृत इति सम्ऽभृतः । पृथिव्यै । रसात् । च । विश्वकर्मण इति विश्वऽकर्मणः । सम् । अवर्त्तत । अग्रे । तस्य । त्वष्टा । विदधदिति विऽदधत् । रूपम् । एति । तत् । मर्त्यस्य । देवत्वमिति देवऽत्वम् । आजानमित्याऽजानम् । अग्रे ॥१७॥

पदार्थः— (अद्भ्यः) जलेभ्यः (सम्भृतः) सम्यक् पुष्टः (पृथिव्यै) पृथिव्याः । अत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी (रसात्) जिह्वाविषयात् (च) (विश्वकर्मणः) विश्वानि सर्वाणि सत्यानि कर्माणि यस्याश्रयेण तस्मात्सूर्यात् (सम्) (अवर्त्तत) वर्त्तते (अग्रे) प्राक् (तस्य) (त्वष्टा) तनूकर्त्ता (विदधत्) विधानं कुर्वन् (रूपम्) स्वरूपम् (एति) (तत्) (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (देवत्वम्) विद्वत्त्वम् (आजानम्) समन्ताज्जनानां मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म (अग्रे) आदितः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! योऽद्भ्यः पृथिव्यै विश्वकर्मणश्च सम्भृतस्तस्माद्रसादग्रइदं सर्वं समवर्त्तत तस्याऽस्य जगतो तद्रूपं त्वष्टा विदधदग्रे मर्त्यस्याजानं देवत्वमेति ॥ १७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! योऽखिलकार्यकर्त्ता परमात्मा कारणात्कार्याणि निर्मिमीते सकलस्य जगतः शरीराणां रूपाणि विदधाति तज्ज्ञानं तदाज्ञापालनमेव देवत्वमस्तीति जानीत ॥ १७ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो ! जो (अद्भ्यः) जलों (पृथिव्यै) पृथिवी (च) और (विश्वकर्मणः) सब कर्म जिस के आश्रय से होते उस सूर्य से (सम्भृतः) सम्यक् पुष्ट हुआ उस (रसात्) रस से (अग्रे) पहिले यह सब जगत् (सम्, अवर्त्तत) वर्त्तमान होता है (तस्य) उस इस जगत् के (तत्) उस (रूपम्) स्वरूप को (त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाला ईश्वर (विदधत्) विधान करता हुआ (अग्रे) आदि में (मर्त्यस्य) मनुष्य के (आजानम्) अच्छे प्रकार कर्त्तव्य कर्म और (देवत्वम्) विद्वत्ता को (एति) प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो ! जो सम्पूर्ण कार्य करनेहारा परमेश्वर कारण से कार्य बनाता है सब जगत् के शरीरों के रूपों को बनाता है उसका ज्ञान और उसकी आज्ञा का पालन ही देवत्व है ऐसा जानो ॥ १७ ॥

वेदाहमित्यस्योत्तर नारायण ऋषिः । आदित्यो देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ विद्वान्जिज्ञासवे कथमुपदिशेदित्याह ॥

अब विद्वान् जिज्ञासु के लिये कैसा उपदेश करे इस वि० ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

वेद । अहम् । एतम् । पुरुषम् । महान्तम् । आदित्यवर्णमित्यादित्यऽवर्णम् । तमसः । परस्तात् । तम् । एव । विदित्वा । अति । मृत्युम् । एति । न । अन्यः । पन्थाः । विद्यते । अयनाय ॥ १८ ॥

पदार्थः—(वेद) जानामि (अहम्) (एतम्) पूर्वोक्तं परमात्मानम् (पुरुषम्) स्वस्वरूपेण पूर्णम् (महान्तम्) महागुणविशिष्टम् (आदित्यवर्णम्) आदित्यस्य वर्णः स्वरूपमिव स्वरूपं यस्य तं स्वप्रकाशम् (तमसः) अज्ञानादन्धकाराद्वा (परस्तात्) परस्मिन् वर्त्तमानम् (तम्) (एव) (विदित्वा) विज्ञाय (अति) उल्लङ्घेन (मृत्युम्) दुःखप्रदं मरणम् (एति) गच्छति (न) (अन्यः) भिन्नः (पन्थाः) मार्गः (विद्यते) भवति (अयनाय) अभीष्टस्थानाय मोक्षाय ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासोऽहं यमेतं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्ताद्वर्त्तमानं पुरुषं वेद तमेव विदित्वा भवान्मृत्युमत्येति । अन्यः पन्था अयनाय न विद्यते ॥ १८ ॥

भावार्थः—यदि मनुष्या ऐहिकपारमार्थिके सुखे इच्छेयुस्तर्हि सर्वेभ्यो बृहत्तमं स्वप्रकाशानन्दस्वरूपमज्ञानलेशाद्दूरे वर्त्तमानं परमात्मानं ज्ञात्वैव मरणाद्यगाधदुःखसागरात्पृथग्भवितुं शक्नुवन्त्ययमेव सुखप्रदो मार्गोऽस्ति । अस्मादन्यः कश्चिदपि मनुष्याणां मुक्तिमार्गो न भवति ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु पुरुष ! (अहम्) मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त (महान्तम्) बड़े २ गुणों से युक्त (आदित्यवर्णम्) सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप (तमसः) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) पृथक् वर्त्तमान (पुरुषम्) स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (वेद) जानता हूं (तम्, एव) उसी को (विदित्वा) जान के आप (मृत्युम्) दुःखदायी मरण को (अति, एति) उल्लङ्घन कर जाते हो किन्तु (अन्यः) इस से भिन्न (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिये (न, विद्यते) नहीं विद्यमान है ॥ १८ ॥

भावार्थः—यदि मनुष्य इस लोक परलोक के सुखों की इच्छा करें तो सब से अति बड़े स्वयं प्रकाश और आनन्दस्वरूप अज्ञान के लेश से पृथक् वर्त्तमान परमात्मा को जान के ही मरणादि अथाह दुःखसागर से पृथक् हो सकते हैं यही सुखदायी मार्ग है इस से भिन्न कोई भी मनुष्यों की मुक्ति का मार्ग नहीं है ॥ १८ ॥

प्रजापतिरित्यस्योत्तरनारायण ऋषिः । आदित्यो देवता ।
भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरीश्वरः कीदृश इत्याह ॥
फिर ईश्वर कैसा है इस वि० ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । चरति । गर्भे । अन्तरित्यन्तः । अजायमानः । बहुधा । वि । जायते । तस्य । योनिम् । परि । पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् । ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(प्रजापतिः) प्रजापालको जगदीश्वरः (चरति) (गर्भे) गर्भस्थे जीवात्मनि (अन्तः) हृदि (अजायमानः) स्वस्वरूपेणानुत्पन्नः सन् (बहुधा) बहुप्रकारैः (वि) विशेषेण (जायते) प्रकटो भवति (तस्य) प्रजापतेः (योनिम्) स्वरूपम् (परि) सर्वतः (पश्यन्ति) प्रेक्षन्ते (धीराः) ध्यानवन्तः (तस्मिन्) जगदीश्वरे (ह) प्रसिद्धम् (तस्थुः) तिष्ठन्ति (भुवनानि) भवन्ति येषु तानि लोकजातानि (विश्वा) सर्वाणि ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! योऽजायमानः प्रजापतिर्गर्भेऽन्तश्चरति बहुधा विजायते तस्य यं योनिं धीराः परि पश्यन्ति तस्मिन् ह विश्वा भुवनानितस्थुः॥१९॥

भावार्थः—योऽयं सर्वरक्षक ईश्वरः स्वयमनुत्पन्नः सन् स्वसामर्थ्याज्जगदुत्पाद्य तत्रान्तःप्रविश्य सर्वत्र विचरति यमनेकप्रकारेण प्रसिद्धं विद्वांस एव जानन्ति तं जगदधिकरणं सर्वव्यापकं परमात्मानं विज्ञाय मनुष्यैरानन्दितव्यम् ॥ १९ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो! जो (अजायमानः) अपने स्वरूप से उत्पन्न नहीं होने वाला (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक जगदीश्वर (गर्भे) गर्भस्थ जीवात्मा और (अन्तः) सब के हृदय में (चरति) विचरता है और (बहुधा) बहुत प्रकारों से (वि, जायते) विशेष कर प्रकट होता (तस्य) उस प्रजापति के जिस (योनिम्) स्वरूप को (धीराः) ध्यानशील विद्वान् जन (परि,पश्यन्ति) सब ओर से देखते हैं (तस्मिन्) उस में (ह) प्रसिद्ध (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर (तस्थुः) स्थित हैं ॥ १९ ॥

भावार्थः—जो यह सर्व रक्षक ईश्वर आप उत्पन्न न होता हुआ अपने सामर्थ्य से जगत् को उत्पन्न कर और उस में प्रविष्ट हो के सर्वत्र विचरता है जिस अनेक प्रकार से

प्रसिद्ध ईश्वर को विद्वान् लोग ही जानते हैं उस जगत् के आधाररूप सर्वव्यापक परमात्मा को जान के मनुष्यों को आनन्द भोगना चाहिये ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य इत्यस्योत्तरनारायण ऋषिः । सूर्यो देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अथ सूर्यः कीदृश इत्याह ॥
अब सूर्य्य कैसा है इस वि० ॥

यो देवेभ्यं आतपंति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥

यः । देवेभ्यः । आतपतीत्यांऽतपंति । यः । देवानाम् । पुरोहितऽइति पुरःऽहितः । पूर्वः । यः । देवेभ्यः । जातः । नमः । रुचाय । ब्राह्मये ॥ २० ॥

पदार्थः-(यः) सूर्यः (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः (आतपति) समन्तात्तपति (यः) (देवानाम्) पृथिव्यादिलोकानाम् (पुरोहितः) पुरस्ताद्धिताय मध्ये धृतः (पूर्वः) (यः) (देवेभ्यः) पृथिव्यादिभ्यः (जातः) उत्पन्नः (नमः) अन्नम् (रुचाय) रुचिकरात् (ब्राह्मये) यो ब्रह्मणः परमेश्वरस्यापत्यमिव तस्मात । अत्रोभयत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी ॥२०॥

अन्वयः-हे मनुष्याः! यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितो यो देवेभ्यः पूर्वो जातस्तस्माद्रुचायब्राह्मये नमो जायते ॥ २० ॥

भावार्थः-हे मनुष्या येन जगदीश्वरेण सर्वेषां हितायान्नाद्युत्पादननिमित्तः सूर्यो निर्मितस्तमेव सततमुपासीध्वम् ॥ २० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो सूर्यलोक (देवेभ्यः) उत्तम गुणों वाले पृथिवी आदि के अर्थ (आतपति) अच्छे प्रकार तपता है (यः) जो (देवानाम्) पृथिवी आदि लोकों के (पुरोहितः) प्रथम से हितार्थ बीच में स्थित किया (यः) जो (देवेभ्यः) पृथिवी आदि से (पूर्वः) प्रथम (जातः) उत्पन्न हुआ उस (रुचाय) रुचि कराने वाले (ब्राह्मये) परमेश्वर के सन्तान के तुल्य सूर्य्य से (नमः) अन्न उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो! जिस जगदीश्वर ने सब के हित के लिये अन्न आदि की उत्पत्ति का निमित्त सूर्य्य को बनाया है उसी परमेश्वर की उपासना करो ॥२०॥

रुचमित्यस्योत्तरनारायण ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अथ विद्वत्कृत्यमाह ॥
अब विद्वानों का कृत्य क० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे॥२१॥

रुचम् । ब्राह्मम् । जनयन्तः । देवाः । अग्रे । तत् । अब्रुवन् । यः । त्वा । एवम् । ब्राह्मणः । विद्यात् । तस्य । देवाः । असन् । वशे ॥ २१ ॥

पदार्थः—(रुचम्) रुचिकरम् (ब्राह्मम्) ब्रह्मोपासकम् (जनयन्तः) निष्पादयन्तः (देवाः) विद्वांसः (अग्रे) (तत) ब्रह्मजीवप्रकृतिस्वरूपम् (अब्रुवन्) ब्रुवन्तु (यः) (त्वा) (एवम्) अमुना प्रकारेण (ब्राह्मणः) (विद्यात्) विजानीयात (तस्य) (देवाः) विद्वांसः (असन) स्युः (वशे) तदधीनाः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मनिष्ठ! ये रुचं ब्राह्मं त्वा जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् योब्राह्मण एवं विद्यात्तस्य ते देवा वशे असन् ॥ २१ ॥

भावार्थः— इदमेवाऽऽद्यं विद्वत्कृत्यमस्ति यद्वेदेश्वरधर्मादिषु रुचिरुपदेशाध्यापनधार्मिकत्वजितेन्द्रियत्वशरीरात्मबलवर्द्धनमेवं कृते सति सर्वे दिव्या गुणा भोगाश्च प्राप्तुं शक्याः ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष! जो (रुचम्) रुचिकारक (ब्राह्मम्) ब्रह्म के उपासक (त्वा) आप को (जनयन्तः) सम्पन्न करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अग्रे) पहिले (तत्) ब्रह्म जीव और प्रकृति के स्वरूप को (अब्रुवन्) कहें (यः) जो (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (एवम्) ऐसे (विद्यात्) जाने (तस्य) उस के वे (देवाः) विद्वान् (वशे) वश में (असन्) हों ॥ २१ ॥

भावार्थः— यही विद्वानों का पहिला कर्त्तव्य है कि जो वेद ईश्वर और धर्मादि में रुचि, उपदेश, अध्यापन, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता, शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाना, ऐसा करने से ही सब उत्तम गुण और भोग प्राप्त हो सकते हैं ॥ २१ ॥

श्रीश्चत इत्यस्योत्तरनारायण ऋषिः । आदित्यो देवता ।
निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथेश्वरः कीदृश इत्याह ॥
अब ईश्वर कैसा है इस वि० ॥

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म् । इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ इषाण सर्वलो॒कं म॑ इषाण ॥ २२ ॥

श्रीः । च॒ । ते॒ । ल॒क्ष्मीः । च॒ । पत्न्यौ॑ । अ॒हो॒रा॒त्रे इत्य॑हो॒रा॒त्रे । पा॒र्श्वे इति॑ पा॒र्श्वे । नक्ष॑त्राणि । रू॒पम् । अ॒श्विनौ॑ ।

व्यात्तमिति विऽआत्तम् । इष्णन् । इषाण । अमुम् । मे । इषाण । सर्वलोकमिति सर्वऽलोकम् । मे । इषाण ॥ २२ ॥

पदार्थः—(श्रीः) सकला शोभा (च) (ते) तव (लक्ष्मीः) सर्वमैश्वर्य्यम् (च) (पत्न्यौ) स्त्रीवद्वर्त्तमाने (अहोरात्रे) (पार्श्वे) (नक्षत्राणि)(रूपम्) (अश्विनौ) सूर्याचन्द्रमसौ (व्यात्तम्) विकासितं मुखमिव। अत्र वि, आङ् पूर्वाद्डुदाञ्धातोः क्तः(इष्णन्)इच्छन् (इषाण) कामय (अमुम्) इतः परं परोक्षं सुखम् (मे) मह्यम् (इषाण) प्रापय (सर्वलोकम्)सर्वेषां दर्शनम् (मे) मह्यम् (इषाण) ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! यस्य ते श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्याऽअहोरात्रे पार्श्वे यस्य ते सूर्य्याचन्द्रमसौ व्यात्तं नक्षत्राणि रूपं स त्वं मेऽमुमिष्णन्निषाण मे सर्वलोकमिषाण मे सर्वाणि सुखानीषाण ॥ २२ ॥

भावार्थः—हे राजादयो मनुष्या! यथेश्वरस्य न्यायादयो गुणा, व्याप्तिः कृपा पुरुषार्थः सत्यं रचनं सत्या नियमाश्च सन्ति तथैव युष्माकमपि सन्तु यतो युष्माकमुत्तरोत्तरं सुखं वर्द्धेतेति ॥ २२ ॥

अत्रेश्वरसृष्टिराजगुणवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर! जिस (ते) आप की (श्रीः) समग्र शोभा(च) और (लक्ष्मीः) सब ऐश्वर्य्य (च) भी (पत्न्यौ) दो स्त्रियों के तुल्य व-

समान (अहोरात्रे) दिन रात (पार्श्वे) आगे पीछे जिस आप की सृष्टि में (अश्विनौ) सूर्य चन्द्रमा (व्यात्तम्) फैले मुख के समान (नक्षत्राणि) नक्षत्र (रूपम्) रूप वाले हैं सो आप (मे) मेरे (अमुम्) परोक्ष सुख को (इष्णन्) चाहते हुए (इषाण) चाहना कीजिये (मे) मेरे लिये (सर्वलोकम्) सब के दर्शन को (इषाण) प्राप्त कीजिये मेरे लिये सब सुखों को (इषाण) पहुंचाइये ॥ २२ ॥

भावार्थः-हे राजा आदि मनुष्यो! जैसे ईश्वर के न्याय आदि गुण, व्याप्ति कृपा, पुरुषार्थ, सत्य, रचना और सत्य नियम हैं वैसे ही तुम लोगों के भी हों जिस से तुम्हारा उत्तरोत्तर सुख बढ़े ॥ २२ ॥

इस अध्याय में ईश्वर सृष्टि और राजा के गुणों का वर्णन होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्वाध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति है यह जानना चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्याणां श्री परमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

ओ३म्
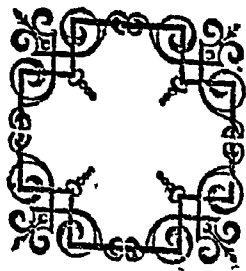
अथ द्वात्रिंशत्तमाध्यायारम्भः ॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

तदेवेत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः परमात्मा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अथ परमेश्वरः कीदृश इत्याह ॥
अब परमेश्वर कैसा है ? इस वि० ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥१॥

तत् । एव । अग्निः । तत् । आदित्यः। तत् । वायुः। तत् । ऊँ इत्यूँ । चन्द्रमाः। तत्। एव । शुक्रम् । तत् । ब्रह्म । ताः। आपः। सः। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः ॥१॥

पदार्थः—(तत्) सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्टृ जगद्धर्त्तृ सर्वान्तर्यामि (एव) निश्चये (अग्निः) ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्च (तत्) (आदित्यः) प्रलये सर्वस्यादातृत्वात् (तत्) (वायुः) अनन्तबलत्वसर्वधर्त्तृत्वाभ्याम् (तत्) (उ) (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूपत्वादाह्लादकत्वाच्च (तत्) (एव) (शुक्रम्) आशुकारित्वाच्छुद्धभावाच्च (तत्) (ब्रह्म) सर्वेभ्यो महत्वात् (ताः) (आपः) सर्वत्र व्यापकत्वात् (सः) (प्रजापतिः) सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथेश्वरस्येमान्यग्न्यादीनि गौणिकानि नामानि सन्ति तथान्यानीन्द्रादीन्यपि वर्त्तन्ते । अस्यैवोपासना फलवती भवतीति वेद्यम् ॥ १ ॥

पदार्थः—हेमनुष्यो ! (तत्) वह सर्वज्ञ सर्वव्यापि सनातन अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा धारणकर्त्ता और सब का अन्तर्यामी (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वयंप्रकाशित होने से अग्नि (तत्) वह (आदित्यः) प्रलय समय सब को ग्रहण करने से आदित्य (तत्) वह (वायुः) अनन्त बलवान् और सब का धर्त्ता होने से वायु (तत्) वह (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा (तत्,एव) वही (शुक्रम्) शीघ्रकारी वा शुद्ध भाव से शुक्र (तत्) वह (ब्रह्म) महान् होने से ब्रह्म (ताः) वह (आपः) सर्वत्र व्यापक होने से आप (उ) और (सः) वह (प्रजापतिः) सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है ऐसा तुम लोग जानो ॥ १ ॥

भावार्थः—हेमनुष्यो ! जैसे ईश्वर के ये अग्नि आदि गौण नाम हैं वैसे और भी इन्द्रादि नाम हैं उसी की उपासना फल वाली है ऐसा जानो ॥ १ ॥

सर्वे इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥

सर्वे । निमेषाऽ इति निऽमेषाः । जज्ञिरे । विद्युत-ऽइति विऽद्युतः । पुरुषात् । अधि । न । एनम् । ऊर्ध्व-म् । न । तिर्य्यञ्चम् । न । मध्ये । परि । जग्रभत् ॥ २ ॥

पदार्थः—(सर्वे) (निमेषाः) नेत्रोन्मीलनादिलक्षणाः कलाकाष्ठादिकालाऽवयवाः (जज्ञिरे) जायन्ते (विद्युतः) विशेषेण द्योतमानात् (पुरुषात्) पूर्णाद्विभोः (अधि) (न) निषेधे (एनम्) परमात्मानम् (ऊर्ध्वम्) उपरिस्थम् (न) (तिर्य्यञ्चम्) तिर्य्यक्स्थितमधरस्थं वा (न) (मध्ये) (परि) सर्वतः (जग्रभत्) गृह्णाति ॥२॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्माद्विद्युतः पुरुषात्सर्वे निमेषा अधि जज्ञिरे तमेनं कोपि नोर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् यूयं सेवध्वम् ॥ २॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यस्य निर्माणेन सर्वे कालावयवा जाता यच्चोर्ध्वमधो मध्ये पार्श्वतो दूरे निकटे वा कथयितुमशक्यं यत् सर्वत्र पूर्णं ब्रह्माऽस्ति तद्योगाभ्यासेन विज्ञाय सर्वे भवन्त उपासीरन् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जिस (विद्युतः) विशेष कर प्रकाशमान (पुरुषात्) पूर्ण परमात्मा से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेष कलाकाष्ठा आदि काल के अवयव (अधि, जज्ञिरे) अधिककर उत्पन्न होते हैं उस (एनम्) इस परमात्मा को कोई भी (न) न (ऊर्ध्वम्) ऊपर (न) न (तिर्य्यञ्चम्) तिर्छी सब दिशाओं में वा नीचे और (न) न (मध्ये) बीच में (परि, जग्रभत्) सब ओर से ग्रहण कर सकता है उस को तुम सेवो ॥ २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जिस के रचने से सब काल के अवयव उत्पन्न हुए और जो ऊपर नीचे बीच में पीछे दूर समीप कहा नहीं जा सकता जो सर्वत्र पूर्णब्रह्म है उस को योगाभ्यास से जान के सब आप लोग उपासना करो ॥ २ ॥

न तस्येत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । हिरण्यगर्भः परमात्मा देवता ।
निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑ । हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इ॒त्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दि॒त्ये॒षा य॒स्मा॒न्न जा॒त इ॒त्ये॒षः ॥ ३ ॥

न । तस्य॑ । प्र॒ति॒मेति॑ प्र॒ति॒ऽमा । अ॒स्ति॒ । यस्य॑ । नाम॑ । म॒हत् । यशः॑ । हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इति॑ हिरण्यऽग॒र्भः । इति॑ । ए॒षः । मा । मा॑ । हि॒ꣳसी॒त् । इति॑ । ए॒षा । यस्मा॑त् । न । जा॒तः । इति॑ । ए॒षः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(न) निषेधे (तस्य) परमेश्वरस्य (प्रतिमा) प्रतिमीयते यया तत्परिमापकं सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा (अस्ति) वर्त्तते (यस्य) (नाम) नामस्मरणम् (महत्) पूज्यं बृहत् (यशः) कीर्त्तिकरं धर्म्यकर्म्माचरणम् (हिरण्यगर्भः) सूर्यविद्युदादिपदार्थाधिकरणः (इति) (एषः) अन्तर्यामितया प्रत्यक्षः (मा) निषेधे (मा) मां जीवात्मानम् (हिंसीत्) हन्यात्ताडयेद्विमुखं कुर्यात् (इति) (एषा) प्रार्थना प्रज्ञा वा (यस्मात्) कारणात् (न) निषेधे (जातः) उत्पन्नः (इति) (एषः) परमात्मा ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्य महद्यशो नामास्ति यो हिरण्यगर्भ इत्येषो यस्य मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येष उपासनीयोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति । यद्वा पक्षान्तरम्—हिरण्यगर्भ इत्येष (२५ । १० —१३) उक्तोऽनुवाको मा मा हिंसी दित्येषोक्ता (१२, १०२) ऋग् यस्मान्न जात इत्येष (८ । ३६ । ३७) उक्तोऽनुवाकश्च । यस्य भगवतो नाम महद्यशोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यः कदाचिद्देहधारी न भवति यस्य किञ्चिदपि परिमाणं नास्ति यस्याज्ञापालनमेव नामस्मरणमस्ति य उपासितः सन्नुपासकाननुगृह्णाति वेदानामनेकस्थलेषु यस्य महत्त्वं प्रतिपाद्यते यो न म्रियते न विक्रियते न क्षीयते तस्यैवोपासनां सततं कुरुत यद्यस्माद्भिन्नस्योपासनां करिष्यन्ति तर्ह्यनेन महता पापेन युक्ताः सन्तो भवन्तो दुःखक्लेशैर्हता भविष्यन्ति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यस्य) जिस का (महत्) पूज्य बड़ा (यशः) कीर्त्ति करने हारा धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही (नाम) नामस्मरण है जो (हिरण्यगर्भः) सूर्य बिजुली आदि पदार्थों का आधार (इति) इस प्रकार (एषः) अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष जिस की (मा) मुझ को (मा, हिंसीत्) मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझ को विमुख मत करे (इति) इस प्रकार (एषा) यह प्रार्थना वा बुद्धि और (यस्मात्) जिस कारण (न) नहीं (जातः) उत्पन्न हुआ (इति) इस प्रकार (एषः) यह परमात्मा उपासना के योग्य है। (तस्य) उस परमेश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमा—परिमाण उस के तुल्य अवधि का साधन प्रतिकृति, मूर्त्ति, वा आकृति (न, अस्ति) नहीं है । अथवा द्वितीय पक्ष यह है

की (हिरण्यगर्भः०) इस पच्चीशवें अध्याय में १० मन्त्र से १३ मन्त्र तक का (इति, एषः) यह कहा हुआ अनुवाक (मा, मा, हिंसीत्) (इति) इसी प्रका॰ (एषा यह ऋचा बारहवें अध्याय की १०२ मन्त्र है और (यस्मान्न॰ जातः इत्येषः०) यह आठवें अध्याय के ३६ । ३७ । दो मन्त्र का अनुवाक (यस्य) जिस परमेश्वर की (नाम) प्रसिद्ध (महत्) महती (यशः) कीर्त्ति है (तस्य) उस का (प्रतिमा) प्रतिबिम्ब (तस्वीर)नहीं है ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो कभी देहधारी नहीं होता जिस का कुछ भी परिमाण सीमा का कारण नहीं है जिस की आज्ञा का पालन ही नामस्मरण है जो उपासना॰ किया हुआ अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है वेदों के अनेक स्थलों में जिस का महत्व कहा गया है जो नहीं मरता नविकृत होता,न नष्ट होता उसी की उपासना निरन्तर करो जो इस से भिन्न की उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख क्लेशों से नष्ट होगे ॥ ३ ॥

एष इत्यस्य स्वयम्भुब्रह्म ऋषिः । आत्मा देवता ।
भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ४ ॥

एषः । ह । देवः । प्रदिश इति प्रऽदिशः । अनु । सर्वाः । पूर्वः । ह । जातः । सः । ऊँऽ इत्यूँ । गर्भे । अन्तरित्यन्तः । सः । एव । जातः । सः । जनिष्यमाणः । प्रत्यङ् । जनाः । तिष्ठति । सर्वतोमुख इति सर्वतःऽमुखः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(एषः) परमात्मा । अत्र विभक्तेरलुक् (ह) प्रसिद्धम् (देवः) दिव्यस्वरूपः (प्रदिशः) (अनु) आनुकूल्ये (सर्वाः) दिशश्च (पूर्वः) प्रथमः (ह) प्रसिद्धम् (जातः) प्राकट्यं प्राप्तः (सः) (उ) एव (गर्भे) अन्तः करणे (अन्तः) मध्ये (सः) (एव) (जातः) प्रसिद्धः (सः) (जनिष्यमाणः) प्रसिद्धिं प्राप्स्यमानः (प्रत्यङ्) प्रतिपदार्थमञ्चति प्राप्नोति- (जनाः) विद्वांसः (तिष्ठति) वर्त्तते (सर्वतोमुखः) सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य सः ॥ ४॥

अन्वयः—हे जना! एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशोऽनुव्याप्य स उ गर्भेऽन्तः पूर्वो ह जातः स एव जातः स जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति स युष्माभिरुपासनीयो वेदितव्यश्च ॥ ४ ॥

भावार्थः—अयं पूर्वोक्त ईश्वरो जगदुत्पाद्य प्रकाशितः सन् सर्वासु दिक्षु व्याप्येन्द्रियाद्यन्तरेण सर्वेन्द्रियकर्माणि सर्वगतत्वेन कुर्वन् सर्वप्राणिनां हृदये तिष्ठति सोऽतीतानागतेषु कल्पेषु जगदुत्पादनाय पूर्वं प्रकटो भवति स- ध्यानशीलेन मनुष्येण ज्ञातव्यो नान्येनेति भावः ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (जनाः) विद्वानो ! (एषः) यह (ह) प्रसिद्ध परमात्मा (देवः) उत्तम स्वरूप (सर्वाः) सब दिशा और (प्रदिशः) विदिशाओं को (अनु) अनुकूलता से व्याप्त होके (सः) (उ) वही (गर्भे) अन्तः करण के (अन्तः) बीच (पूर्वः) प्रथम कल्प के आदि में (ह) प्रसिद्ध (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ (सः, एव) वही (जातः) प्रसिद्ध हुआ (सः) वह (जनिष्यमाणः) आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा (सर्वतोमुखः) सब ओर से मुखादि अवयवों वाला अर्थात्

सुखादि इन्द्रियों के काम सर्वत्र करता (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ (तिष्ठति) अचल सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों को उपासना करने और जानने योग्य है ॥ ४ ॥

भावार्थः—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ सब दिशाओं में व्याप्त हो के इन्द्रियों के विना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है वह भूत भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रगट होता है वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है अन्य के जानने योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

यस्मादित्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमेश्वरो देवता।
भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ ५ ॥

यस्मात्। जातम्। न। पुरा। किम्। चन। एव। यः। आबभूवेत्याऽबभूव। भुवनानि। विश्वा। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः। प्रजया। संरराण इति सम्ऽरराणः। त्रीणि। ज्योतींषि। सचते। सः। षोडशी ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यस्मात्) परमेश्वरात् (जातम्) उत्पन्नम् (न) निषेधे (पुरा) पुरस्तात् (किम्) (चन) किञ्चिदपि (एव) (यः) (आबभूव) समन्ताद्भवति (भुवनानि) लोकजा-

तानि सर्वाऽधिकरणानि (विश्वा) सर्वाणि (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकोऽधिष्ठाता (प्रजया) प्रजातया (सम्) (रराणः) सम्यक्रममाणः (त्रीणि) त्रिद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि (ज्योतींषि) तेजोमयानि प्रकाशकानि (सचते) समवैति (सः) (षोडशी) षोडश कला यस्मिन् सन्ति सः ॥ ५ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या! यस्मात् पुरा किञ्चन न जातं यः सर्वत आबभूव, यस्मिन् विश्वा भुवनानि वर्त्तन्ते, स एव षोडशी प्रजया सह संरराणः प्रजापतिस्त्रीणि ज्योतींषि सचते ॥ ५ ॥

भावार्थः-यस्मादीश्वरोऽनादिर्वर्त्तते तस्मात्तस्मात्पूर्वं किमपिभवितुन्न शक्यम्। स एव सर्वासु प्रजासु व्याप्तो जीवानां कर्माणि पश्यन् सँस्तदनुकूलं फलं ददन्न्यायं करोति येन प्राणादीनि षोडश वस्तूनि सृष्टान्यतः स षोडशीत्युच्यते। प्राणः, श्रद्धाऽऽकाशं, वायुरग्निर्जलं, पृथिवीन्द्रियं, मनोऽन्नं, वीर्य्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, नाम च षोडशकलाः। प्रश्नोपनिषदि षष्ठे प्रश्ने वर्णिताः। एतत्सर्वं षोडशात्मकं जगत् परमात्मनि वर्त्तते तेनैव निर्मितं पाल्यते च ॥ ५ ॥

पदार्थः-हे मनुष्यो! (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (पुरा) पहिले (किम्, चन) कुछ भी (न, जातम्) नहीं उत्पन्न हुआ (यः) जो सब ओर (आबभूव) अच्छे प्रकार से वर्त्तमान है जिस में (विश्वा) सब (भुवनानि) वस्तुओं के आधार सब लोक वर्त्तमान हैं (सः, एव) वही (षोडशी) सोलह कला वाला (प्रजया) प्रजा के साथ (सम्, रराणः) सम्यक् रमण करता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक अधिष्ठाता (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) तेजोमय बिजुली, सूर्य, चन्द्रमारूप प्रकाशक ज्योतियों को (सचते) संयुक्त करता है ॥ ५ ॥

भावार्थः-जिस से ईश्वर अनादि है इस कारण उस से पहिले कुछ भी हो नहीं सकता वही सब प्रजाओं में व्याप्त जीवों के कर्मों को देखता और उन के अनुकूल फल देता हुआ न्याय करता है जिसने प्राण आदि सोलह वस्तुओं को बनाया है इस से वह षोडशी कहाता है (प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि..जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम) ये षोडश कला प्रश्नोपनिषद् में हैं यह सब षोडश वस्तुरूप जगत् परमात्मा में है उसी ने बनाया और वही पालन करता है ॥५॥

येनेत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

येन । द्यौः । उग्रा । पृथिवी । च । दृढा । येन । स्वरिति स्वः । स्तभितम् । येन । नाकः । यः । अन्तरिक्षे । रजसः । विमान इति विऽमानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ६ ॥

पदार्थः-(येन) जगदीश्वरेण (द्यौः) सूर्यादिप्रकाशवान् पदार्थः (उग्रा) तीव्रतेजस्का (पृथिवी) भूमिः (च) (दृढा) दृढीकृता (येन) (स्वः) सुखम् (स्तभितम्) धृतम् (येन)

(नाकः) अविद्यमानदुःखो मोक्षः (यः) (अन्तरिक्षे) मध्यवर्त्तिन्याकाशे (रजसः) लोकसमूहस्य । लोकारजांस्युच्यन्त इति निरुक्तम् (विमानः) विविधं मानं यस्मिन् सः (कस्मै) सुखस्वरूपाय (देवाय) स्वप्रकाशाय सकलसुखदात्रे (हविषा) प्रेमभक्तिभावेन (विधेम) परिचरेम प्राप्नुयाम वा ॥ ६ ॥

अन्वयः– हे मनुष्या! येनोग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः स्तभितो योऽन्तरिक्षे वर्त्तमानस्य रजसो विमानोऽस्ति तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेमैवं यूयमप्येनं सेवध्वम् ॥ ६ ॥

भावार्थः– हे मनुष्या! यः सकलस्य जगतो धर्त्ता सर्वसुखप्रदाता मोक्षसाधक आकाशइव व्याप्तः परमेश्वरोऽस्ति तस्यैव भक्तिं कुरुत ॥ ६ ॥

पदार्थः–हे मनुष्यो! (येन) जगदीश्वर ने (उग्रा) तीव्र तेज वाले (द्यौः) प्रकाशयुक्त सूर्यादि पदार्थ (च) और (पृथिवी) भूमि (दृढा) दृढ की है (येन) जिस ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण किया (येन) जिसने (नाकः) सब दुःखों से रहित मोक्ष धारण किया (यः) जो (अन्तरिक्षे) मध्यवर्त्ती आकाश में वर्त्तमान (रजसः) लोक समूह का (विमानः) विविध मान करने वाला उस (कस्मै) सुख स्वरूप (देवाय) स्वयं प्रकाशमान सकल सुख दाता ईश्वर के लिये हमलोग (हविषा) प्रेम भक्ति से (विधेम) सेवाकारी वा प्राप्त होवें ॥ ६ ॥

भावार्थः– हेमनुष्यो! जो समस्त जगत् का धर्त्ता सब सुखों का दाता मुक्ति का साधक आकाश के तुल्य व्यापक परमेश्वर है उसी की भक्ति करो ॥ ६ ॥

यं क्रन्दसीत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । स्वराडतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम आपो ह यद्बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

यम् । क्रन्दसीऽइति क्रन्दसी । अवसा । तस्तभानेऽइति तस्तऽभाने । अभि । ऐक्षेताम् । मनसा । रेजमानेऽइति रेजमाने । यत्र । अधि । सूरः । उदितऽइत्युत्ऽइतः । विभातीति विऽभाति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम । आपः । ह । यत् । बृहतीः । यः । चित् । आपः ॥ ७ ॥

पदार्थः– (यम्) (क्रन्दसी) गुणैः प्रशंसनीये (अवसा) रक्षणादिना (तस्तभाने) धारिके (अभि) आभिमुख्ये (ऐक्षेताम्) ईक्षेतां पश्यतः (मनसा) विज्ञानेन (रेजमाने) चलन्त्यौ भ्रमन्त्यौ (यत्र) यस्मिन् (अधि) उपरि (सूरः) सूर्यः (उदितः) उदयं प्राप्तः (विभाति) विशेषेण प्रकाशयन् प्रकाशयिता भवति (कस्मै) सुखसाधकाय (देवाय) शुद्धस्वरूपाय (हविषा) आदातव्येन योगाभ्यासेन (विधेम) (आपः) व्याप्ताः (ह) किल (यत्) याः (बृहतीः) महत्यः (यः) (चित्) अपि (आपः) आकाशः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यं परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी द्यावापृथिव्यावक्सा सर्वं धरतो यत्र सूरोऽध्युदितो यद् या बृहतीरापो ह यश्चिदापः सन्ति तांश्चिदपि विभाति तं तौ चाऽध्यापकोपदेशकौ मनसा अभ्यैक्षेतां तस्मै कस्मै देवाय हविषा वयं विधेम तं यूयमपि भजत ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यत्र सर्वाभिव्यापकेश्वरे सूर्य्यपृथिव्यादयो लोका भ्रमन्तः सन्तो दृश्यन्ते येन प्राण आकाशोऽपि व्याप्तस्तं स्वात्मस्थं यूयमुपासीध्वम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यम्) जिस परमात्मा को प्राप्त अर्थात् उसके अधिकार में रहने वाले (तस्तभाने) सब को धारण करने हारे (रेजमाने) चलायमान (क्रन्दसी) स्वगुणों से प्रशंसा करने योग्य सूर्य्य और पृथिवी लोक (अवसा) रक्षा आदि से सब को धारण करते हैं (यत्र) जिस ईश्वर में (सूरः) (सूर्य्य) लोक (अधि, उदितः) अधिकतर उदय को प्राप्त हुआ (यत्) जो (बृहतीः) महत् (आपः) व्याप्त जल (ह) ही (यः) और जो कुछ (चित्) भी (आपः) आकाश है उस को भी (विभाति) विशेष कर प्रकाशित करता हुआ प्रकाशक होता है उस ईश्वर को अध्यापक और उपदेशक (मनसा) विज्ञान से (अभि, ऐक्षेताम्) आभिमुख्य कर देखते उस (कस्मै) सुखसाधक (देवाय) शुद्धस्वरूप परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास से हम (विधेम) सेवा करने वाले हों उस को तुम लोग भी भजो ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जिस सब ओर से व्यापक परमेश्वर में सूर्य्य पृथिवी आदि लोक भ्रमते हुए दीखते हैं जिस ने प्राण और आकाश को भी व्याप्त किया उस अपने आत्मा में स्थित ईश्वर की तुम लोग उपासना करो ॥ ७ ॥

वेन इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर उसी वि०॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदꣳ सञ्च विचैति सर्वꣳ स ओतःप्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ ८॥

वेनः। तत्। पश्यत्। निहितमिति निऽहितम्। गुहा। सत्। यत्र। विश्वम्। भवति। एकनीडमित्येकऽनीडम्। तस्मिन्। इदम्। सम्। च। वि। च। एति। सर्वम्। सः। ओतऽ इत्याऽउतः। प्रोतऽ इति प्रऽउतः। च। विभूरिति विऽभूः। प्रजास्विति प्रऽजासु॥ ८॥

पदार्थः-(वेनः) पण्डितो विद्वान् (तत्) चेतनं ब्रह्म (पश्यत्) पश्यति स्थितम् (निहितम्) (गुहा) गुहायां बुद्धौ गुहे कारणे वा (सत्) नित्यम् (यत्र) यस्मिन् (विश्वम्) सर्वम् जगत् (भवति) (एकनीडम्) एकस्थानम् (तस्मिन्) (इदम्) जगत् (सम्) (च) (वि) (च) (एति) (सर्वम्) (सः) (ओतः) ऊर्ध्वतन्तुः पट इव (प्रोतः) तिर्यक्तन्तुषु पट इव (च) (विभूः) व्यापकः (प्रजासु) प्रकृतिजीवादिषु॥ ८॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यत्र विश्वमेकनीडं भवति तद्गुहा निहितं सद्वेनः पश्यत्। तस्मिन्निदं सर्वं समेति च व्येति च सविभूः प्रजास्वोतः प्रोतश्च स एव सर्वैरुपासनीयोऽस्ति॥८॥

भावार्थः— हे मनुष्या! विद्वानेव यं बुद्धिबलेन जानाति यः सर्वेषामाकाशादीनां पदार्थानामधिकरणमस्ति यत्र संहारकाले सर्वं जगल्लीयते सर्गकाले च यतो निस्सरति येन व्याप्तेन विना किञ्चिदपि वस्तु न वर्त्तते तं विहायाऽन्यं कञ्चिदप्युपास्यमीश्वरं मा विजानन्तु ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यत्र) जिस में (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) स्थित (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म को (वेनः) पण्डित विद्वान् जन (पश्यत्) ज्ञानदृष्टि से देखता है (तस्मिन्) उस में (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्, एति) प्रलय समय में संगत होता (च) और उत्पत्ति समय में (वि) पृथक् स्थूलरूप (च) भी होता है (सः) वह (विभूः) विविध प्रकार व्याप्त हुआ (प्रजासु) प्रजाओं में (ओतः) ठाढ़े सूतों में जैसे वस्त्र (च) तथा (प्रोतः) आड़े सूतों में जैसे वस्त्र वैसे ओत प्रोत हो रहा है वही सब का उपासना करने योग्य है ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! विद्वान् ही जिस को बुद्धि बल से जानता जो सब आकाशादि पदार्थों का आधार प्रलय समय सब जगत् जिस में लीन होता और उत्पत्ति समय में जिस से निकलता है और जिस व्याप्त ईश्वर के विना कुछ भी वस्तु नहीं खाली है उस को छोड़ किसी अन्य को उपास्य ईश्वर मत जानो ॥ ८ ॥

प्र तदित्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। विद्वान् देवता।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

प्र तद्वो॑चेद॒मृतं॒ नु वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॒ विभृ॑तं॒ गुहा॒ सत्। त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुः पि॒ताऽस॑त् ॥ ९ ॥

प्र। तत्। वोचेत्। अमृतम्। नु। विद्वान्। गन्धर्वः। धाम। विभृतमिति विऽभृतम्। गुहा। सत्। त्रीणि। पदानि। निहितेति निऽहिता। गुहा। अस्य। यः। तानि। वेद। सः। पितुः। पिता। असत्॥ ९॥

पदार्थः—(प्र) (तत्) चेतनं ब्रह्म (वोचेत्) गुणकर्मस्वभावत उपदिशेत् (अमृतम्) नाशरहितम् (नु) सद्यः (विद्वान्) पण्डित (गन्धर्वः) यो गां वेदवाचं धरति सः (धाम) मुक्तिसुखस्य स्थानम् (विभृतम्) विशेषेण धृतम् (गुहा) बुद्धौ (सत्) नित्यम् (त्रीणि) उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः काला वा (पदानि) ज्ञातुमर्हाणि (निहिता) निहितानि (गुहा) बुद्धौ (अस्य) अविनाशिनः (यः) (तानि) (वेद) जानाति (सः) (पितुः) जनकस्येश्वरस्य वा (पिता) ज्ञानप्रदानेनास्तिकत्वेन वा रक्षकः (असत्) भवेत्॥ ९॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सद्यः प्रवोचेत् यान्यस्य गुहा निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति तानि च वेद स पितुः पिताऽसत्॥ ९॥

भावार्थः—हे मनुष्या! य ईश्वरस्य मुक्तिसाधकं बुद्धिस्थं स्वरूपमुपदिशेयुर्यथार्थतया पदार्थानां परमात्मनश्च गुणकर्मस्वभावान् विजानीयुस्ते वयोवृद्धानां पितॄणामपि पितरो भवितुं योग्याः सन्तीति विजानीत॥ ९॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यः) जो (गन्धर्वः) वेदवाणी को धारण करने वाला (विद्वान्) पण्डित (गुहा) बुद्धि में (विभृतम्) विशेष धारण किये

(अमृतम्) नाशरहित (धाम) मुक्ति के स्थान (तत्) उस (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म का (नु) शीघ्र (प्र, वोचेत्) गुणकर्मस्वभावों के सहित उपदेश करे और जो (अस्य) इस अविनाशी ब्रह्म के (गुहा) ज्ञान में (निहिता) स्थित पदार्थ जानने योग्य (त्रीणि) तीन उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय वा भूत, भविष्यत्, व समान काल हैं (तानि) उन को (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) अपने पिता वा सर्वरक्षक ईश्वर का (पिता) ज्ञान देने वा आस्तिकत्व से रक्षक (असत्) होवे ॥ ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो विद्वान् लोग ईश्वर के मुक्तिसाधक बुद्धिस्थ स्वरूप का उपदेश करें ठीक २ पदार्थों के और ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव को जानें वे अवस्था में बड़े पितादिकों के भी रक्षा के योग्य होते हैं ऐसा जानो ॥ ९ ॥

स न इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्मऋषिः। परमात्मा देवता।

निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

सः। नः। बन्धुः। जनिता। सः। विधातेति विऽधाता। धामानि। वेद। भुवनानि। विश्वा। यत्र। देवाः। अमृतम्। आनशानाः। तृतीये। धामन्। अध्यैरयन्तेत्यधिऽऐरयन्त ॥ १० ॥

पदार्थः—(सः) (नः) अस्माकम् (बन्धुः) भ्रातेव मान्यः सहायः (जनिता) जनयिता। अत्र। जनिता मन्त्र

इति अ० ६ । ४ । ५३ णिलोपः (सः) (विधाता) सर्वेषां पदार्थानां कर्मफलानां च विधानकर्ता (धामानि) जन्मस्थाननामानि (वेद) जानाति (भुवनानि) लोकलोकान्तराणि (विश्वा) सर्वाणि (यत्र) यस्मिन् जगदीश्वरे (देवाः) विद्वांसः (अमृतम्) मोक्षसुखम् (आनशानाः) प्राप्नुवन्तः (तृतीये) जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे (धामन्) धामन्याधारभूते (अध्यैरयन्त) सर्वत्र स्वेच्छया विचरन्ति॥ १० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्त यो विश्वा भुवनानि धामानि च वेद स नो बन्धुर्जनिता स विधाताऽस्तीति निश्चिनुत ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यस्मिञ्छुद्धस्वरूपे परमात्मनि योगिनो विद्वांसो मुक्तिसुखं प्राप्य मोदन्ते स एव सर्वज्ञः सर्वोत्पादकः सर्वदा सहायकारी च मन्तव्यो नेतर इति ॥ १० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्र) जिस (तृतीये) जीव और प्रकृति से विलक्षण (धामन्) आधाररूप जगदीश्वर में (अमृतम्) मोक्ष सुख को (आनशानाः) प्राप्त होते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) सर्वत्र अपनी इच्छा पूर्वक विचरते हैं जो (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तरों और (धामानि) जन्म स्थान नामों को (वेद) जानता है (सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (बन्धुः) भाई के तुल्य मान्य सहायक (जनिता) उत्पन्न करने हारा (सः) वही (विधाता) सब पदार्थों और कर्मफलों का विधान करने वाला है यह निश्चय करो ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस शुद्ध स्वरूप परमात्मा में योगिराज विद्वान् लोग मुक्तिसुख को प्राप्त हो आनन्द करते हैं उसीको सर्वज्ञ सर्वोत्पादक और सर्वदा सहायकार मानना चाहिये अन्य को नहीं ॥ १० ॥

परीत्येत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

परीत्यं भूतानि परीत्यं लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थायं प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥

परीत्येति परिऽइत्यं । भूतानि । परीत्येति परिऽइत्यं । लोकान् । परीत्येति परिऽइत्यं । सर्वाः । प्रदिशऽइति प्रऽदिशः । दिशः । च । उपस्थायेत्युपऽस्थायं । प्रथमजामिति प्रथमऽजाम् । ऋतस्यं । आत्मनां । आत्मानम् । अभि । सम् । विवेश ॥ ११ ॥

पदार्थः— (परीत्य) परितः सर्वतोऽभिव्याप्य (भूतानि) (परीत्य) (लोकान्) द्रष्टव्यान् पृथिवीसूर्यादीन् (परीत्य) (सर्वाः) (प्रदिशः) आग्नेयाद्या उपदिशः (दिशः) पूर्वाद्याः (च) अधः उपरि च (उपस्थाय) पठित्वा संसेव्य वा (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पन्नां वेदचतुष्टयीम् (ऋतस्य) सत्यस्य (आत्मना) स्वस्वरूपेणान्तःकरणेन च (आत्मानम्) स्वरूपमधिष्ठानं वा (अभि) आभिमुख्ये (सम्) सम्यक् (विवेश) प्रविशति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभिसंविवेश प्रथमजामुपस्थायात्मना तं प्राप्नुहि ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यूयं धर्माचरणवेदयोगाभ्याससत्सङ्गादिभिः कर्मभिः शरीरपुष्टिमात्मान्तःकरणशुद्धिं च संपाद्य सर्वत्राभिव्याप्तं परमात्मानं लब्ध्वा सुखिनो भवत ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् आप ! जो (भूतानि) प्राणियों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के (लोकान्) पृथिवी सूर्यादि लोकों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के (च) और ऊपर नीचे (सर्वाः) सब (प्रदिशः) आग्नेयादि उपदिशा तथा (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के (ऋतस्य सत्य के (आत्मानम्) स्वरूप वा अधिष्ठान को (अभि, सम्, विवेश) सन्मुखता से सम्यक् प्रवेश करता है (प्रथमजाम्) प्रथम कल्पादि में उत्पन्न चार वेदरूप वाणी को (उपस्थाय) पढ़ वा सम्यक् सेवन करके (आत्मना) अपने शुद्धस्वरूप वा अन्तःकरण से उस को प्राप्त हूजिये ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्म के आचरण, वेद और योग के अभ्यास तथा सत्संग आदि कर्मों से शरीर की पुष्टि और आत्मा तथा अन्तःकरण की शुद्धि को संपादन कर सर्वत्र अभिव्याप्त परमात्मा को प्राप्त हो के सुखी होओ ॥ ११ ॥

परीत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्य इ॒त्वा परि॑ लो॒कान् परि॒ दिशः॒ परि॒ स्वः॑ । ऋ॒तस्य॒ तन्तुं॒ वित॑तं वि॒चृत्य॒ तद॑पश्य॒त्तद॑भव॒त्तदा॑सीत् ॥ १२ ॥

परि॑ । द्यावा॑पृथि॒वीऽइति॒ द्यावा॑ पृथि॒वी । स॒द्यः । इ॒त्वा । परि॑ । लो॒कान् । परि॑ । दिशः॑ । परि॑ । स्व॒रिति॒ स्वः॑ । ऋ॒तस्य॑ । तन्तु॑म् । वित॑त॒मिति॒ विऽत॑तम् । वि॒चृ॒त्येति॑ वि॒ऽचृत्य॑ । तत् । अ॒प॒श्य॒त् । तत् । अ॒भ॒व॒त् । तत् । आ॒सी॒त् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (सद्यः) शीघ्रम् (इत्वा) प्राप्य (परि) सर्वतः (लोकान्) द्रष्टव्यान् सृष्टिस्थान् भूगोलान् (परि) (दिशः) पूर्वाद्याः (परि) (स्वः) सुखम् (ऋतस्य) सत्यस्य (तन्तुम्) कारणम् (विततम्) विस्तृतम् (विचृत्य) विविधतया ग्रन्थित्वा बध्वा (तत्) (अपश्यत्) पश्यति (तत्) (अभवत्) भवति (तत्) (आसीत्) अस्ति ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी सद्य इत्वा पर्य्यपश्यद्यो लोकान् सद्य इत्वा पर्य्यभवत् । यो दिशः सद्य इत्वा पर्य्यासीद्यःस्वः सद्य इत्वा पर्य्यपश्यद्य ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत्सुखमपश्यद्येन तत्सुखमभवद्यतस्तद्विज्ञानमासीत्तं यथावद्विज्ञायोपासीरन् ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वरमेव भजन्ति तन्निर्मितां सृष्टिं सुखायोपयुञ्जते त ऐहिकं पारमार्थिकं विद्याजन्यं सुखं च सद्यः प्राप्य सततमानन्दन्ति ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो परमेश्वर (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और भूमि को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त होके (परि, अपश्यत्) सब ओर से देखता

है जो (लोकान्) देखने योग्य सृष्टिस्थ भूगोलों को शीघ्र प्राप्त हो के (परि, अभवत्) सब ओर से प्रकट होता जो (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को शीघ्र प्राप्त हो के (परि, आसीत्) सब ओर से विद्यमान है जो (स्वः) सुख को शीघ्र प्राप्त हो के (परि) सब ओर से देखता है जो (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (तन्तुम्) कारण को (विचृत्य) विविध प्रकार से बांध के (तत्) उस सुख को देखता जिस से (तत्) वह सुख हुआ और जिस से (तत्) वह विज्ञान हुआ है उस को यथावत् जान के उपासना करो ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर ही का भजन करते और उस की रची सृष्टि को सुख के लिये उपयोग में लाते हैं वे इस लोक परलोक और विद्या से हुए सुख को शीघ्र प्राप्त हो के निरन्तर आनन्दित होते हैं ॥ १२ ॥

सदसस्पतिमित्यस्य मेधाकाम ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

भुरिग्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषᳬस्वाहा ॥ १३ ॥

सदसः । पतिम् । अद्भुतम् । प्रियम् । इन्द्रस्य । काम्यम् । सनिम् । मेधाम् । अयासिषम् । स्वाहा ॥ १३ ॥

पदार्थः—(सदसः) सभाया ज्ञानस्य न्यायस्य दण्डस्य वा (पतिम्) पालकं स्वामिनम् (अद्भुतम्) आश्चर्यगुणकर्मस्वभावम् (प्रियम्) प्रीतिविषयं प्रसन्नकरं प्रसन्नं वा (इन्द्रस्य) इन्द्रियाणां स्वामिनो जीवस्य (काम्यम्) कमनीयम् (सनिम्)

सनन्ति संविभजन्ति सत्याऽसत्ये यया ताम् (मेधाम्) सुगतां प्रज्ञाम् (अयासिषम्) प्राप्नुयाम् (स्वाहा) सत्यया क्रियया वाचा वा ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या अहं स्वाहा यं सदसस्पतिमद्भुतमिन्द्रस्य काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य संसेव्य च सनिं मेधामयासिषं तां परिचरितां यूयमपि प्राप्नुत ॥ १३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं परमात्मानं सेवन्ते ते सर्वा विद्याः प्राप्य शुद्धया प्रज्ञया सर्वाणि सुखानि लभन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! मैं (स्वाहा) सत्य क्रिया वा वाणी से जिस (सदसः) सभा, ज्ञान, न्याय वा दण्ड के (पतिम्) रक्षक (अद्भुतम्) आश्चर्य्य गुण कर्म स्वभाव वाले (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के मालिक जीव के (काम्यम्) कमनीय (प्रियम्) प्रीति के विषय प्रसन्न करने हारे वा प्रसन्नरूप परमात्मा की उपासना और सेवा करके (सानिम्) सत्य असत्य का जिस से सम्यक् विभाग किया जाय उस (मेधाम्) उत्तम बुद्धि को (अयासिषम्) प्राप्त होऊं, उस ईश्वर की सेवा करके इस बुद्धि को तुम लोग भी प्राप्त होओ ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सेवन करते हैं वे सब विद्याओं को पाकर शुद्ध बुद्धि से सब सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

यामित्यस्य मेधाकाम ऋषिः । परमात्मा देवता ।

निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैरीश्वराद्बुद्धिर्याचनीयेत्याह ॥

मनुष्यों को ईश्वर से बुद्धि की याचना करनी चाहिये इस वि० ॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १४ ॥

याम्। मेधाम्। देवगणाऽइति देवऽगणाः। पितरः। च। उपासतऽइत्युपऽआसते। तया। माम्। अद्य। मेधया। अग्ने। मेधाविनम्। कुरु। स्वाहा ॥१४॥

पदार्थः—(याम्) (मेधाम्) प्रज्ञां धनं वा। मेधेति धनना० निघं० २। १० (देवगणाः) देवानां विदुषां समूहाः (पितरः) पालयितारो विज्ञानिनः (च) (उपासते) प्राप्य सेवन्ते (तया) (माम्) (अद्य) (मेधया) (अग्ने) स्वप्रकाशत्वेन विद्याविज्ञापक ! (मेधाविनम्) प्रशस्ता मेधा विद्यते यस्य तम् (कुरु) (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्नध्यापक ! जगदीश्वर! वा देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते तया मेधया मामद्य स्वाहा मेधाविनं कुरु ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसं संसेव्य शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनञ्च प्राप्तुमिच्छेयुरन्यांश्चैवं प्रापयेयुः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) स्वयं प्रकाशरूप होने से विद्या के जताने हारे ईश्वर! वा अध्यापक विद्वन् ! (देवगणाः) अनेकों विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करने हारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझ को(अद्य)आज (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धन वाला (कुरु) कीजिये ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग परमेश्वर की उपासना और आप्त विद्वान् की सम्यक् सेवा करके शुद्ध विज्ञान और धर्म से हुए धन को प्राप्त होने की इच्छा करें और दूसरों को भी ऐसे ही प्राप्त करावें ॥ १४ ॥

मेधामित्यस्य मेधाकाम ऋषिः । परमेश्वरविद्वांसौ देवते । निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

मेधाम्मे वरु॑णो ददातु मे॒धाम॒ग्निः प्र॒जाप॑तिः । मे॒धामिन्द्र॑श्च वा॒युश्च॑ मे॒धां धा॒ता द॑दातु मे॒ स्वाहा॑ ॥ १५ ॥

मे॒धाम् । मे॒ । वरु॑णः । द॒दा॒तु॒ । मे॒धाम् । अ॒ग्निः । प्र॒जाप॑ति॒रिति॑ प्र॒जाऽप॑तिः । मे॒धाम् । इन्द्रः॑ । च॒ । वा॒युः । च॒ । मे॒धाम् । धा॒ता । द॒दा॒तु॒ । मे॒ । स्वाहा॑ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(मेधाम्) शुद्धां धियं धनं वा (मे) मह्यम् (वरुणः) श्रेष्ठः (ददातु) (मेधाम्) (अग्निः) विद्याप्रकाशितः (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः (मेधाम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (च) (वायुः) बलिष्ठो बलप्रदः (च) (मेधाम्) (धाता) सर्वस्य संसारस्य राज्यस्य (ददातु) (मे) मह्यम् (स्वाहा) धर्म्यया क्रियया ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां

ददातु अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु इन्द्रो मेधां ददातु वायुश्च मेधां ददातु धाता च मे मेधां ददातु तथा युष्मभ्यमपि ददातु ॥ १५ ॥

भावार्थः-मनुष्या यथाऽऽत्मार्थं गुणकर्मस्वभावं सुखञ्चेच्छेयुस्तादृश्मेवाऽन्यार्थम् । यथा स्वस्योन्नतये प्रार्थयेयुस्तथा परमेश्वरस्य विदुषाञ्च सकाशादन्येषामपि प्रार्थयेयुर्न केवलं प्रार्थनामेव कुर्युः किं तर्हि सत्याचरणमपि । यदा २ विदुषां समीपं गच्छेयुस्तदा २ सर्वेषां कल्याणाय प्रश्नोत्तराणि कुर्युः ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (वरुणः) अति श्रेष्ठ परमेश्वर वा विद्वान् (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया से (मे) मेरे लिये (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन को (ददातु) देवे (अग्निः) विद्या से प्रकाशित (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (मेधाम्) बुद्धि को देवें (इन्द्रः) परमऐश्वर्यवान (मेधाम्) बुद्धि को देवे (च) और (वायुः) वलदाता बलवान् (मेधाम्) बुद्धि को देवे (च) और (धाता) सब संसार वा राज्य का धारण करने हारा ईश्वर वा विद्वान् (मे) मेरे लिये बुद्धि धन को (ददातु) देवे वैसे तुम लोगों को भी देवें ॥१५॥

भावार्थः—मनुष्य जैसे अपने लिये गुण कर्म स्वभाव और सुख को चाहे वैसे औरों के लिये भी चाहें । जैसे अपनी २ उन्नति की चाहना करें वैसे परमेश्वर और विद्वानों के निकट से अन्यों की उन्नति की प्रार्थना करें । केवल प्रार्थना ही न करें किन्तु सत्य आचरण भी करें । जब २ विद्वानों के निकट जावें तब२ सब के कल्याण के लिये प्रश्न और उत्तर किया करें ॥ १५ ॥

इदं म इत्यस्य श्रीकाम ऋषिः । विद्वद्राजानौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

इदम्। मे। ब्रह्म। च। क्षत्रम्। च। उभेऽइत्युभे। श्रियम्। अश्नुताम्। मयि। देवाः। दधतु। श्रियम्। उत्तमामित्युत्ऽतमाम्। तस्यै। ते। स्वाहा ॥ १६ ॥

पदार्थः—(इदम्) (मे) मम (ब्रह्म) वेदेश्वरविज्ञानं तद्वत्कुलम् (च) (क्षत्रम्) राज्यं धनुर्वेदविद्या क्षत्रियकुलम्(च) (उभे) (श्रियम्) राजलक्ष्मीम्(अश्नुताम्) प्राप्नुताम् (मयि) (देवाः) विद्वांसः (दधतु) धरन्तु (श्रियम्) शोभां लक्ष्मीं च (उत्तमाम्) अतिश्रेष्ठाम् (तस्यै) श्रियै (ते) तुभ्यम् (स्वाहा) सत्याचरणया क्रियया ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर! भवत्कृपया हे विद्वन्! तव पुरुषार्थेन च स्वाहा मे ममेदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुतां यथा देवा मय्युत्तमां श्रियं दधतु तथाऽन्येष्वपि। हे जिज्ञासो! ते तुभ्यं तस्यै वयं प्रयतेमहि ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालनेन विदुषां सेवया सत्कारेण सर्वेषां मनुष्याणां मध्याद्ब्राह्मणक्षत्रियौ सुशिक्ष्य विद्यादिसद्गुणैः संयोज्य सर्वेषामुन्नतिं विधाय स्वात्मवत्सर्वेषु वर्त्तेरन् ते सर्वपूज्याः स्युरिति ॥ १६ ॥

अत्र परमेश्वरविद्वत्प्रज्ञाधनप्राप्त्युपायगुणवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर! आपकी कृपा और हे विद्वन्! तेरे पुरुषार्थ से (स्वाहा) सत्याचरणरूप क्रिया से (मे) मेरे (इदम्) ये (ब्रह्म) वेद ईश्वर का विज्ञान वा इनका ज्ञाता पुरुष (च) और (क्षत्रम्) राज्य धनुर्वेद विद्या और क्षत्रिय कुल (च) भी ये (उभे) दोनों (श्रियम्) राज्य की लक्ष्मी को

(अश्नुताम्) प्राप्त हों जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (मयि) मेरे निमित्त (उत्तमाम्) अतिश्रेष्ठ (श्रियम्) शोभा व लक्ष्मी को (दधतु) धारण करें । हे जिज्ञासु जन ! (ते) तेरे लिये भी (तस्यै) उस श्री के अर्थ हम लोग प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन और विद्वानों की सेवा सत्कार से सब मनुष्यों के बीच से ब्राह्मण क्षत्रिय को सुन्दर शिक्षा विद्यादि सद्गुणों से संयुक्त और सब की उन्नति का विधान कर अपने आत्मा के तुल्य सब में वर्त्तें वे सब को पूजने योग्य होवें ॥ १६ ॥

इस अध्याय में परमेश्वर विद्वान् और बुद्धि तथा धन की प्राप्ति के उपायों का वर्णन होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतपरमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

ओ३म्

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

अस्यैत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्नयो देवताः ।
स्वराट् पाङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
अथाग्न्यादिपदार्थान् विज्ञाय कार्य्यं साध्यमित्याह ॥
अब तेंतीसवें अध्याय का आरम्भ है इस के प्रथम मन्त्र में अग्न्यादि पदार्थों को जान कार्य साधना चाहिये इस वि० ॥

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः । श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः ॥ १ ॥

अस्य । अजरासः । दमाम् । अरित्राः । अर्चद्धूमास इत्यर्चत्ऽधूमासः । अग्नयः । पावकाः । श्वितीचयः । श्वात्रासः । भुरण्यवः । वनर्षदः । वनसद इति वनऽसदः । वायवः । न । सोमाः ॥ १ ॥

पदार्थः—(अस्य) परमेश्वरस्य (अजरासः) वयोहानिरहिताः (दमाम्) गृहाणाम् । अत्र नुडभावे पूर्वसवर्णदीर्घः (अरित्राः) येऽरिभ्यस्त्रायन्ते ते (अर्चद्धूमासः) अर्चन्तः सुगन्धियुक्ता धूमा येषान्ते (अग्नयः) विद्युदादयः (पावकाः) पवित्रीकराः (श्वितीचयः) ये श्वितिं श्वेततां चिन्वन्ति ते (श्वात्रासः) श्वात्रं प्रवृद्धं धनं येषान्ते । श्वात्रमिति धननाः निघं० २ । १० (भुरण्यवः) धर्त्तारो गतिमन्तश्च (वनर्षदः) ये वनेषु रश्मिषु सीद-

न्ति ते । अत्र वा छन्दसीति रुडागमः (वायवः) पवनाः (न) इव (सोमाः) ऐश्वर्यप्रापकाः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या !येऽस्य जगदीश्वरस्य सृष्टावजरासोऽरित्रा अर्चद्धूमासः पावकाः श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवः सोमा अग्नयो वनर्षदो वायवो न दमां धारकाः सन्ति तान् यूयं विजानीत ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०-यदि मनुष्या अग्निवाय्वादीन् सृष्टिस्थान् पदार्थान् विजानीयुस्तर्हि तेभ्यो बहूनुपकारान् ग्रहीतुं शक्नुयुः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (अस्य) इस पूर्वोक्त ईश्वर की सृष्टि में (अजरासः) एकसी अवस्था वाले (अरित्राः) शत्रुओं से बचाने हारे (अर्चद्धूमासः) सुगन्धित धूमों से युक्त (पावकाः) पवित्रकारक (श्वितीचयः) श्वेतवर्ण को सञ्चित करने हारे (श्वात्रासः) धन को बढ़ाने के हेतु (भुरण्यवः) धारण करने हारे वा गमनशील (सोमाः) ऐश्वर्य को प्राप्त करने हारे (अग्नयः) विद्युत् आदि अग्नि (वनर्षदः) वनों वा किरणों में रहने हारे (वायवः) पवनों के (न) समान (दमाम्) घरों के धारण करने हारे उन को तुम लोग जानो ॥ १ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जो मनुष्य अग्नि वायु आदि सृष्टिस्थ पदार्थों को जानें तो इन से बहुत उपकारों को ग्रहण कर सकते हैं ॥ १ ॥

हरय इत्यस्य विश्वरूप ऋषिः । अग्नयो देवताः ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

हर॑यो धू॒मके॑तवो॒ वात॑जूता॒ उप॒ द्यवि॑ । यत॑न्ते॒ वृथ॑ग॒ग्नय॑: ॥ २ ॥

हरयः । धूमकेतवऽइति धूमऽकेतवः । वातजूताऽइति वातऽजूताः । उप । द्यवि । यतन्ते । वृथक् । अग्नयः ॥ २ ॥

पदार्थः-(हरयः) हरणशीलाः (धूमकेतवः) केतुरिव धूमो ज्ञापको येषान्ते (वातजूताः) वायुना प्राप्ततेजस्काः (उप) (द्यवि) प्रकाशे (यतन्ते) (वृथक्) पृथक् । वर्णव्यत्ययः (अग्नयः) पावकाः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! ये धूमकेतवो वातजूता हरयोऽग्नयो वृथक् द्यवि उप यतन्ते तान् कार्य्यसिद्धये संप्रयुङ्ग्ध्वम् ॥ २ ॥

भावार्थः-हे मनुष्या ! येषां धूमो विज्ञापको वायुः प्रदीपको हरणशीलता च येषु वर्त्तते तेऽग्नयः सन्तीति विजानीत ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (धूमकेतवः) जिन का जताने वाला धूम ही पताका के तुल्य है (वातजूताः) वायु से तेज को प्राप्त हुए (हरयः) हरणशील (अग्नयः) पावक (वृथक्) नाना प्रकार से (द्यवि) प्रकाश के निमित्त (उप, यतन्ते) यत्न करते हैं उन को कार्य्य सिद्धि के अर्थ उपयोग में लाओ ॥ २ ॥

भावार्थः-हे मनुष्यो! जिन का धूम ज्ञान कराने और वायु जलाने वाला है और जिन में हरणशीलता वर्त्तमान है वे अग्नि हैं ऐसा जानो ॥ २ ॥

यजानः इत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
विद्वद्भिर्मनुष्यैः किं कार्य्यमित्याह ॥
विद्वान् मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२॥ऽऋतं बृहत्।
अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥ ३ ॥

यज। नः। मित्रावरुणा। यज। देवान्। ऋतम्।
बृहत्। अग्ने। यक्षि। स्वम्। दमम्॥ ३ ॥

पदार्थः-(यज) सत्कुरु (नः) अस्माकम् (मित्रावरुणा) सुहृच्छ्रेष्ठौ (यज) देह्युपदिश। अत्रोभयत्र द्व्यचोतस्तिङ इतिदीर्घः (देवान्) विदुषश्च (ऋतम्) सत्यम् (बृहत्) महत् (अग्ने) विद्वन्! (यक्षि) संगमय (स्वम्) स्वकीयम् (दमम्) गृहम्॥ ३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने! त्वं नो मित्रावरुणा देवांश्च यज बृहदृतं यज येन स्वं दमं यक्षि॥ ३ ॥

भावार्थः-हे विद्वांसो जना! अस्माकं मित्र श्रेष्ठविदुषां सत्कर्त्तारः सत्योपदेशकाः स्वगृहकार्य्यसाधका यूयं भवत॥ ३ ॥

पदार्थः-हे (अग्ने) विद्वन्! आप (नः) हमारे (मित्रावरुणा) मित्र और श्रेष्ठ जनों तथा (देवान्) विद्वानों का (यज) सत्कार कीजिये (बृहत्) बड़े (ऋतम्) सत्य का (यज) उपदेश कीजिये जिस से (स्वम्) अपने (दमम्) घर को (यक्षि) संगत कीजिये॥ ३ ॥

भावार्थः-हे विद्वान् मनुष्यो! हमारे मित्र, श्रेष्ठ और विद्वानों का सत्कार करने हारे सत्य के उपदेशक और अपने घर के कार्यों को सिद्ध करने हारे तुम लोग होओ॥३॥

युक्ष्वेत्यस्य विश्वरूप ऋषिः। अग्निर्देवता।
निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥
पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर उसी वि०॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥अश्वाँ॥ऽअग्ने रथीरिव।
नि होता पूर्व्यः सदः॥ ४ ॥

युक्ष्व । हि । देवहूतमानिति देवऽहूतमान् । अश्वान् । अग्ने । र॒थीरिवेति र॒थीःऽइव । नि । होता । पूर्व्यः । सदः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(युक्ष्व) योजय । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (हि) खलु (देवहूतमान्) ये देवैर्विद्वद्भिर्हूयन्ते स्तूयन्ते तेऽतिशयितास्तान् (अश्वान्) आशुगामिनोऽग्न्यादीन् तुरङ्गान् वा (अग्ने) विद्वन् ! (रथीरिव) यथा सारथिस्तथा अत्र मत्वर्थे ईर् प्रत्ययः (नि) नितराम् (होता) आदाता (पूर्व्यः) पूर्वैः कृतविद्यः (सदः) अत्राडभावः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं रथीरिव देवहूतमानश्वान् युक्ष्व होता पूर्व्यः सन् हि नि सदः ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा सुशिक्षितः सारथिरश्वैरनेकानि कार्य्याणि साध्नोति तथा कृतविद्यो जनोऽग्न्यादिभिरनेकानि कार्याणि साध्नुयात् ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! आप (रथीरिव) सारथि के समान (देवहूतमान्) विद्वानों से अत्यन्त स्तुति किये हुए (अश्वान्) शीघ्रगामी अग्नि आदि वा घोड़ों को (युक्ष्व) युक्त कीजिये (पूर्व्यः) पूर्वज विद्वानों से विद्या को प्राप्त (होता) ग्रहण करते हुए (हि) निश्चय कर (नि, सदः) स्थिर हूजिये ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जैसे उत्तम शिक्षित सारथि घोड़ों से अनेक कार्य्यों को सिद्ध करता है वैसे विद्वान् जन अग्नि आदि से अनेक कार्य्यों को सिद्ध करें ॥ ४ ॥

द्वे इत्यस्य कुत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

रात्रिदिवसौ जगत्पालकावित्याह ॥

रात्रि दिन जगत् की रक्षा करने वाले हैं इस वि० ॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वृत्समुपधापयेते । हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥५॥

द्वेऽइति द्वे । विरूपेऽइति विऽरूपे । चरतः । स्वर्थेऽइति सुऽअर्थे । अन्यान्येत्यन्याऽअन्या । वत्सम् । उप । धापयेतेऽइति धापयेते । हरिः । अन्यस्याम् । भवति । स्वधावानिति स्वधाऽवान् । शुक्रः । अन्यस्याम् । ददृशे । सुवर्चाऽइति सुऽवर्चाः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(द्वे) (विरूपे) विरुद्धस्वरूपे (चरतः) (स्वर्थे) सुष्ठु अर्थः प्रयोजनं ययोस्ते (अन्यान्या) भिन्ना भिन्ना एकैका कालभेदेन (वत्सम्) वसन्ति भूतान्यस्मिंस्तं संसारं वदति सततमिति वत्सो बालस्तं वा (उप) (धापयेते) पाययतः (हरिः) मनोहारी चन्द्रो बालो वा (अन्यस्याम्) रात्रौ योषिति वा (भवति) (स्वधावान्) प्रशस्तस्वधा अमृतरूपा गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः (शुक्रः) पावकः सूर्य्य आशुकारी बालश्च (अन्यस्याम्) प्रकाशरूपायां दिवसवेलायां जायायां वा (ददृशे) दृश्यते (सुवर्चाः) सुष्ठु तेजाः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यथा स्वर्थे द्वे विरूपे स्त्रियौ चरतोऽन्यान्या च वत्समुपधापयेते तयोरन्यस्यां स्वधावान् हरिर्भवति शुक्रः सुवर्चा अन्यस्यां ददृशे तथा द्वे रात्र्यहनी वर्त्तेते इति जानीत ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रानुभयाभेदरूपकोऽलङ्कारः—यथा द्वे स्त्रियौ वा गावावपत्यप्रयोजने पृथक् पृथक् वर्त्तमाने कालभेदेनैकं बालं पालयेतां तयोरेकस्यां हृद्यो महागुणी शान्तिशीलो बालो जायेत, एकस्याञ्च शीघ्रकारी तेजस्वी शत्रुतापको बालो जायेत तथा द्वे रात्र्यहनी भिन्नस्वरूपे कालभेदेनैकं संसारं पालयतः। कथं रात्रिरमृतवर्षकं चित्तप्रसादकं चन्द्रमसमुत्पाद्य दिवसरूपा च पावकरूपं शोभनप्रकाशं सूर्यमुत्पादयेति पूर्वान्वयः ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (स्वर्थे) सुन्दर प्रयोजन वाली (द्वे) दो (विरूपे) भिन्न २ रूप की स्त्रियां (चरतः) भोजनादि आचरण करती हैं और (अन्यान्या) एक २ अलग २ समय में (वत्सम्) निरन्तर बोलने वाले एक बालक को (उप,धापयेते) निकट कर दूध पिलाती हैं उन दोनों में से (अन्यस्याम्) एक में (स्वधावान्) प्रशस्त शान्ति आदि अमृत तुल्य गुणयुक्त (हरिः) मन को हरने वाला पुत्र (भवति) होता और (शुक्रः) शीघ्रकारी (सुवर्चाः) सुन्दर तेजस्वी (अन्यस्याम्) दूसरी में हुआ (ददृशे) दीख पड़ता है वैसे ही सुन्दर प्रयोजन वाले दो काले श्वेत भिन्न रूप वाले रात्रि दिन वर्त्तमान हैं और एक २ भिन्न २ समय में एक संसार रूप बालक को दुग्धादि पिलाते हैं उन दोनों में से एक रात्रि में अमृतरूप गुणों वाला मन का प्रसादक चन्द्रमा उत्पन्न होता और द्वितीय दिन रूप वेला में पवित्रकर्त्ता सुन्दर तेज वाला सूर्य रूप पुत्र दीख पड़ता है ऐसा तुम लोग जानो ॥ ५ ॥

भावार्थः-इस मन्त्र में अनुभयाभेदरूपकालङ्कार है—जैसे दो स्त्रियां वा गायें सन्तान प्रयोजन वाली पृथक् २ वर्तमान भिन्न २ समय में एक बालक की रक्षा करें उन

दोनों में से एक में हृदय को प्यारा महागुणी शान्तिशील बालक हो और दूसरी में शीघ्रकारी तेजस्वी शत्रुओं को दुःखदायी बालक होवे वैसे भिन्न स्वरूप वाले दो रात्रि दिन अलग २ समय में एक संसाररूपबालक की पालना करते हैं किस प्रकार:—रात्रि अमृत वर्षक चित्त को प्रसन्न करने हारे चन्द्रमारूपबालक को उत्पन्न करके और दिन रूप स्त्री तेजोमय सुन्दर प्रकाश वाले सूर्य्यरूप पुत्र को उत्पन्न करके ॥ ५ ॥

अयमित्यस्य कुत्स ऋषिः । अग्निर्देवता ।

भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

विद्वद्भिः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

विद्वानों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ ६ ॥

अयम् । इह । प्रथमः । धायि । धातृभिरिति धातृऽभिः । होता । यजिष्ठः । अध्वरेषु । ईड्यः । यम् । अप्नवानः । भृगवः । विरुरुचुरिति विऽरुरुचुः । वनेषु । चित्रम् । विभ्वमिति विऽभ्वम् । विशेविशऽइति विशेऽविशे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अयम्) विद्युदादिस्वरूपः (इह) अस्मिन् संसारे (प्रथमः) विस्तीर्णः (धायि) ध्रियते (धातृभिः) धर्तृभिः (होता) सुखदाता (यजिष्ठः) अतिशयेन यष्टा सङ्गमयिता (अध्वरेषु) अहिंसनीयेषु व्यवहारेषु (ईड्यः) अध्येषणीयः (यम्)

(अप्नवानः) सुसन्तानयुक्ताः सुशिष्याः (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः (विरुरुचुः) विशेषेण दीपयेयुः (वनेषु) किरणेषु वा (चित्रम्) अद्भुतगुणकर्मस्वभावम् (विभ्वम्) विभुं विद्युदाख्यमग्निम्(विशे, विशे)प्रजायै, प्रजायै ॥६॥

अन्वयः- हे मनुष्या ! यथा धातृभिरिह विशेविशेऽयं प्रथमो होता यजिष्ठोऽध्वरेष्वीड्यो धायि यथा भृगवश्चाप्नवानो यं वनेषु चित्रं विभ्वं विरुरुचुस्तं यूयं धरत प्रकाशयत च ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये विद्वांस इह विद्युद्विद्यां जानन्ति ते सर्वाः प्रजाः सर्वसुखयुक्ताः कर्त्तुं शक्नुवन्ति ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (धातृभिः) धारण करने वालों से (इह) इस संसार में (विशे विशे) प्रजा २ के लिये (अयम्) यह (प्रथमः) विस्तार वाला (होता) सुखदाता (यजिष्ठः) अतिशय कर संगत करने वाला (अध्वरेषु) रक्षणीय व्यवहारों में (ईड्यः) खोजने योग्य विद्युत् आदि स्वरूप अग्नि (धायि) धारण किया जाता और जैसे (भृगवः) दृढ ज्ञान वाले (अप्नवानः) सुसन्तानों के सहित उत्तम शिष्य लोग (यम्) जिस (वनेषु) वनों वा किरणों में (चित्रम्) आश्चर्यरूप गुण कर्म स्वभाव वाले (विभ्वम्) व्यापक विद्युत्रूप अग्नि को (विरुरुचुः)विशेष कर प्रदीप्त करें वैसे उसको तुम लोग भी धारण और प्रकाशित करो ॥ ६ ॥

भावार्थः-इस मंत्र में वाचकलु०—जो विद्वान् लोग इस संसार में बिजुली की विद्या को जानते हैं वे सब प्रकार प्रजाओं को सब सुखों से युक्त करने को समर्थ होते हैं ॥ ६ ॥

त्रीणि शतेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।
स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
शिल्पिनो विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥
कारीगर विद्वान् क्या करें इस वि० ॥

त्रीणि श॒ता त्री स॒हस्रा॑ण्य॒ग्निं त्रि॒ꣳशच्च॑ दे॒वा नव॑ चासपर्यन् । औक्ष॑न् घृ॒तैरस्तृ॑ण॒न्ब॒र्हिर॑स्मा॒ऽआदिद्धोता॑रं॒ न्यसादयन्त ॥ ७ ॥

त्रीणि । श॒ता । त्री । स॒हस्रा॑णि । अ॒ग्निम् । त्रि॒ꣳशत् । च॒ । दे॒वाः । नव॑ । च॒ । अ॒स॒प॒र्य॒न् । औक्ष॑न् । घृ॒तैः । अस्तृ॑णन् । ब॒र्हिः । अ॒स्मै॒ । आत् । इत् । होता॑रम् । नि । अ॒सा॒द॒य॒न्त॒ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(त्रीणि) (शता) शतानि (त्री) त्रीणि (सहस्राणि) सहस्रक्रोशमार्गम् (अग्निम्) (त्रिंशत्) पृथिव्यादीन् (च) (देवाः) विद्वांसः (नव) (च) (असपर्यन्) सिंचेरन् (औक्षन्) सिञ्चेरन् (घृतैः) घृतादिभिरुदकेन वा (अस्तृणन्) आच्छादयन्तु (बर्हिः) अन्तरिक्षम् (अस्मै) अग्नये (आत्) अभितः (इत्) एव (होतारम्) हवनकर्त्तारम् (नि) नितराम् (असादयन्त) स्थापयन्तु ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा त्रिंशच्च नव च देवास्त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निमसपर्यन् घृतैरौक्षन् बर्हिरस्तृणन्नस्मै होतारमादिन्न्यसादयन्त तथा यूयमपि कुरुत ॥ ७ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलु०— ये शिल्पिनो विद्वांसोऽग्निजलादि पदार्थान् यानेषु संप्रयोज्योत्तममध्यमनिकृष्टवेगैरनेकानि शतानि सहस्राणि कोशान्मार्गं गन्तुं शक्नुयुस्तेऽन्तरिक्षेऽपि यातुं समर्था जायन्ते ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (त्रिंशत्) पृथिवी आदि तीस (च) और (नव) नव प्रकार के (च) ये सब और (देवाः) विद्वान् लोग (त्रीणि) तीन (शता) सौ (त्री) तीन (सहस्राणि) हजार कोश मार्ग में (अग्निम्) अग्नि को (असपर्य्यन्) सेवन करें (घृतैः) घी वा जलों से (औक्षन्) सींचें (बर्हिः) अन्तरिक्ष को (अस्तृणन्) आच्छादित करें (अस्मै) इस अग्नि के अर्थ (होतारम्) हवन करने वाले को (आत् इत्) सब ओर से ही (नि, असादयन्त) निरन्तर स्थापित करें वैसे तुम लोग भी करो ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो शिल्पी विद्वान् लोग अग्नि जलादि पदार्थों को यानों में संयुक्त कर उत्तम, मध्यम, निकृष्ट वेगों से अनेक सैकड़ों हजारों कोस मार्ग को जा सकें वे आकाश में भी जा आ सकते हैं ॥ ७ ॥

मूर्द्धानमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । विद्वांसो देवता ।
भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् । कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ ८ ॥

मूर्द्धानम् । दिवः । अरतिम् । पृथिव्याः । वैश्वानरम् । ऋते । आ । जातम् । अग्निम् । कविम् । सम्राजमिति सम्ऽराजम् । अतिथिम् । जनानाम् । आसन् । आ । पात्रम् । जनयन्त । देवाः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(मूर्द्धानम्) शिरोवदुन्नतप्रदेशे सूर्यरूपेण वर्त्तमानम् (दिवः) आकाशस्य (अरतिम्) प्राप्तम् (पृथिव्याः) (वैश्वानरम्) विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितम् (ऋते) यज्ञनिमित्तम् (आ) समन्तात् (जातम्) प्रादुर्भूतम् (अग्निम्) पावकम् (कविम्) क्रान्तदर्शकम् (सम्राजम्) यः सम्यग्राजते तम् (अतिथिम्) अतिथिवद्वर्त्तमानम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (आसन्) मुखे उत्पन्नम् (आ) समन्तात् (पात्रम्) पान्ति रक्षन्ति येन तम् (जनयन्त) प्रादुर्भावयेयुः (देवाः) विद्वांसः ॥ ८ ॥

अन्वयः–हे मनुष्या! यथा देवा दिवो मूर्द्धानं पृथिव्या अरतिं वैश्वानरमृत आजातम् कविम् सम्राजम् जनानामतिथिम् पात्रमासन्नग्निमाजनयन्त तथा यूयमप्येनम् प्रादुर्भावयत ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये पृथिव्यप्वाय्वाकाशेषु व्याप्तम् विद्युदाख्यमग्निं प्रादुर्भाव्य यन्त्रादिभिर्युक्त्या चालयेयुस्ते किं किं कार्यं न साधयेयुः ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (दिवः) आकाश के (मूर्द्धानम्) उपरिभाग में सूर्यरूप से वर्त्तमान (पृथिव्याः) पृथिवी को (अरतिम्) प्राप्त होने वाले (वैश्वानरम्) सब मनुष्यों के हितकारी (ऋते) यज्ञ के निमित्त (आ, जातम्) अच्छे प्रकार प्रकट हुए (कविम्) सर्वत्र दिखाने वाले (सम्राजम्) सम्यक् प्रकाशमान (जनानाम्) मनुष्यों के (अतिथिम्) अतिथि के तुल्य प्रथम भोजन का भाग लेने वाले (पात्रम्) रक्षा के हेतु (आसन्) ईश्वर के

सुखरूप सामर्थ्य में उत्पन्न हुए जो (अग्निम्) अग्नि को (आ,जनयन्त) अच्छे प्रकार प्रगट करें वैसे तुम लोग भी इस को प्रगट करो ॥८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०— जो लोग पृथिवी जल वायु और आकाश में व्याप्त विद्युत्रूप अग्नि का प्रकट कर यन्त्र कलादि और युक्ति से चलावें वे किस २ कार्य को न सिद्ध करें ॥८॥

अग्निरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यः सूर्यवद्दोषान् हन्यादित्याह ॥
मनुष्य सूर्य के तुल्य दोषों को विनाशें इस वि० ॥

अ॒ग्निर्वृ॒त्राणि॑ जङ्घनद्द्रविण॒स्युर्वि॑प॒न्यया॑ ।
समि॑द्धः शु॒क्र आहु॑तः ॥ ९ ॥

अ॒ग्निः । वृ॒त्राणि॑ । ज॒ङ्घ॒न॒त् । द्र॒वि॒ण॒स्युः । वि॒प॒न्यया॑ । समि॑द्ध॒ इति॒ सम्ऽइ॑द्धः । शु॒क्रः । आहु॑त॒ इत्याऽहु॑तः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सूर्यादिरूपः (वृत्राणि) मेघावयवान् (जङ्घनत्) भृशं हन्ति (द्रविणस्युः) (आत्मनो द्रविणमिच्छुः (विपन्यया) विशेषव्यवहारयुक्तया (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्तः (शुक्रः) शीघ्रकर्त्ता (आहुतः) कृताह्वानः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यथा समिद्धः शुक्रोऽग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्तथा द्रविणस्युराहुतो भवान् विपन्यया दुष्टान् भृशं हन्यात् ॥९॥

भावार्थः अत्रवाचकलु०—यथा व्यवहारवित्पुरुषो धनं प्राप्य सत्कृतो भूत्वा दोषान् हन्ति तथा सूर्यो मेघं ताडयति ॥९॥

पदार्थः—हेविद्वन्! जैसे (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त (शुक्रः) शीघ्रकारी (अग्निः) सूर्य्यादि रूप अग्नि (वृत्राणि) मेघ के अवयवों को (जङ्घनत्) शीघ्र काटताहै वैसे (द्रविणस्युः) अपने को धन चाहने वाले (आहुतः) बुलाये हुए आप (विपन्यया) विशेष व्यवहार की युक्ति से दुष्टों को शीघ्र मारिये ॥ ९ ॥

भावार्थः—इसमन्त्र में वाचकलु०—जैसे व्यवहार का जानने वाला पुरुष धनको पाके सत्कार को प्राप्त होकर दोषों को नष्ट करता है वैसे सूर्य्य मेघ को ताड़ना देताहै॥९॥

विश्वेभिरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । अग्निर्देवता ।
विराट् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना । पिबा मित्रस्य धामभिः॥१०॥

विश्वेभिः । सोम्यम् । मधु । अग्ने । इन्द्रेण । वायुना। पिब । मित्रस्य । धामभिरिति धामऽभिः॥१०॥

पदार्थः—(विश्वेभिः) अखिलैः (सौम्यम्) सोमेष्वोषधीषु भवम् (मधु) मधुरादिगुणयुक्तं रसम् (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमानविद्वन् ! (इन्द्रेण) सर्वेषां धारकेण (वायुना) बलवता पवनेन (पिब) । अत्रद्व्यचोतस्तिङइति दीर्घः (मित्रस्य) सुहृदः (धामभिः) स्थानैः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं ! यथा सूर्यो विश्वेभिर्धामभिरिन्द्रेण वायुना सहसोम्यं मधु पिबति तथा मित्रस्य विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु रसं त्वं पिब॥ १०॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०–हे मनुष्या ! यूयं यथा सूर्यः सर्वस्माद्रसमाकृष्य वर्षित्वा सर्वान् पदार्थान् पुष्णाति तथा विद्याविनयाभ्यां सर्वान् पुष्णीत ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान तेजस्वि विद्वन् ! आप जैसे सूर्य (विश्वेभिः) सब (धामभिः) धामों से (इन्द्रेण) धन के धारक (वायुना) बलवान् पवन के साथ (सोम्यम्) उत्तम ओषधियों में हुए (मधु) मीठे आदि गुण वाले रस को पीता है वैसे (मित्रस्य) मित्र के सब स्थानों से सुन्दर ओषधियों के रस को (पिब) पीजिये ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०–हे मनुष्यो ! तुम लोग जैसे सूर्य सब पदार्थों से रस को खींच के वर्षा के सब पदार्थों को पुष्ट करता है वैसे विद्या और विनय से सब को पुष्ट करो ॥ १० ॥

ओं यदित्यस्य पराशर ऋषिः । अग्निर्देवता ।
विराट्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

आ यद्रिषे नृपतिं तेज आनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके । अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं जनयत्सूदयंच्च ॥ ११ ॥

आ । यत् । इषे । नृपतिमिति नृऽपतिम् । तेजः । आनट् । शुचि । रेतः । निषिक्तम् । निषिक्तमिति निऽसिक्तम् । द्यौः । अभीके । अग्निः । शर्द्धम् । अनवद्यम् । युवानम् । स्वाध्यमिति सुऽआध्यम् । जनयत् । सूदयत् । च ॥ ११ ॥

पदार्थः—(आ) (यत्) यदा (इषे) वृष्टयै (नृपतिम्) सूर्यं राजानमिव (तेजः) यज्ञोत्थम् (आनट्) समन्तात् व्याप्नोति । आनडिति व्याप्तिकर्मा० निघं० २ । १८ (शुचि) पवित्रम् (रेतः) वीर्यकरं जलम् (निषिक्तम्) अग्नावाज्यादिप्रक्षेपणेन नितरां सिक्तं विस्तृतम् (द्यौः) आकाशस्य । षष्ठ्यर्थेऽत्र प्रथमा । (अभीके) समीपे (अग्निः) सूर्यरूपः (शर्द्धम्) बलहेतुम् (अनवद्यम्) सर्वदोषरहितम् (युवानम्) युवत्वसम्पादकम् (स्वाध्यम्) यः सुष्ठु ध्यायते तम् (जनयत्) जनयति (सूदयत्) क्षरति वर्षयति (च) ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यदिषे निषिक्तं शुचि तेजो नृपतिमानट् तदाग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं रेतो द्यौरभीके जनयत्सूदयच्च ॥ ११ ॥

भावार्थः—यथाऽग्नौ हुतं द्रव्यं तेजसा सहैव सूर्यं प्राप्नोति सूर्यो वर्षित्वा सर्वान् पालयति तथा राजा प्रजाभ्यः करानाकृष्य जलाद्याकृष्य दुर्भिक्षे पुनर्दत्वा श्रेष्ठान् संपाल्य दुष्टान् सन्ताड्य प्रागल्भ्यं बलञ्च प्राप्नोति ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यत्) जब (इषे) वर्षा के लिये (निषिक्तम्) अग्नि में घृतादि के पड़ने से निरन्तर बढ़ा हुआ (शुचि) पवित्र (तेजः) यज्ञ से उठा तेज (नृपतिम्) जैसे राजा का तेज व्याप्त हो वैसे सूर्य को (आ,) आनट्) अच्छे प्रकार व्याप्त होता है तब (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (शर्द्धम्) बल हेतु (अनवद्यम्) निर्दोष (युवानम्) ज्वानी को करने हारे (स्वाध्यम्) जिस का सब चिन्तन करते (रेतः) ऐसे पराक्रमकारी वृष्टि जल को (द्यौः) आकाश के (अभीके) निकट (जनयत्) उत्पन्न करता (च) और (सूदयत्) वर्षा करता है ॥ ११ ॥

भावार्थः–इस मन्त्र में वाचकलु०–जैसे अग्नि में होम किया द्रव्य तेज के साथ ही सूर्य को प्राप्त होता और सूर्य जलादि को आकर्षण कर वर्षा करके सब की रक्षा करता है वैसे राजा प्रजाओं से करों को ले, दुर्भिक्षकाल में फिर दे श्रेष्ठों का सम्यक् पालन और दुष्टों को सम्यक् ताड़ना देके प्रगल्भता और बल को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अग्न इत्यस्य विश्ववारा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनर्विद्वद्भिः किं कार्यमित्याह ॥
फिर विद्वानों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अग्ने शर्द्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु । सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांꣳसि ॥ १२ ॥

अग्ने । शर्द्ध । महते । सौभगाय । तव । द्युम्नानि । उत्तमानीत्युत्ऽतमानि । सन्तु । सम् । जास्पत्यम् । जास्पत्यमिति जाःऽपत्यम् । सुयमम् । सुयममिति सुऽयमम् । आ । कृणुष्व । शत्रूयताम् । शत्रूयतामिति शत्रुऽयताम् । अभि । तिष्ठ । महांꣳसि ॥ १२ ॥

पदार्थः–(अग्ने) विद्वन्! राजन्वा! (शर्द्ध) दुष्टगुणशत्रुनाशकं बलम् । अत्र सुपां सुलुगिति सोर्लुक् शर्द्ध इति बल ना० निघं० २ । ९ (महते) (सौभगाय) शोभनैश्वर्यस्य भावाय (तव) (द्युम्नानि) धनानि यशांसि वा (उत्तमानि) श्रेष्ठानि (सन्तु) (सम्) (जास्पत्यम्) जायापतेर्भावं जास्पत्यम् । अत्र छान्दसो वर्णलोप इति या-

लोपः सुडागमश्च (सुयमम्) सुष्ठु यमो नियमो यस्मिंस्तम् (आ) (कृणुष्व) कुरुष्व (शत्रूयताम्) शत्रुत्वमिच्छताम् (अभि) (तिष्ठ। अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (महांसि) तेजांसि ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने! त्वं महते सौभगाय शर्द्धं कृणुष्व यतस्तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु त्वं जास्पत्यं सुयमं समाकृणुष्व शत्रूयतां महांस्यभितिष्ठ ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये सुसंयमिनो मनुष्याः सन्ति तेषां महदैश्वर्यं बलं कीर्त्तिः सुशीला भार्या शत्रुपराजयश्च भवति ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् वा राजन्! आप (महते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य के अर्थ (शर्द्ध) दुष्ट गुणों और शत्रुओं के नाशक बल को (आ कृणुष्व) अच्छे प्रकार उन्नत कीजिये जिस से (तव) आप के (द्युम्नानि) धन वा यश (उत्तमानि) श्रेष्ठ (सन्तु) हों आप (जास्पत्यम्) स्त्री पुरुष के भाव को (सुयमम्) सुन्दर नियमयुक्त शास्त्रानुकूल ब्रह्मचर्ययुक्त (सम्, आ) सम्यक् अच्छे प्रकार कीजिये और आप (शत्रूयताम्) शत्रु बनने की इच्छा करते हुए मनुष्यों के (महांसि) तेजों को (अभि, तिष्ठ) तिरस्कृत कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो अच्छे संयम में रहने वाले मनुष्य हैं उन के बड़ा ऐश्वर्य, बल, कीर्ति, उत्तम स्वभाव वाली स्त्री और शत्रुओं का पराजय होता है ॥ १२ ॥

त्वामित्यस्य भरद्वाज ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः।
भुरिक् पंक्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह

फिर उसी वि० ॥

त्वाᳪ हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यंग्ने। इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥ १३ ॥

त्वाम् । हि । मन्द्रतमुमिति मन्द्रऽतमम् । अर्कशोकैरित्यर्कऽशोकैः । वृवृमहे । महि । नः । श्रोषि अग्ने । इन्द्रम् । न । त्वा । शवसा । देवता । वायुम् । पृणन्ति । राधसा । नृतमाऽ इति । नृऽतमाः ॥ १३ ॥

पदार्थः-(त्वाम्) (हि) यतः (मन्द्रतमम्) अतिशयेन प्रशंसादिसत्कृतम् (अर्कशोकैः) अर्कः सूर्यइव शोका प्रकाशा येषान्तैः (ववृमहे) स्वीकुर्महे (महि) महद्वचः (नः) अस्माकं ब्रह्मचर्य्यादिसत्कर्मसु प्रवृत्तानाम् (श्रोषि) शृणोषि अत्र विकरणस्य लुक् (अग्ने) अग्निरिववर्त्तमान विद्वन् ! (इन्द्रम्) (सूर्य्यम्) (न)इव (त्वा) त्वाम् (शवसा) बलेन (देवता) दिव्यगुणयुक्तम् । अत्र सुपोलुक् (वायुम्) वातमिव (पृणन्ति) पिपुरति (राधसा) धनेन (नृतमाः) येऽतिशयेननेतारः श्रेष्ठा जनाः ॥ १३ ॥

अन्वयः-हे अग्ने! हि यतो नो महि श्रोषि तस्मान्मन्द्रतमं त्वामर्कशोकैर्वयं ववृमहे नृतमाः शवसा इन्द्रं न वायु मिव च देवता त्वा राधसा पृणन्ति ॥ १३ ॥

भावार्थः-अत्रोपमावाचकलु०-ये दुःखानि सोढ्वा सूर्यवत्तेजस्विनो वायुवद्बलिष्ठा विद्यासुशिक्षे गृह्णन्ति ते मेघेन सूर्यइव सर्वेषामानन्दकराः पुरुषोत्तमा जायन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः-हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान राजन्! वा विद्वज्जन! (हि) जिस से आप (नः) हम ब्रह्मचर्यादि सत्कर्मों में प्रवृत्त जनों के (महि) महत् गम्भीर वचन को (श्रोषि) सुनते हो इस से (मन्द्रतमम्) अतिशय कर प्रशं

सादि से सत्कार को प्राप्त (त्वाम्) आप को (अर्कशोकैः) सूर्य के समान प्रकाश से युक्त जनों के साथ हम लोग (वनूमहे) स्वीकार करते हैं और (नृतमाः) अतिशय कर नायक श्रेष्ठ जन (शवसा) बल से युक्त (इन्द्रम्) सूर्य के (न) समान तेजस्वी और (वायुम्) वायु के तुल्य वर्त्तमान बलवान् (देवता) दिव्य गुण युक्त (त्वा) आप को (राधसा) धन से (पृणन्ति) पालन वा पूर्ण करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—जो दुःखों को सहन कर सूर्य के समान तेजस्वि और वायु के तुल्य बलवान् विद्वान् मनुष्य विद्या सुशिक्षा का ग्रहण करते हैं वे मेघ से सूर्य जैसे वैसे सब को आनन्द देने वाले उत्तम पुरुष होते हैं ॥ १३ ॥

त्वे इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
विद्वद्वदितरजनैर्वर्त्तितव्यमित्याह ॥

विद्वानों के तुल्य अन्य जनों को वर्त्तना चाहिये इस वि० ॥

त्वे अंग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः । यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम् ॥ १४ ॥

त्वेऽइति त्वे । अग्ने । स्वाहुतेति सुऽआहुत । प्रियासः । सन्तु । सूरयः । यन्तारः । ये । मघवानऽइति मघऽवानः । जनानाम् । ऊर्वान् । दयन्त । गोनाम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(त्वे) तव (अग्ने) विद्वन्! (स्वाहुत) सुष्ठादत्तविद्य! (प्रियासः) प्रीतिकराः (सन्तु) (सूरयः) विद्वांसः (यन्तारः) निगृहीतेन्द्रियाः (ये) (मघवानः) बहुधनयुक्ताः (जनानाम्) मनुष्याणां मध्ये (ऊर्वान्) हिंसकान् (दयन्त)

दयन्ते घ्नन्ति (गोनाम्) पृथिवी धेन्वादीनाम् । अत्र गोः पादान्ते अ० ७ । १ । ५७ । इति नुडागमः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे स्वाहुताऽग्ने ! ये जनानां मध्ये वीरा यन्तारो मघवानो गोनामूर्वान्दयन्त ते सूरयस्त्वे प्रियासः सन्तु ॥ १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यथा विद्वांसोऽग्न्यादिपदार्थविद्यां गृहीत्वा विद्वत्प्रिया भूत्वा दुष्टान् हत्वा गवादीन् रक्षित्वा मनुष्यप्रिया भवन्ति तथा यूयमपि भवत ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (स्वाहुत) सुन्दर प्रकार से विद्या को ग्रहण किये हुए (अग्ने) विद्वन् ! (ये) जो (जनानाम्) मनुष्यों के बीच वीर पुरुष (यन्तारः) जितेन्द्रिय (मघवानः) बहुत धन से युक्त जन (गोनाम्) पृथिवी वा गौ आदि के (ऊर्वान्) हिंसकों को (दयन्त) मारते हैं वे (सूरयः) विद्वान् लोग (त्वे) आप के (प्रियासः) पियारे (सन्तु) हों ॥ १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जैसे विद्वान् लोग अग्नि आदि पदार्थों की विद्या को ग्रहण कर विद्वानों के पियारे हों, दुष्टों को मार और गौ आदिकी रक्षा कर मनुष्यों को पियारे होते हैं वैसे तुम भी करो ॥ १४ ॥

अश्रीत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता ।
बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥
अब राज धर्म वि० ॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः । आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्य्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम् ॥ १५ ॥

श्रुधि । श्रुत्कुर्णेति श्रुत्ऽकर्ण । वह्निभिरिति वह्निऽभिः । देवैः । अग्ने । सयावभिरिति सयावऽभिः । आ । सीदन्तु । बर्हिषि । मित्रः । अर्य्यमा । प्रातर्य्यावाणः । प्रतर्यावानऽइति प्रातःऽयावानः । अध्वरम् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(श्रुधि) शृणु (श्रुत्कर्ण !) अर्थिवचः श्रोतारौ कर्णौ यस्य तत्सम्बुद्धौ (वह्निभिः) कार्यनिर्वाहकैः (देवैः) विद्वद्भिः सह (अग्ने) पावकवद्वर्त्तमान विद्वन् राजन् वा! (सयावभिः) ये सह यान्ति तैः (आ) (सीदन्तु) (बर्हिषि) अन्तरिक्ष इव सभायाम् (मित्रः) पक्षपातरहितः सर्वेषां सुहृत् (अर्यमा) योऽर्यान् वैश्यान् स्वामिनो वा मन्यते सः (प्रातर्यावाणः) ये प्रातर्यान्ति राजकार्याणि प्रापयन्ति (अध्वरम्) अहिंसनीयराज्यव्यवहारम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे श्रुत्कर्णाग्ने ! सयावभिर्वन्हिभिर्देवैः सहाध्वरं श्रुधि। प्रातर्यावाणो मित्रोऽर्यमा च बर्हिष्यासीदन्तु ॥ १५ ॥

भावार्थः—सभापतिना राज्ञा सुपरीक्षितानमात्यान् स्वीकृत्य तैः सह सदसि स्थित्वा विवदमानवचांसि श्रुत्वा समीक्ष्ययथार्थो न्यायः कर्त्तव्यः॥१५

पदार्थः—हे (श्रुत्कर्ण) अर्थियों के वचनों को सुननेहारे (अग्ने) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान तेजस्वी विद्वन्! वा राजन्! आप (सयावभिः) जो साथ चलते उन (वह्निभिः) कार्यों का निर्वाह करने हारे (देवैः) विद्वानों के साथ (अध्वरम्) रक्षा के योग्य राज्यके व्यवहार को (श्रुधि) सुनिये तथा (प्रातर्यावाणः) प्रातःकाल राजकार्यों को प्राप्त करने हारे (मित्रः) पक्षपात रहित

सब का मित्र और (अर्यमा) वैश्य वा अपने अधिष्ठाताओं को यथार्थ मानने वाला ये सब (बर्हिषि) अन्तरिक्ष के तुल्य सभा में (आ, सीदन्तु) अच्छे प्रकार बैठें ॥ १५ ॥

भावार्थः—सभापति राजा को चाहिये कि अच्छे परीक्षित मन्त्रियों को स्वीकार कर उन के साथ सभा में बैठ विवाद करने वालों के वचन सुन के उन पर विचार कर यथार्थ न्याय करे ॥ १५ ॥

विश्वेषामित्यस्य गोतम ऋषिः अग्निर्देवता ।
स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम् । अग्निर्देवानामव आ वृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥ १६ ॥

विश्वेषाम् । अदितिः । यज्ञियानाम् । विश्वेषाम् । अतिथिः । मानुषाणाम् । अग्निः । देवानाम् । अवः । आवृणान इत्याऽवृणानः । सुमृडीक इति सुऽमृडीकः । भवतु । जातवेदा इति जातऽवेदाः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (अदितिः) अखण्डितबुद्धिः (यज्ञियानाम्) ये यज्ञं पूजनमर्हन्ति ते (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (अतिथिः) पूजनीयः (मानुषाणाम्)

मनुष्याणाम् (अग्निः) तेजस्वी राजा (देवानाम्) विदुषाम् (अवः) रक्षणादिकम् (आवृणानः) समन्तात् स्वीकुर्वन् (सुमृडीकः) सुष्ठु सुखप्रदः (भवतु) (जातवेदाः) आविर्भूतविद्यायोगप्रज्ञः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे सभापते! भवान् विश्वेषां यज्ञियानां देवानां मध्येऽदितिर्विश्वेषां मानुषाणामतिथिरव आवृणानः सुमृडीको जातवेदा अग्निर्भवतु ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः सर्वेषु विद्वत्सु गम्भीरबुद्धिः सर्वमनुष्येषु मान्यः प्रजारक्षादिराजकार्यं स्वीकुर्वाणः सर्वसुखदाता वेदादिशास्त्रवेत्ता शूरो भवेत्स राजा कर्त्तव्यः ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे सभापते! आप (विश्वेषाम्) सब (यज्ञियानाम्) पूजा सत्कार के योग्य (देवानाम्) विद्वानों के बीच (अदितिः) अखण्डित बुद्धि वाले (विश्वेषाम्) सब (मनुष्याणाम्) मनुष्यों में (अतिथिः) पूजनीय (अवः) रक्षा आदि को (आवृणानः) अच्छे प्रकार स्वीकार करते हुए (सुमृडीकः) सुन्दर सुख देने वाले (जातवेदाः) विद्या और योग के अभ्यास से प्रसिद्ध बुद्धि वाले (अग्निः) तेजस्वी राजा (भवतु) हूजिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो सब विद्वानों में गंभीर बुद्धि वाला सब मनुष्यों में माननीय प्रजा की रक्षा आदि राज कार्य्य को स्वीकार करता सब सुखों का दाता और वेदादि शास्त्रों का जानने वाला शूर वीर हो उसी को राजा करें ॥ १६ ॥

महो इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । सविता देवता ।
भुरिक्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

म॒हो अ॒ग्नेः स॑मि॒धान॑स्य॒ शर्म॒ण्यना॑गा मि॒त्रे वरु॑णे स्व॒स्तये॑। श्रेष्ठे॑ स्याम सवि॒तुः सवी॑मनि॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे ॥ १७ ॥

म॒हः । अ॒ग्नेः । स॒मि॒धान॑स्येति॑ स॒म्ऽइ॒धान॑स्य । शर्म॑णि । अना॑गाः । मि॒त्रे । वरु॑णे । स्व॒स्तये॑ । श्रेष्ठे॑ । स्या॒म॒ । स॒वि॒तुः । सवी॑मनि । तत् । दे॒वाना॑म् । अवः॑ । अ॒द्य । वृ॒णी॒म॒हे॒ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(महः) महतः (अग्नेः) विज्ञानवतः सभापतेः (समिधानस्य) प्रकाशमानस्य (शर्मणि) आश्रये (अनागाः) अनपराधिनः । अत्र सुपां सुलुगिति जसः स्थाने सुः (मित्रे) सुहृदि (वरुणे) स्वीकर्त्तव्ये जने (स्वस्तये) सुखाय (श्रेष्ठे) उत्तमे (स्याम) भवेम (सवितुः) सकलजगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य (सवीमनि) आज्ञायाम् (तत्) वेदोक्तम् (देवानाम्) विदुषाम् (अवः) रक्षणादिकम् (अद्य) अस्मिन् दिवसे । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (वृणीमहे) स्वीकुर्महे ॥ १७ ॥

अन्वयः—वयं राजपुरुषा महः समिधानस्याग्नेः शर्मणि श्रेष्ठे मित्रे वरुणे चानागाः स्याम । अद्य सवितुः सवीमनि वर्त्तमानाः स्वस्तये देवानां तदवो वृणीमहे ॥ १७ ॥

भावार्थः—धार्मिकविद्वद्भी राजपुरुषैरधर्मं विहाय धर्मं प्रवर्त्तित्वा परमेश्वरस्य सृष्टौ विविधा रचना दृष्ट्वा स्वेषामन्येषां च रक्षणं विधायेश्वरस्य धन्यवादा वाच्याः ॥ १७ ॥

पदार्थः—हम राज पुरुष (महः) बड़े (समिधानस्य) प्रकाशमान (अग्नेः) विज्ञानवान् सभापति के (शर्मणि) आश्रय में (श्रेष्ठे) श्रेष्ठ (मित्रे) मित्र और (वरुणे) स्वीकार के योग्य मनुष्यों के निमित्त (अनागाः) अपराध

रहित (स्याम) हों (अद्य) आज (सवितुः) सब जगत् के उत्पादक परमेश्वर की (सवीमनि) आज्ञा में वर्त्तमान (स्वस्तये) सुख के लिये (देवानाम्) विद्वानों के (तत्) उस वेदोक्त (अवः) रक्षा आदि कर्म को (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः—धार्मिक विद्वान् राजपुरुषों को चाहिये कि अधर्म को छोड़ धर्म में प्रवृत्त हों परमेश्वर की सृष्टि में विविध प्रकार की रचना देख अपनी और दूसरों की रक्षा कर ईश्वर का धन्यवाद किया करें ॥ १७ ॥

आप इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
अध्यापकोपदेशकौ किं कुर्यातामित्याह ॥
अध्यापक उपदेशक क्या करें इस वि० ॥

आपश्चित्पिप्युस्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र । याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वꣳहि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

आपः । चित् । पिप्युः । स्तर्य्यः । न । गावः । नक्षन् । ऋतम् । जरितारः । ते । इन्द्र । याहि । वायुः । न । नियुत ऽ इति निऽयुतः । नः । अच्छ । त्वम् । हि । धीभिः । दयसे । वि । वाजान् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(आपः) जलानि (चित्) अपि (पिप्युः) वर्द्धन्ते (स्तर्यः) स्तृणन्ति याभिस्ताः (न) इव (गावः) किरणाः (नक्षन्) व्याप्नुवन्ति (ऋतम्) सत्यम् (जरितारः) स्तावकाः (ते)

(इन्द्र) परमैश्वर्य्ययुक्त विद्वन् ! (याहि) (वायुः) पवनः (न) इव (नियुतः) वायोर्वेगादयो गुणाः (नः) अस्मान् (अच्छ) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (त्वम्) (हि) (धीभिः) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (दयसे) कृपां करोषि (चि) (वाजान्) विज्ञानवतः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! ते तव जरितार आप इव पिप्युः स्तर्यो गावो न ऋतं नक्षन् तथा वाजान्नो नियुतश्च वायुर्न त्वमच्छ याहि हि यतो धीभिर्विदयसे तस्माच्चिदपि सत्कर्त्तव्योसि ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यदि पदार्थानां गुणकर्मस्वभावस्तावका उपदेशकाऽध्यापकाःस्युस्तर्हि सर्वे मनुष्या विद्याव्यापिनः सन्तो दयावन्तो भवेयुः॥१८॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य युक्त विद्वन् ! (ते) आप के (जरितारः) स्तुति करने हारे (आपः) जलों के तुल्य (पिप्युः) बढ़ते हैं और (स्तर्यः) विस्तार के हेतु (गावः) किरणें (न) जैसे (ऋतम्) सत्य को (नक्षन्) व्याप्त होते हैं वैसे (वायुः) पवन के (न) तुल्य (वाजान्) विज्ञान वाले (नः) हम लोगों को और (नियुतः) वायु के वेग आदि गुणों को (त्वम्) आप (अच्छ) अच्छे प्रकार (याहि) प्राप्त हूजिये (हि) जिस कारण (धीभिः) बुद्धि वा कर्मों से (चि, दयसे) विशेष कर कृपा करते हो इस से (चित) भी सत्कार के योग्य हो ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो पदार्थों के गुण कर्म स्वभावों की स्तुति करने वाले उपदेशक और अध्यापक हों तो सब मनुष्य विद्या में व्याप्त हुवे दया वाले हों ॥ १८ ॥

गाव इत्यस्य पुरुमीढाजमीढावृषी । इन्द्रवायू देवते ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैराभूषणादि रक्षणीयमित्याह ॥

मनुष्यों को आभूषण आदि की रक्षा करनी चाहिये इस वि० ॥

गाव॒ उपा॑वताव॒तं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑ ।
उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑ ॥ १९ ॥

गावः॑ । उप॑ । अ॒व॒त॒ । अ॒व॒तम् । म॒ही इति॑ म॒ही । य॒ज्ञस्य॑ । र॒प्सुदा॑ । उ॒भा । कर्णा॑ । हि॒र॒ण्यया॑ ॥ १९ ॥

पदार्थः—(गावः) किरणा धेनवो वा (उप) समीपे (अवत) रक्षत (अवतम्) रक्षणीयं वेद्यादिगर्त्तम् (मही) महत्यौ द्यावापृथिव्यौ (यज्ञस्य) (रप्सुदा) ये रप्सु रूपं दत्तस्ते (उभा) द्वे (कर्णा) कर्णौ श्रोत्रे (हिरण्यया) हिरण्यप्रचुरे ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा गाव उभा रप्सुदा मही रक्षन्ति तथा यूयं हिरण्यया कर्णा यज्ञस्यावतमुपावत ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०— यथा सूर्य्यकिरणा गवादिपशवश्च सर्वं वस्तुजातं रक्षन्ति तथैव मनुष्यैरुक्तनादिनिर्मितं कुण्डलाद्याभूषणं सदा रक्षणीयम् ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (गावः) गौयें वा किरणें (उभा) दोनों (रप्सुदा) रूप देने वाली (मही) बड़ी आकाश पृथिवी की रक्षा करती है वैसे तुम लोग (हिरण्यया) सुवर्ण के आभूषण से युक्त (कर्णा) दोनों कानों और (यज्ञस्य) संगत यज्ञ के (अवतम्) वेदी आदि अवयवों की (उप, अवत) निकट रक्षा करो ॥ १९ ॥

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सूर्य किरण और गौ आदि पशु सब वस्तुमात्र की रक्षा करते हैं वैसे ही मनुष्यों को चाहिये कि सुवर्ण आदि के बने कुण्डल आदि आभूषण की सदा रक्षा करें ॥ १९ ॥

यदद्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । सविता देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
राजा कीदृशो भवेदित्याह ॥
राजा कैसा हो इस वि० ॥

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्य्यमा ।
सुवाति सविता भगः ॥ २० ॥

यत् । अद्य । सूरे । उदित इत्युत्ऽइते । अनागाः । मित्रः । अर्य्यमा । सुवाति । सविता । भगः ॥ २० ॥

पदार्थः—(यत्) यः (अद्य) (सूरे) सूर्य्ये (उदिते) (अनागाः) अधर्माचरणरहितः (मित्रः) सर्वेषां सुहृत् (अर्य्यमा) न्यायकारी (सुवाति) उत्पादयेत् (सविता) राजनियमैः प्रेरकः (भगः) ऐश्वर्य्यवान् ॥ २० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यद्योऽद्य उदिते सूरेऽनागा मित्रः सविता भगो-र्य्यमा स्वास्थ्यं सुवाति स राज्यं कर्त्तुमर्हेत् ॥ २० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यथोदितेऽर्के तमो निवृत्त्य प्रकाशे सति सर्वे आनन्दिता भवन्ति तथैव धार्मिके राजनि सति प्रजासु सर्वथा स्वास्थ्यं भवति ॥२०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यत्) जो (अद्य) आज (सूरे) सूर्य के (उदिते) उदय होते अर्थात् प्रातःकाल (अनागाः) अधर्म के आचरण से रहित (मित्रः) सुहृद् (सविता) राज्य के नियमों से प्रेरणा करने हारा (भगः) ऐश्वर्यवान् (अर्य्यमा) न्यायकारी राजा स्वस्थता को (सुवाति) उत्पन्न करे वह राज्य करने के योग्य होवे ॥ २० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जैसे सूर्य के उदय होते अन्धकार निवृत्त हो के प्रकाश के होने में सब लोग आनन्दित होते हैं वैसे ही धर्मात्मा राजा के होते प्रजाओं में सब प्रकार से स्वस्थता होती है ॥ २० ॥

आ सुत इत्यस्य सुनीतिर्ऋषिः । वेनो देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

आ सुते सिञ्चत श्रियꣳ रोदस्योरभिश्रियम् । रसा दधीत वृषभम् । *तं प्रत्नथाऽयं वेनः ॥२१॥

आ । सुते । सिञ्चत । श्रियम् । रोदस्योः । अभिश्रियमित्यभिऽश्रियम् । रसा । दधीत । वृषभम् ॥२१॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (सुते) उत्पन्ने जगति (सिञ्चत) (श्रियम्) शोभायुक्तम् (रोदस्योः) द्यावापृथिव्योः (अभिश्रियम्) अभितः शोभकम् (रसा) रसानन्दप्रदा जनाः । अत्र सुपामिति डादेशः (दधीत) (वृषभम्) बलिष्ठम् ॥ २१ ॥

* (तंप्रत्नथा । अयंवेनः) ये दो प्रतीकें पूर्व कहे अ० ७ मं० १२ । १६ की यहां किसी कर्मकाण्ड विशेष में बोलने के अर्थ रक्खीं है इसी लिये अर्थ नहीं किया वही पूर्वोक्त अर्थ जानना चाहिये ।

अन्वयः—हे मनुष्या! रसा यूयं सुते वृषभं रोदस्योरभिश्रियं श्रियं सभापतिमासिञ्चत स च युष्मान् दधीत ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैराज्योन्नत्या जगतः प्रकाशः सौन्दर्यादिगुणवान् बलिष्ठो विद्वान् शूरः पूर्णाङ्गो जनो राज्येऽभिषेक्तव्यः स च प्रजासु सुखं दध्यात् ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (रसा) आनन्द देने वाले तुम लोग (सुते) उत्पन्न हुए जगत् में (वृषभम्) अतिबली (रोदस्योः) आकाश पृथिवी को (अभिश्रियम्) सब ओर से शोभित करने हारे (श्रियम्) शोभायुक्त सभापति राजा का (आ, सिञ्चत) अच्छे प्रकार अभिषेक करो और वह सभापति तुम लोगों को (दधीत) धारण करे ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि राज्य की उन्नति से जगत् का प्रकाशक सुन्दरता आदि गुणों से युक्त अतिबलवान् विद्वान् शूर पूर्ण अवयवों वाले मनुष्य को राज्य में अभिषेक करें और वह राजा प्रजाओं में सुख धारण करे ॥ २१ ॥

आतिष्ठन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता।
भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ विद्युदग्निः कीदृश इत्याह ॥

अब विद्युत् अग्नि कैसा है इस वि० ॥

आ तिष्ठ॑न्तं॒ परि॒ विश्वे॑ अभूष॒ञ्छ्रियो॒ वसा॑नश्चरति॒ स्वरो॑चिः। म॒हत्तद्वृष्णो॒ असु॑रस्य॒ नामा वि॒श्वरू॑पो अ॒मृता॑नि तस्थौ ॥ २२ ॥

आ तिष्ठन्तमित्याऽतिष्ठन्तम् । परि । विश्वे । अ-भूषन् । श्रियः । वसानः । चरति । स्वरोचिरिति स्व-ऽरोचिः । महत् । तत् । वृष्णः । असुरस्य । नाम । आ । विश्वरूप इति विश्वऽरूपः । अमृतानि । त-स्थौ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(आतिष्ठन्तम्) समन्तात् स्थिरम् (परि) सर्वतः (विश्वे) सर्वे (अभूषन्) भूषयेयुः (श्रियः) धनानि शोभा वा (वसानः) स्वीकुर्वाणः (चरति) (स्वरोचिः) स्वकीया रोचिर्दीप्तिर्यस्य सः (महत्)(तत्) (वृष्णः) वर्षकस्य (असुरस्य) हिंसकस्यविद्युदाख्य-स्याग्नेः (नाम) संज्ञा (आ) (विश्वरूपः) विश्वं समग्रं रूपं यस्य सः (अमृतानि) नाशरहितानि वस्तूनि अत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी (तस्थौ) तिष्ठति ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो! विश्वे भवन्तो यथा श्रियो वसानः स्वरोचिर्वि-श्वरूपोऽग्निश्चरत्यमृतानि तस्थौ तथैतमातिष्ठन्तं पर्य्यभूषन् । यद्वृष्णोऽसु-रस्यास्य महन्नामास्ति तेन सर्वाणि कार्य्याण्यलंकुरुत ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यतोऽयं विद्युदाख्योऽग्निः सर्वपदार्थस्थोपि न किञ्चित्प्रकाशयति तस्मादस्यासुरेति नाम य एतद्विद्यां जानन्ति ते सर्वतः सुभूषिता भवन्ति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो! (विश्वे) सब आप जैसे (श्रियः) धनों वा शोभाओं को (वसानः) धारण करता हुआ (स्वरोचिः) स्वयमेव दीप्ति वाला (विश्वरूपः) सब पदार्थों में उन २ के रूप से व्याप्त अग्नि (चरति) विचरता और (अमृतानि) नाशरहित वस्तुओं में (तस्थौ) स्थित है वैसे इस

(आतिष्ठन्तम्) अच्छे प्रकार स्थिर अग्नि को (परि, अभूषन्) सब ओर से शोभित कीजिये । जो (वृष्णः) वर्षा करने हारे (असुरस्य) हिंसक इस विद्युद्रूप अग्नि का (महत्) बड़ा (तत्) वह परोक्ष (नाम) नाम है उस से सब कार्य्यों को शोभित करो ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जिस कारण यह विद्युद्रूप अग्नि सब पदार्थों में स्थित हुआ भी किसी को प्रकाशित नहीं करता इस से इस की असुर संज्ञा है जो इस विद्युत् विद्या को जानते हैं वे सब ओर से सुभूषित होते हैं ॥ २२ ॥

प्र व इत्यस्य शुचीक ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥
भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
मनुष्यैरीश्वर एव पूज्य इत्याह ॥

मनुष्य को ईश्वर ही की पूजा करनी चाहिये इस वि० ॥

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय वि॒श्वाभुवे॑ । इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑ख॒ꣳसहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥ २३ ॥

प्र । वः॒ । म॒हे । मन्द॑माना॒य । अन्ध॑सः । अर्च॑ । वि॒श्वान॑राय । वि॒श्वाभु॑व॒ इति॑ वि॒श्व॒ऽभुवे॑ । इन्द्र॑स्य । यस्य॑ । सुम॑ख॒मिति॒ सुऽम॑खम् । सहः॑ । महि॑ । श्रवः॑ । नृ॒म्णम् । च॒ । रोद॑सी॒ इति॒ रोद॑सी । स॒प॒र्यतः॑ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(प्र) (वः) युष्मभ्यम् (महे) महते (मन्दमानाय) आनन्दस्वरूपाय (अन्धसः) अन्नादेः । अत्र विभक्तिव्यत्ययः (अर्च) सत्कुरुत । अत्र वचनव्यत्ययौ द्व्यचोतस्तिङ-

इति दीर्घश्च (विश्वानराय) विश्वे नरा नायका यस्मात्तस्मै (विश्वाभुवे) यो विश्वे भवते प्राप्नोति विश्वाभूर्यस्य वा विश्वं भवति यस्मादिति वा तस्मै। अत्रोभयत्र संहितायामिति दीर्घः (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (यस्य) (सुमखम्) शोभना मखा यज्ञा यस्मात्तम् (सहः) बलम् (महि) महत् (श्रवः) यशः (नृम्णम्) धनम् (च) (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (सपर्य्यतः) सेवेते ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य! त्वं रोदसी यस्येन्द्रस्य सुमखं नृम्णं सहो महि श्रवश्च सपर्य्यतस्तस्मै विश्वानराय महे मन्दमानाय विश्वाभुवे प्रार्च स योऽन्धसः सुखं ददातु ॥ २३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! येनोत्पादितं धनं बलं च सर्वैः सेव्यते स एव महायशस्वी सर्वाध्यक्ष आनन्दमयः सर्वव्याप्त ईश्वरो युष्माभिः पूज्यः प्रार्थनीयश्च स युष्मभ्यं धनादिजन्यं सुखं दास्यति ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य! तुम (रोदसी) आकाश भूमि (यस्य) जिस (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (सुमखम्) सुन्दर यज्ञ जिस में हों ऐसे (नृम्णम्) धन (सहः) बल (च) और (महि) बड़े (श्रवः) यश को (सपर्यतः) सेवते हैं उस (विश्वानराय) सब मनुष्य जिस में हों (महे) महान् (मन्दमानाय) आनन्दस्वरूप (विश्वाभुवे) सब को प्राप्त वा सब पृथिवी के स्वामी वा संसार जिस से हो ऐसे ईश्वर के अर्थ (प्र, अर्च) पूजन करो अर्थात् उस को मानो वह (वः) तुम्हारे लिये (अन्धसः) अन्नादि के सुख को देवे ॥ २३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जिस के उत्पन्न किये धन और बलादि को सब सेवते उसी महाकीर्तिवाले सब के स्वामी आनन्दस्वरूप सर्वव्याप्त ईश्वर की तुमको पूजा और प्रार्थना करनी चाहिये वह तुम्हारे लिये धनादि से होने वाले सुख को देगा ॥ २३ ॥

बृहन्निदित्यस्य त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
मनुष्यः परमेश्वरमेव मित्रं कुर्यादित्याह ॥
मनुष्य परमेश्वर को ही मित्र करे इस वि० ॥

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २४ ॥

बृहन् । इत् । इध्मः । एषाम् । भूरि । शस्तम् । पृथुः । स्वरुः । येषाम् । इन्द्रः । युवा । सखा ॥ २४ ॥

पदार्थः—(बृहन्) महान् (इत्) एव (इध्मः) प्रदीप्तः (एषाम्) मनुष्याणाम् (भूरि) बहु (शस्तम्) स्तुत्यं कर्म (पृथुः) विस्तीर्णः (स्वरुः) प्रतापकः (येषाम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (युवा) प्राप्तयौवनः (सखा) मित्रम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—येषामिध्मः पृथुः स्वरुर्युवा बृहन्निन्द्रः सखाऽस्त्येषामिद्भूरि शस्तं भवति ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यस्योत्तमः परमेश्वरः सखा भवेत् स यथाऽस्मिन् ब्रह्माण्डे सूर्यः प्रतापयुक्तोऽस्ति तथा प्रतापयुक्तः स्यात् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(येषाम्) जिन का (इध्मः) तेजस्वी (पृथुः) विस्तार युक्त (स्वरुः) प्रतापी (युवा) ज्वान (बृहन्) महान् (इन्द्रः) उत्तम ऐश्वर्य वाला परमात्मा (सखा) मित्र है (एषाम्) उन (इत्) ही का (भूरि) बहुत (शस्तम्) स्तुति के योग्य कर्म होता है ॥ २४ ॥

भावार्थः-इस मन्त्र में वाचकलु०-जिस का उत्तम परमेश्वर मित्र होवे वह जैसे इस ब्रह्माण्ड में सूर्य्य प्रताप वाला है वैसे प्रताप युक्त हो ॥ २४ ॥

इन्द्र इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता।
निचृद् गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥
पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥
फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ २॥ ऽअभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥

इन्द्र। आ। इहि। मत्सि। अन्धसः। विश्वेभिः। सोमपर्वभिरिति सोमपर्वऽभिः। महान्। अभिष्टिः। ओजसा॥ २५ ॥

पदार्थः-(इन्द्र) ऐश्वर्यप्रद विद्वन्! (आ) (इहि) प्राप्नुहि (मत्सि) तृप्तो भव। मद तृप्तौ। शपोलुक् (अन्धसः) अन्नात् (विश्वेभिः) अखिलैः (सोमपर्वभिः) सोमाद्योषधीनामवयवैः (महान्) (अभिष्टिः) अभियष्टव्यः सर्वतः पूज्यः पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः (ओजसा) पराक्रमेण सह ॥ २५ ॥

अन्वयः-हे इन्द्र! यतस्त्वमोजसा सह महानभिष्टिर्विश्वेभिः सोमपर्वभिरन्धसो मत्सि तस्मादस्मानेहि ॥ २५ ॥

भावार्थः-हे मनुष्याः! यस्मादन्नादेर्मनुष्यादीनां शरीरादेर्निर्वाहो भवति तस्मादेषां वृद्धिसेवनाहारविहारा यथावद्विजानीयुः ॥ २५ ॥

पदार्थः-हे (इन्द्र) ऐश्वर्य देने वाले विद्वन्! जिस कारण आप (ओजसा) पराक्रम के साथ (महान्) बड़े (अभिष्टिः) सब ओर से सत्कार के

योग्य (विश्वेभिः) सब (सोमपर्वभिः) सोमादि ओषधियों के अवयवों और (अन्धसा) अन्न से (मत्सि) तृप्त होते हो इस से हम को (आ, इहि) प्राप्त हूजिये ॥ २५ ॥

भावार्थः- हे मनुष्यो ! जिस कारण अन्न आदि से मनुष्यादि प्राणियों के शरीरादि का निर्वाह होता है इस से इन के वृद्धि सेवन आहार और विहार यथावत् जानो ॥ २५ ॥

इन्द्र इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
राजपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ॥
राजपुरुष कैसे हों इस वि० ॥

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः । अहन्व्यꣳसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥ २६ ॥

इन्द्रः । वृत्रम् । अवृणोत् । शर्द्धनीतिरिति शर्द्धऽनीतिः । प्र । मायिनाम् । अमिनात् । वर्पणीतिः । वर्पनीतिरिति वर्पऽनीतिः । अहन् । व्यꣳसमिति विऽअꣳसम् । उशधगित्युशधक् । वनेषु । आविः । धेनाः । अकृणोत् । राम्याणाम् ॥ २६ ॥

पदार्थः-(इन्द्रः) सूर्यइव प्रतापी सभेशः (वृत्रम्) दुष्टं शत्रुं प्रकाशावरकम् मेघमिव धर्मावरकम् (अवृणोत्) युद्धाय वृणुयात् (शर्द्धनीतिः) शर्द्धस्य बलस्य नीतिर्नयनं प्रापणं यस्य (प्र) (मायिनाम्) माया कुत्सिता प्रज्ञा

विद्यते येषांन्तान्। अत्र कर्मणि षष्ठी (अमिनात्) हिंस्यात् (वर्पणीतिः) वर्पाणां नानाविधानां रूपाणां नीतिः प्राप्तिर्यस्य सः (अहन्) हन्यात् (व्यंसम्) विगता अंसाः भुजमूलानि यस्य तम् (उशधक्) य उशन्ति परस्वं कामयन्ति तान् दहति सः (वनेषु) स्थितं तस्करम् (आविः) प्रादुर्भूते (धेनाः) वाणीः (अकृणोत्) कुर्यात् (राम्याणाम्) रमयन्ति आनन्दयन्ति तेषाम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—शर्द्धनीतिर्वर्पनीतिरुशधगिन्द्रो वृत्रमवृणोत् मायिनां प्रामिणात् वनेषु व्यंसमहन् राम्याणां धेना आविरकृणोत्स एव राजा भवितुं योग्यः ॥ २६ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलु०—ये सूर्य्यवत्सुशिक्षिता वाचः प्रकटयन्ति अग्निर्वनानीव दुष्टान् शत्रून्दहन्ति दिनं रात्रिमिव छलकापट्याविद्यान्धकारादीन् निवर्त्तयन्ति बलमाविष्कुर्वन्ति ते सुप्रतिष्ठिता राजजना भवन्ति॥२६॥

पदार्थः—(शर्द्धनीतिः) बल को प्राप्त (वर्पणीतिः) नाना प्रकार के रूपों वाला (उशधक्) पर पदार्थों को चाहने वाले चोरादि को नष्ट करने हारा (इन्द्रः) सूर्य्य के तुल्य प्रतापी सभापति (वृत्रम्) प्रकाश को रोकने हारे मेघ के तुल्य धर्म के निरोधक दुष्ट शत्रु को (अवृणोत्) युद्ध के लिये स्वीकार करे (मायिनाम्) दुष्ट बुद्धि वाले छली कपटी आदि को (प्र, अमिनात्) मारे जो (वनेषु) वनों में रहने वाले (व्यंसम्) कपटी हैं भुजा जिस की ऐसे चोर को (अहन्) मारे और (राम्याणाम्) आनन्द देने वाले उपदेशकों की (धेनाः) वाणियों को (आविः, अकृणोत्) प्रकट करे वही राजा होने को योग्य है ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो सूर्य के तुल्य सुशिक्षित वाणियों को प्रकट करते, जैसे अग्नि वनों को वैसे दुष्ट शत्रुओं को मारते, दिन जैसे रात्रि को निवृत्त करे वैसे छल कपटता और अविद्यारूप अन्धकारादि को निवृत्त करते और बल को प्रकट करते हैं वे अच्छे प्रतिष्ठित राजपुरुष होते हैं ॥ २६ ॥

कुत इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
विराट् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किन्त इत्था । सम्पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे *॥ महाँ २ ॥ऽ इन्द्रो य ओजसा कदा चन स्तरीरसि कदा चन प्रयुच्छसि ॥ २७ ॥

कुतः । त्वम् । इन्द्र । माहिनः । सन् । एकः । यासि । सत्पत इति सत्ऽपते । किम् । ते । इत्था । सम् । पृच्छसे । समराण इति सम्ऽअराणः । शुभानैः । वोचेः । तत् । नः । हरिव इति हरिऽवः । यत् । ते । अस्मे इत्यस्मे ॥ २७ ॥

पदार्थः—(कुतः) कस्मात् (त्वम्) (इन्द्र) सभेश ! (माहिनः) पूज्यमानो महत्वेन युक्तः (सन्) (एकः)

* इस मन्त्र के आगे [महां०, कदा०, कदा०, ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७। ४० ॥ अ० ८। २। ३। में कहे क्रम से तीन मन्त्रों की किसी कर्मकाण्ड विशेष के लिये लिखी हैं इसी से इन का अर्थ यहां नहीं किया उक्त ठिकाने से जान लेना चाहिये ।

असहायः (यासि) गच्छसि (सत्पते) सतः सत्यस्य व्यवहारस्य सतां पुरुषाणां वा पालक ! (किम्) (ते) तव (इत्था) अस्माद्धेतोः (सम्) (पृच्छसे) पृच्छ । लेट् (समराणः) सम्यग्गच्छन् (शुभानैः) मङ्गलमयैर्वचनैस्सह (वोचेः) वदेः (तत्) एकाकिकारणम् (नः) अस्मान् (हरिवः) प्रशस्ता हरयो हरणशीला अश्वा विद्यन्ते यस्य तत्सम्बुद्धौ (यत्) यतः (ते) तव (अस्मे) वयम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे सत्पते इन्द्रमाहिनस्त्वमेकः सन् कुतो यासि?किन्त इत्था? हे हरिवो। यदस्मे ते तस्मात्समराणस्त्वन्नः सम्पृच्छसे शुभानैस्तद्वोचेश्च ॥ २७॥

भावार्थः—राजप्रजापुरुषैः सभाध्यक्ष एवं वक्तव्यः—हे सभापते! भवताऽसहायेन किमपि राजकार्य्यं न कर्त्तव्यम् । किन्तु सज्जनरक्षणे दुष्टताड़ने चास्मदादिसहाययुक्तेन सदैव स्थातव्यम् । शुभाचरणयुक्तेनास्मदादिशिष्टसम्मत्या मृदुवचनैश्च सर्वाः प्रजाः शासनीयाः ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे (सत्पते) श्रेष्ठ सत्य व्यवहार वा श्रेष्ठ पुरुषों के रक्षक (इन्द्र) सभापते ! (माहिनः) महत्त्वयुक्त सत्कार को प्राप्त (त्वम्) आप (एकः) असहायी (सन्) होते हुए (कुतः) किस कारण (यासि) प्राप्त होते वा विचरते हो? (किम्, ते) (इत्था) इस प्रकार करने में आप का क्या प्रयोजन है? । हे (हरिवः) प्रशंसित मनोहारी घोड़ों वाले राजन् ! (यत्) जिस कारण (अस्मे) हम लोग (ते) आप के हैं इस से (समराणः) सम्यक् चलते हुए आप (नः) हम को (सम्, पृच्छसे)पूछिये और (शुभानैः) मंगलमय वचनों के साथ (तत्) उस एकाकी रहने के कारण को (वोचेः) कहिये ॥ २७ ॥

भावार्थः—राज प्रजा पुरुषों को चाहिये कि सभाध्यक्ष राजा से ऐसा कहें कि हे सभापते! आप को विना सहाय के कुछ राजकार्य न करना चाहिये किन्तु आप को उचित है कि सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के ताड़न में अस्मदादि के सहाययुक्त सदैव रहें शुभाचरण से युक्त अस्मदादि शिष्टों की सम्मति पूर्वक कोमल वचनों से सब प्रजाओं को शिक्षा करें ॥ २७ ॥

आ तदित्यस्य गोरीवितिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान् । सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीꣳ सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ॥ २८ ॥

आ । तत् । ते । इन्द्र । आयवः । पनन्त । अभि । ये । ऊर्वम् । गोमन्तमिति गोऽमन्तम् । तितृत्सान् । सकृत्स्वमिति सकृत्ऽस्वम् । ये । पुरुपुत्रामिति पुरुऽपुत्राम् । महीम् । सहस्रधारामिति सहस्रऽधाराम् । बृहतीम् । दुदुक्षन् । दुधुक्षन्निति दुधुक्षन् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(आ) तत्) राजकर्म (ते) तव (इन्द्र) राजन्! (आयवः) ये सत्यं यन्ति ते मनुष्याः प्रजाः। आयव इति मनुष्यना० निघं० २ । ३ (पनन्त) प्रशंसेयुः (अभि) आभिमुख्ये (ये) (ऊर्वम्) हिंसकम् (गोमन्तम्)

दुष्टा गाव इन्द्रियाणि यस्य तम्(तितृत्सान्) तर्दितुं हिंसितुमिच्छेयुः । लेट् (सकृत्स्वम्) या सकृदेकवारं सूते ताम् (ये) (पुरुपुत्राम्) बहवोऽन्नादिव्यक्तिमन्तः पुत्रा यस्यास्ताम् (महीम्) महतीं भूमिम् (सहस्रधाराम्) सहस्त्र धारा हिरण्यादयो यस्यान्तां यद्वा या सहस्रमसङ्ख्यातं प्राणिजातं धरति (बृहतीम्) विस्तीर्णाम् (दुदुक्षन्) दोग्धुमिच्छेयुः । अत्र वर्णव्यत्ययेन घस्य दः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र! य आयवः सकृत्स्वं पुरुपुत्रां सहस्रधारां बृहतीं महीं दुदुक्षन् ये गोमन्तमूर्वमभितितृत्सान् ये च ते तदा पनन्त तान् त्वं सततमुन्नय ॥ २८ ॥

भावार्थः—ये राजभक्ता दुष्टहिंसका एकवारे बहुफलपुष्पप्रदां सर्वधारिकां भूमिं दोग्धुं समर्थास्स्युस्ते राजकार्याणि कर्त्तुमर्हेयुः ॥ २८॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) राजन्! (ये) जो (आयवः) सत्य को प्राप्त होने वाले प्रजा जन (सकृत्स्वम्) एक वार उत्पन्न करने वाली (पुरुपुत्राम्) बहुत अन्नादि व्यक्ति वाले पुत्रों से युक्त (सहस्रधाराम्) असंख्य सुवर्णादि धातु जिस में धारारूप हों वा असंख्य प्राणिमात्र को धारण करने हारी (बृहतीम्)विस्तारयुक्त (महीम्) बड़ी भूमि को (दुदुक्षन्) दोहना, चाहें अर्थात् उस से इच्छा पूर्ति किया चाहें (ये) जो मनुष्य (गोमन्तम्) खोटे इन्द्रियों वाले लंपट (ऊर्वम्) हिंसक जन को (अभि, तितृत्सान्) सन्मुख हो कर मारने की इच्छा करें और जो (ते) आप के (तत्) उस राज कर्म की (आ, पनन्त) प्रशंसा करें उन की आप उन्नति किया कीजिये ॥ २८ ॥

भावार्थः—जो लोग राजभक्त दुष्ट हिंसक एक वार में बहुत फल फूल देने और सब को धारण करने वाली भूमि के दुहने को समर्थ हों वे राज कार्य करने के योग्य होवें ॥ २८ ॥

इमामित्यस्य कुत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

इमान्ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे। तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ॥ २९ ॥

इमाम्। ते। धियम्। प्र। भरे। महः। महीम्। अस्य। स्तोत्रे। धिषणा। यत्। ते। आनजे। तम्। उत्सव इत्युत्ऽसवे। च। प्रसवऽइति प्रऽसवे। च। सासहिम्। ससाहिमिति ससहिम्। इन्द्रम्। देवासः। शवसा। अमदन्। अनु॥ २९॥

पदार्थः—(इमाम्) (ते) तव (धियम्) प्रज्ञां कर्म वा (प्र) (भरे) धरे (महः) महतः (महीम्) सुपूज्याम्। महीति वाङ्नाo निघंo १। ११ (अस्य) मम (स्तोत्रे) स्तवने (धिषणा) प्रज्ञा (यत्) यम् (ते) ताम्। अत्र कर्मणि षष्ठी (आनजे) व्यनक्ति (तम्) (उत्सवे) कर्त्तव्यानन्दसमये (च) (प्रसवे) उत्पत्तौ (च)(सासहिम्) भृशं सोढारम् (इन्द्रम्) परमबलयोगेन शत्रूणां विदारकम् (देवासः) विद्वांसः (शवसा) बलेन (अमदन्) आनन्देयुः (अनु) आनुकूल्येन ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे इन्द्राहं महीमिमान्ते धियं प्रभरे स्तोत्रेऽस्य धिषणा यत्त आनजे तं शवसा सासहिमिन्द्रं मह उत्सवे च प्रसवे च देवासोऽन्वमदन् ॥२९॥

भावार्थः—ये राजादयो मनुष्या विद्वद्भ्य उत्तमां प्रज्ञां वाचञ्च गृह्णन्ति ते सत्यानुकूलाः सन्तः स्वयमानन्दिता भूत्वाऽन्यानानन्दयन्ति ॥ २९ ॥

पदार्थः-हे सभाध्यक्ष! मैं (महीम्) सुन्दर पूज्य (इमाम्) इस (ते) आप की (धियम्) बुद्धि वा कर्म को (प्र, भरे) धारण करता हूं (स्तोत्रे) स्तुति होने में (अस्य) इस मेरी (धिषणा) बुद्धि (यत्) जिस (ते) आप को (आनजे) प्रकट करती है (तम्) उस (शवसा) बल के साथ (सासहिम्) शीघ्र सहने वाले (इन्द्रम्) उत्तम बल के योग से शत्रुओं को विदीर्ण करने हारे सभापति को (महः) महान् कार्य के (उत्सवे) करने योग्य आनन्द समय (च) और (प्रसवे) उत्पत्ति में (च) भी (देवासः) विद्वान् लोग (अनु, अमदन्) अनुकूलता से आनन्दित करें ॥ २९ ॥

भावार्थः—जो राजादि मनुष्य विद्वानों से उत्तम बुद्धि वा वाणी को ग्रहण करते हैं वे सत्य के अनुकूल हुए आप आनन्दित हो के औरों को प्रसन्न करते हैं ॥ २९ ॥

विभ्राडित्यस्य विभ्राडृषिः । सूर्यो देवता ।
विराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपंता-
वविंहुतम् । वातंजूतो यो अभि रक्षति त्मनां
प्रजाः पुपोष पुरुधा वि रांजति ॥ ३० ॥

विभ्राडिति वि॒ऽभ्राट् । बृहत् । पि॒बतु । सो॒म्यम् । मधु॑ । आयुः॑ । दध॑त् । य॒ज्ञप॑ता॒विति॑ य॒ज्ञऽप॑तौ । अवि॑ह्रुत॒मित्यवि॑ऽह्रुतम् । वात॑जूत॒ इति॒ वात॑ऽजूतः । यः । अ॒भि॒रक्ष॑ती॒त्य॑भि॒ऽरक्ष॑ति । त्मना॑ । प्र॒जा इति॑ प्र॒ऽजाः । पु॒पोष॑ । पु॒रु॒धा । वि । रा॒ज॒ति ॥ ३० ॥

पदार्थः—(विभ्राट्) यो विशेषेण भ्राजते सः (बृहत्) महत् (पिबतु) (सोम्यम्) सोमेष्वोषधीषु भवं रसम् (मधु) मधुरादिना गुणेन युक्तम् (आयुः) जीवनम् (दधत्) धरन् (यज्ञपतौ) यज्ञस्य युक्तस्य व्यवहारस्य पालके स्वामिनि (अविह्रुतम्) अखण्डितम् (वातजूतः) वायुना प्राप्तवेगः (यः) (अभिरक्षति) (त्मना) आत्मना (प्रजाः) (पुपोष) पुष्णाति (पुरुधा) बहुधा (वि) (राजति) विशेषेण प्रकाशते ॥ ३० ॥

अन्वयः—यो वातजूतः सूर्यइव विभ्राडविह्रुतमायुर्यज्ञपतौ दधत् त्मना प्रजा अभि रक्षति, पुपोष पुरुधा विराजति च स भवान् बृहत् सोम्यं मधु पिबतु ॥ ३० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे राजादयो मनुष्याः ! यथा सूर्यो वृष्टि द्वारा सर्वेषां जीवनं पालनं करोति तद्वत्सद्गुणैर्महान्तो भूत्वा न्यायविनयाभ्यां प्रजाः सततं रक्षन्तु ॥ ३० ॥

पदार्थः—(यः) जो (वातजूतः) वायु से वेग को प्राप्त सूर्य के तुल्य (विभ्राट्) विशेष कर प्रकाशवाला राजपुरुष (अविह्रुतम्) अखण्ड संपूर्ण

(आयुः) जीवन (यज्ञपतौ) युक्त व्यवहार पालक अधिष्ठाता में (दधत्) धारण करता हुआ (त्मना) आत्मा से (प्रजाः) प्रजाओं को (अभि, रक्षति) सब ओर से रक्षा करता हुआ (पुपोष) पुष्ट करता और (पुरुधा) बहुत प्रकारों से (वि, राजति) विशेष कर प्रकाशमान होता है सो आप (बृहत्) बड़े (सोम्यम्) सोमादि ओषधियों के (मधु) मिष्टादि गुण युक्त रस को (पिबतु) पीजिये ॥ ३० ॥

भावार्थः इस मन्त्र में वाचकलु०–हे राजादि मनुष्यो ! जैसे सूर्य्य वृष्टि द्वारा सब जीवों के जीवन पालन को करता है उस के तुल्य उत्तम गुणों से महान् हो के न्याय और विनय से प्रजाओं की निरन्तर रक्षा करो ॥ ३० ॥

उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता ।

निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ सूर्यमण्डलं कीदृशमित्याह ॥

अब सूर्य मण्डल कैसा है इस वि० ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ ३१ ॥

उँऽ इत्युँत् । उ । त्यम् । जातवेदसमिति जातऽवेदसम् । देवम् । वहन्ति । केतवः । दृशे । विश्वाय । सूर्य्यम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः–(उत्) आश्चर्ये (उ) (त्यम्) तम् (जातवेदसम्) जातेषु पदार्थेषु विद्यमानम् (देवम्) देदीप्यमानम् (वहन्ति) (केतवः) किरणाः (दृशे) दर्शनाय (विश्वाय) विश्वस्य । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (सूर्यम्) सवितृमण्डलम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः-हे मनुष्याः यं जातवेदसं देवं सूर्य्यं विश्वाय दृशे केतव उद्वहन्ति त्यमु यूयं विजानीत ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-यथा किरणैः सूर्यः संसारं दर्शयति स्वयं सुशोभते तथा विद्वांसोऽखिला विद्याः शिक्षा दर्शयित्वा सुशोभेरन् ॥ ३१ ॥

पदार्थः-हे मनुष्यो! जिस (जातवेदसम्) उत्पन्न हुए पदार्थों में विद्यमान (देवम्) चिलचिलाते हुए (सूर्य्यम्) सूर्य्यमण्डल को (विश्वाय) संसार को (दृशे) देखने के लिये (केतवः) किरणें (उत्, वहन्ति) ऊपर को आश्चर्यरूप प्राप्त कराती हैं (त्यम्) उस (उ) ही को तुम लोग जानो ॥ ३१ ॥

भावार्थः-इस मंन्त्र में वाचकलु०—जैसे सूर्य्य किरणों से संसार को दिखाता और आप सुशोभित होता वैसे विद्वान् लोग सब विद्या और शिक्षाओं को दिखा कर सुन्दर शोभायमान हों ॥ ३१ ॥

येनेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्य्यो देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
पुना राजधर्मविषयमाह ॥
फिर राजधर्म वि० ॥

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॒ जना॒ँ२॥ऽअ॒नु॑ । त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि ॥ ३२ ॥

येन॑ । पा॒व॒क॒ । चक्ष॑सा । भु॒र॒ण्यन्त॑म् । जना॑न् । अनु॑ । त्वम् । व॒रु॒ण॒ । पश्य॑सि ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(येन) अत्र संहितायामिति दीर्घः(पावक) पवित्रकारक! (चक्षसा) व्यक्तेन दर्शनेनोपदेशेन वा (भुरण्यन्तम्) पालयन्तम् (जनान्) अस्मदादिमनुष्यान्(अनु) (त्वम्) (वरुण) राजन् ! (पश्यसि) ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे पावक वरुण विद्वंस्त्वं येन चक्षसा भुरण्यन्तमनुपश्यसि तेन जनान् पश्य तवानुकूलाश्च वयं वर्त्तेमहि ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा राजराजपुरुषा यादृशेन व्यवहारेण प्रजासु वर्त्तेरन् तथैव भावेनैतेषु प्रजा अपि वर्त्तेरन् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे (पावक) पवित्रकर्त्ता (वरुण) श्रेष्ठ विद्वन् वा राजन् ! (त्वम्) आप (येन) जिस (चक्षसा) प्रकट दृष्टि वा उपदेश से (भुरण्यन्तम्) रक्षा करते हुए (अनु पश्यसि) अनुकूल देखते हो उस से (जनान्) हम आदि मनुष्यों को देखिये और आप के अनुकूल हम वर्त्तें ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे राजा और राजपुरुष जिस प्रकार के व्यवहार से प्रजाओं में वर्त्तें वैसे ही भाव से इन में प्रजा लोग भी वर्त्तें ॥ ३२ ॥

दैव्यावित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः। विद्वान् देवता।
निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

दैव्या॑वध्वर्यू॒ आग॑तꣳ रथे॑न॒ सूर्य॑त्वचा ।
मध्वा॑ य॒ज्ञꣳ सम॑ञ्जाथे* तं प्र॒त्नथा॑ अ॒यं वे॒नः चि॒त्रं दे॒वाना॑म् ॥ ३३ ॥

दैव्यौ॑ । अ॒ध्व॒र्यू॒ऽइत्य॑ध्व॒र्यू । आ । ग॒त॒म् । रथे॑न । सूर्य॑त्व॒चेति॒ सूर्य॑ऽत्वचा । मध्वा॑ । य॒ज्ञम् । सम् । अ॒ञ्जा॒थे॒ऽइत्य॑ञ्जाथे ॥ ३३ ॥

---

* ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७ । मं० १२ । १६ । ४२ । कहे मंत्रों को कर्मकाण्ड विशेष में कार्य्य के लिये यहां रक्खी गई हैं । इन्हीं से इन का अर्थ यहां नहीं लिखा उक्त पते में लिखा गया है ॥

पदार्थः—(दैव्यौ) देवेषु दिव्येषु विद्वत्सु गुणेषु वा कुशलौ (अध्वर्यू) यावात्मनोऽध्वरमहिंसायज्ञमिच्छन्तौ (आ) (गतम्) गच्छतम् (रथेन) गमकेन यानेन (सूर्यत्वचा) सूर्य इव देदीप्यमाना त्वग्बाह्यमावरणं यस्य तेन (मध्वा) कोमलसामग्र्या (यज्ञम्) यात्राख्यं साङ्ग्रामाख्यं हवनाख्यं वा (सम्) (अञ्जाथे) ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे दैव्यावध्वर्यू ! सूर्यत्वचा रथेनागतं मध्वा यज्ञं समञ्जाथे ॥३३॥

भावार्थः—राजादिमनुष्यैः सूर्यप्रकाश इव विमानादीनि यानानि साङ्ग्रामं हवनादिकं रचयित्वा यात्रादिव्यवहाराः साधनीयाः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे (दैव्यौ) अच्छे उत्तम विद्वानों वा गुणों में प्रवीण (अध्वर्यू) अपने को अहिंसारूप यज्ञ को चाहते हुए दो पुरुषो ! आप (सूर्यत्वचा) जिस का बाहरी आवरण सूर्य के तुल्य प्रकाशमान ऐसे (रथेन) चलने वाले विमानादि यान से (आ, गतम्) आइये और (मध्वा) कोमल सामग्री से (यज्ञम्) यात्रा, संग्राम वा हवनरूप यज्ञ को (सम्, अञ्जाथे) सम्यक् प्रकट करो ॥ ३३ ॥

भावार्थः—राजादि मनुष्यों को चाहिये कि सूर्य के प्रकाश के तुल्य विमानादि यान संग्राम वाहनादि को उत्पन्न कर यात्रादि अनेक व्यवहारों को सिद्ध किया करें ॥३३ ॥

आ न इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । सविता देवता ।

त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथोपदेशकाः किं कुर्युरित्याह ॥

अब उपदेशक लोग क्या करें इस वि० ॥

आ न॒ इडा॑भिर्वि॒दथे॑ सुश॒स्ति वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒व ए॑तु । अपि॑ यथा॑ युवानो॒ मत्स॑था नो॒ विश्वं॒ जग॑दभिपि॒त्वे म॑नी॒षा ॥ ३४ ॥

आ । नः । इडाभिः । विदथे । सुशस्तीति सुऽशस्ति । विश्वानरः । सविता । देवः । एतु । अपि । यथा । युवानः । मत्सथ । नः । विश्वम् । जगत् । अभिपित्व इत्यभिऽपित्वे । मनीषा ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (नः) अस्माकम् (इडाभिः) सुशिक्षिताभिर्वाग्भिः (विदथे) विज्ञापनीये व्यवहारे (सुशस्ति) शोभना शस्तिः प्रशंसा यस्मिंस्तत् (विश्वानरः) विश्वेषां नायकः (सविता) सूर्य इव भासमानः (देवः) दिव्यगुणः (एतु) प्राप्नोतु (अपि) (यथा) (युवानः) प्राप्तयौवना ब्रह्मचर्येणाधीतविद्याः (मत्सथ) आनन्दत । अत्र संहितायामिति दीर्घः (नः) अस्माकम् (विश्वम्) समग्रम् (जगत्) जङ्गमं पुत्रगवादिकम् (अभिपित्वे) आभिमुख्यगमने (मनीषा) मेधा ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे युवानो ! यथा विश्वानरो देवः सवितेडाभिर्विदथे सुशस्ति नो विश्वं जगदैतु तथाऽभिपित्वे यूयं मत्सथ या नो मनीषा तामपि शोधयत ॥ ३४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—ये सूर्यवद्विद्यया प्रकाशात्मनः शरीरात्मभ्यां प्राप्तयौवनाः सुशिक्षिता जितेन्द्रियाः सुशीला भवन्ति ते सर्वाननुपदेशेन विज्ञापयितुं शक्नुवन्ति ॥ ३४ ॥

पदार्थ—हे (युवानः) ज्वान ब्रह्मचर्य के साथ विद्या पढ़े हुए उपदेष्टा लोगो ! (यथा) जैसे (विश्वानरः) सब का नायक (देवः) उत्तम गुणों वाला (सविता) सूर्य के तुल्य प्रकाशमान विद्वान् (इडाभिः) वाणियों से (विदथे) जताने योग्य व्यवहार में (सुशस्ति) सुन्दर प्रशंसायुक्त (नः) हमारे

(विश्वम्) सब (जगत्) चेतन पुत्र गौ आदि को (आ, एतु) अच्छे प्रकार प्राप्त होवे वैसे (अभिपित्वे) सन्मुख जाने में तुम लोग (मत्सथ) आनन्दित हूजिये जो (नः) हमारी (मनीषा) बुद्धि है उस को (अपि) भी शुद्ध कीजिये ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—जो सूर्य के तुल्य विद्या से प्रकाश स्वरूप शरीर और आत्मा से युवावस्था को प्राप्त सुशिक्षित जितेन्द्रिय सुशील होते हैं वे सब को उपदेश से ज्ञान कराने को समर्थ होते हैं ॥ ३४ ॥

यदद्येत्यस्य श्रुतकक्षसुकक्षावृषी । सूर्यो देवता । पिपीलिका
मध्यानिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्यः किंकुर्य्यादित्याह ॥
फिर मनुष्य क्या करै इस वि० ॥

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ अ॒भि सू॑र्य्य । सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑ ॥ ३५ ॥

यत् । अ॒द्य । कत् । च । वृ॒त्र॒ह॒न्निति॑ वृत्रऽहन् । उद॒गा॒ऽ इत्यु॑त्ऽअगाः॑ । अ॒भि । सू॒र्य्य॒ । सर्व॑म् । तत् । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । वशे॑ ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(यत्) (अद्य) अस्मिन् दिने (कत्) कदा (च) (वृत्रहन्) मेघहन्ता सूर्य्य इव (उत् अगाः) उदयं प्राप्य (अभि) (सूर्य्य) विद्यैश्वर्योत्पादक ! (सर्वम्) (तत्) (इन्द्र) (ते) (वशे) ॥ ३५ ॥

अन्वयः— हे वृत्रहन् सूर्य्येन्द्र ! ते यदद्य सर्वं वशेऽस्ति तत् कच्चाभ्युदगाः ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये पुरुषाः सूर्यवदविद्यान्धकारं दुष्टतां च निवार्य्य सर्वं वशीभूतं कुर्वन्ति तेऽभ्युदयं प्राप्नुवन्ति ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) मेघहन्ता सूर्य के तुल्य शत्रुहन्ता (सूर्य) विद्या रूप ऐश्वर्य के उत्पादक (इन्द्र) अन्नदाता सज्जन पुरुष ! (ते) आप के (यत्) जो (अद्य) आज दिन (सर्वम्) सब कुछ (वशे) वश में है (तत्) उस को (कत्, च) कब (अभि, उत्, अगाः) सब ओर से उदित प्रगट सन्नद्ध कीजिये ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो पुरुष सूर्य के तुल्य अविद्यारूप अन्धकार और दुष्टता को निवृत्त कर सब को वशीभूत करते हैं वे अभ्युदय को प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥

तरणिरित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता ।
निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अथ राजपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ॥
अब राज पुरुष कैसे हों इस वि० ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमाभासि रोचनम् ॥ ३६ ॥

तरणिः । विश्वदर्शत इति विश्वऽदर्शतः । ज्योतिष्कृत् । ज्योतिःकृदिति ज्योतिःऽकृत् । असि । सूर्य । विश्वम् । आ । भासि । रोचनम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(तरणिः) तारकः (विश्वदर्शतः) विश्वेन द्रष्टव्यः (ज्योतिष्कृत्) यो ज्योतींषि करोति सः (असि) (सूर्य) सूर्यवद्वर्त्तमान राजन् ! (विश्वम्) समग्रं राज्यम् (आ) (भासि) प्रकाशयसि (रोचनम्) रुचिकरम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः--हे सूर्य ! त्वं यथा तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृत् सविता रोचनं विश्वं प्रकाशयति तथा त्वमसि यतो न्यायविनयेन राज्यमाभासि तस्मात्सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यदि राजपुरुषा विद्याप्रकाशकाः स्युस्तर्हि सर्वानानन्दयितुं शक्नुयुः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (सूर्य) सूर्य के तुल्य वर्त्तमान तेजस्विजन ! जैसे (तरणिः) अन्धकार से पार करने वाला (विश्वदर्शतः) सब को देखने योग्य (ज्योतिष्कृत्) अग्नि, विद्युत्, चन्द्रमा, नक्षत्र ग्रह तारे, आदि को प्रकाशित करने वाला सूर्य लोक (रोचनम्) रुचिकारक (विश्वम्) समग्र राज्य को प्रकाशित करता है वैसे आप (असि) हैं जिस कारण न्याय और विनय से राज्य को (आ, भासि) अच्छे प्रकार प्रकाशित करते हो इस लिये सत्कार पाने योग्य हो ॥ ३६

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो राज पुरुष विद्या के प्रकाशक होवें तो सब को आनन्द देने को समर्थ होवें ॥ ३६ ॥

तत्सूर्यस्येत्यस्य कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर के वि० ॥

तत्सूर्य्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततꣳ सं जभार । यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

तत् । सूर्य्यस्य । देवत्वमिति देवऽत्वम् । तत् । महित्वमिति महिऽत्वम् । मध्या । कर्त्तोः । विततमिति विऽततम् ।

सम् । जभार । यदा । इत् । अयुक्त । हरितः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । आत् । रात्री । वासः । तनुते । सिमस्मै ॥ ३७ ॥

पदार्थः-(तत्) (सूर्यस्य) चराचरात्मनः परमेश्वरस्य (देवत्वम्) देवस्य भावम् (तत्) (महित्वम्) महिमानम् (मध्या) मध्ये । अत्र विभक्तेराकारादेशः (कर्त्तोः) कर्तुंसमर्थस्य (विततम्) विस्तृतं कार्यं जगत (सम्) (जभार) जहार हरति । अत्र हस्य भः (यदा) (इत्) (अयुक्त) समाहितो भवति (हरितः) ह्रियन्ते पदार्था यासु ता दिशः (सधस्थात्) समानस्थानात् (आत्) अनन्तरम् (रात्री) रात्रीवत् (वासः) आच्छादनम् (तनुते) विस्तृणाति (सिमस्मै) सर्वस्मै ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! जगदीश्वरोऽन्तरिक्षस्य मध्या हरितो यदा विततं च सं जभार सिमस्मै रात्री वासस्तनुते । आत्सधस्थादिदयुक्त तत्कर्त्तोः सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं यूयं विजानीत ॥ ३७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! भवन्तो येनेश्वरेण सर्वं जगद्रच्यते ध्रियते पाल्यते विनाश्यते च तमेवास्य महिमानं विदित्वा सततमेतमुपासीरन् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जगदीश्वर अन्तरिक्ष के (मध्या) बीच (यदा) जब (हरितः) जिन में पदार्थ हरे जाते उन दिशाओं और (विततम्) विस्तृत कार्य जगत् को (सम्. जभार) संहार अपने में लीन करता (सिमस्मै) सब के लिये (रात्री) रात्रि के तुल्य (वासः) अन्धकाररूप आच्छादन को

(तनुते) फैलाता और (आत्) इस के अनन्तर (सधस्थात्) एक स्थान से अर्थात् सर्व साक्षित्वादि से निवृत्त हो के एकाग्र (इत्) ही (अयुक्त) समाधिस्थ होता है (तत्) वह (कर्त्तोः) करने को समर्थ (सूर्यस्य) चराचर के आत्मा परमेश्वर का (देवत्वम्) देवतापन (तत्) वही उस का (महित्वम्) बड़प्पन तुम लोग जानो ॥ ३७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! आप लोग जिस ईश्वर से सब जगत् रचा, धारण पालन और विनाश किया जाता है उसी को और उस की महिमा को जान के निरन्तर उस की उपासना किया करो ॥ ३७ ॥

तन्मित्रस्येत्यस्य कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता ॥
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

तन्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्याभि॒चक्षे॒ सूर्यो॑ रू॒पं कृ॑णुते॒ द्योरु॒पस्थे॑। अ॒न॒न्तम॒न्यद्रुश॑दस्य॒ पाजः॑ कृ॒ष्णम॒न्यद्धरि॑तः॒ सम्भ॑रन्ति ॥ ३८ ॥

तत् । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । अ॒भि॒चक्ष॒ऽ इत्य॑भि॒ऽचक्षे॑ । सूर्यः॑ । रू॒पम् । कृ॒णु॒ते॒ । द्योः । उ॒पस्थ॒ऽइत्यु॒पऽस्थे॑ । अ॒न॒न्तम् । अ॒न्यत् । रुश॑त् । अ॒स्य॒ । पाजः॑। कृ॒ष्णम् । अ॒न्यत् । ह॒रितः॑ । सम् । भ॒र॒न्ति॒ ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(तत्) (मित्रस्य) प्राणस्य (वरुणस्य) उदानस्य (अभिचक्षे) अभिपश्यति (सूर्यः) चराचरात्मा (रूपम्) (कृणुते) करोति निर्मिमीते (द्योः) प्रकाशस्य (उपस्थे)

समीपे (अनन्तम्) अविद्यमानो अन्तो यस्य तत् (अन्यत्) अस्मद्भिन्नम् (रुशत्) शुक्लं शुद्धस्वरूपम् (अस्य) (पाजः) बलम् (कृष्णम्) निकृष्टवर्णम् (अन्यत्) (हरितः) हरणशीला दिशः (सम्) (भरन्ति) हरन्ति ॥ ३८॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! द्योरुपस्थे वर्त्तमानः सूर्यो मित्रस्य वरुणस्य च तद्रूपं कृणुते येन जनोऽभिचक्षे । अस्य रुशत्पाजोऽनन्तमन्यदस्ति अन्यत्कृष्णं हरितः संभरन्तीति विजानीत ॥ ३८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यदनन्तं ब्रह्म तत्प्रकृतेर्जीवेभ्यश्चान्यदस्ति । एवं प्रकृत्याख्यं कारणं विभु वर्त्तते तस्माद्यज्जायते तत्तत्समयं प्राप्येश्वरनियमेन विनश्यति यथा जीवाः प्राणोदानाभ्यां सर्वान् व्यवहारान् साध्नुवन्ति तथैवेश्वरः स्वेनानन्तसामर्थ्येनास्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् करोति ॥ ३८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (द्योः) प्रकाश के (उपस्थे) निकट वर्त्तमान अर्थात् अन्धकार से पृथक् (सूर्यः) चराचर का आत्मा (मित्रस्य) प्राण और (वरुणस्य) उदान के (तत्) उस (रूपम्) रूप को (कृणुते) रचता है जिस से मनुष्य (अभिचक्षे) देखता जानता है (अस्य) इस परमात्मा का रुशत् शुद्धस्वरूप और (पाजः) बल (अनन्तम्) अपरिमित (अन्यत्) भिन्न है और (अन्यत्) (कृष्णम्) अविद्यादि मलीन गुण वाले भिन्न जगत् को (हरितः) दिशा (सम्, भरन्ति) धारण करती है ॥ ३८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अनन्त ब्रह्म वह प्रकृति और जीवों से भिन्न है । ऐसे ही प्रकृतिरूप कारण विभु है उस से जो २ उत्पन्न होता वह २ समय पाकर ईश्वर के नियम से नष्ट हो जाता है जैसे जीव प्राण उदान से सब व्यवहारों को सिद्ध करते वैसे ईश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयों को करता है॥३८॥

बरामहाँनित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

बण्महाँ२॥ऽ असि सूर्य्य बडादित्य महाँ२॥ऽ असि । महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ऽ असि ॥ ३९ ॥

बट् । महान् । असि । सूर्य्य । बट् । आदित्य । महान् । असि । महः । ते । सतः । महिमा । पनस्यते । अद्धा । देव । महान् । असि ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(बट्) सत्यम् (महान्) महत्वादिगुणविशिष्टः (असि) भवसि (सूर्य) चराचरात्मन्! (बट्) अनन्तज्ञान (आदित्य) अविनाशिस्वरूप (महान्) (असि) (महः) महतः (ते) तव (सतः) सत्यस्वरूपस्य (महिमा) (पनस्यते) स्तूयते (अद्धा) प्रसिद्धम् (देव) दिव्यगुणकर्मस्वभावयुक्त! (महान्) (असि) ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे सूर्य्य! यतस्त्वं बण्महानसि हे आदित्य! यतस्त्वं बण्महानसि सतो महस्ते महिमा पनस्यते हे देव! यतस्त्वमद्धा महानसि तस्मादस्माभिरुपास्योऽसि ॥ ३९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यस्येश्वरस्य महिमानं पृथिवीसूर्यादिपदार्था ज्ञापयन्ति यः सर्वेभ्यो महानस्ति तं विहाय कस्याप्यन्यस्योपासना नैव कार्य्या ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे (सूर्य) चराचर के अन्तर्यामिन् ईश्वर ! जिस कारण आप (बट्) सत्य (महान्) महत्त्वादि गुण युक्त (असि) हैं। हे (आदित्य) अविनाशी स्वरूप! जिस से आप (बट्) अनन्त ज्ञानवान् (महान्) बड़े (असि) हो (सतः) सत्यस्वरूप (महः) महान् (ते) आप का (महिमा) महत्त्व (पनस्यते) लोगों से स्तुति किया जाता। हे (देव) दिव्य गुण कर्म स्वभाव-युक्त ईश्वर ! जिस से आप (अद्धा) प्रसिद्ध (महान्) महान् (असि) हैं इस लिये हम को उपासना करने के योग्य हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर के महिमा को पृथिवी सूर्यादि पदार्थ जनाते हैं जो सब से बड़ा है उस को छोड़के किसी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

बट् सूर्येत्यस्य · जमदग्निर्ऋषिः । सूर्यो देवता ।
भुरिक् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

बट् सूर्य श्रवसा महाँ२॥ऽ असि सत्रा देव महाँ२॥ऽ असि । मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

बट् । सूर्य्य । श्रवसा । महान् । असि । सत्रा । देव । महान् । असि । मह्ना । देवानाम् । असुर्य्यः । पुरोहित इति पुरःऽहितः । विभ्विति विऽभु । ज्योतिः । अदाभ्यम् ॥ ४० ॥

पदार्थः—(बट्) सत्यम् (सूर्य) सवितृवत्सर्वप्रकाशक ! (श्रवसा) यशसा धनेन वा (महान्) (असि) (सत्रा) सत्येन (देव) दिव्यसुखप्रद !(महान्) (असि) (मह्ना) महत्त्वेन (देवानाम्) पृथिव्यादीनां विदुषां वा (असुर्य्यः) असुभ्यः

प्राणेभ्यो हितः (पुरोहितः) पुरस्ताद्धितकारी (विभु) व्यापकम् (ज्योतिः) प्रकाशकं स्वरूपम् (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे बट् सूर्य! यतस्त्वं श्रवसा महानसि हे देव सत्रा महानसि यतस्त्वं देवानां पुरोहितो मन्हाऽसुर्य्यः सन्नदाभ्यं विभु ज्योतिः स्वरूपोऽसि तस्मात्सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या येनेश्वरेण सर्वेषां पालनायान्नाद्युत्पादिका भूमिर्मेघप्रकाशकारी सूर्य्यो निर्मितः स एव परमेश्वर उपासितुं योग्योऽस्ति ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे (बट्) सत्य (सूर्य) सूर्य के तुल्य सब के प्रकाशक जिस से आप (श्रवसा) यश वा धन से (महान्) बड़े (असि) हो। हे (देव) उत्तम सुख के दाता (सत्रा) सत्य के साथ (महान्) बड़े (असि) हो। जिस से आप (देवानाम्) पृथिवी आदि वा विद्वानों के (पुरोहितः) प्रथम से हितकारी (मह्ना) महत्व से (असुर्य्यः) प्राणों के लिये हितैषी हुए (अदाभ्यम्) आस्तिकता से रक्षा करने योग्य (विभु) व्यापक (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप हैं इस से सत्कार के योग्य हैं ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो जिस ईश्वर ने सब की पालना के लिये अन्नादि को उत्पन्न करने वाली भूमि और मेघ का प्रकाश करने वाला सूर्य रचा है वही परमेश्वर उपासना करने को योग्य है ॥ ४० ॥

आयन्तइवेत्यस्य नृमेध ऋषिः। सूर्यो देवता।
निचृद् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

आ॒यन्त॑इव॒ सूर्यं॒ विश्वेदिन्द्र॑स्य भक्षत।
वसू॑नि जा॒ते जन॑मान॒ ओज॑सा॒ प्रति॑ भा॒गं न दी॑धिम ॥ ४१ ॥

आयन्तऽइवेति आयन्तःऽइव । सूर्य्यम् । विश्वां । इत् । इन्द्रस्य । भक्षत । वसूनि । जाते । जनमाने । ओजसा । प्रति । भागम् । न । दीधिम ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(आयन्तइव) समाश्रयन्तइव । अत्र गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः (सूर्य्यम्) स्वप्रकाशं सर्वात्मानं जगदीश्वरम् (विश्वा) सर्वाणि (इत्) एव (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य (भक्षत) सेवध्वम् (वसूनि) वस्तूनि (जाते) उत्पन्ने (जनमाने) उत्पद्यमाने। अत्र विकरणव्यत्ययः(ओजसा) सामर्थ्येन (प्रति) (भागम्) सेवनीयमंशम् (न) इव (दीधिम) प्रकाशयेम ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयमोजसा जाते जनमाने च जगति सूर्यं आयन्तइव विश्वा वसूनि प्रति दीधिम भागं न सेवेमहि तथेदिन्द्रस्येमं यूयं भक्षत ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यदि वयं परमेश्वरं सेवमाना विद्वांस इव भवेम तर्हीह सर्वैश्वर्यं लभेमहि ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग (ओजसा) सामर्थ्य से (जाते) उत्पन्न हुए और (जनमाने) उत्पन्न होने वाले जगत् में (सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सब के अन्तर्यामी परमेश्वर का (आयन्तइव) आश्रय करते हुए के समान (विश्वा) सब (वसूनि) वस्तुओं को (प्रति, दीधिम) प्रकाशित करें और (भागम्, न) सेवने योग्य अपने अंश के तुल्य सेवन करें वैसे (इत्) ही (इन्द्रस्य) उत्तम ऐश्वर्य के भाग को तुम लोग (भक्षत) सेवन करो ॥ ४१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो हम लोग परमेश्वर को सेवन करते हुए विद्वानों के तुल्य हों तो यहां सब ऐश्वर्य प्राप्त होवें ॥ ४१ ॥

अद्या देवा इत्यस्य कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वांसः कीदृशाः स्युरित्याह ॥

विद्वान् लोग कैसे हों इस वि० ॥

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् । तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ४२ ॥

अद्य । देवाः । उदितेत्युत्ऽइता । सूर्यस्य । निः । अंहसः । पिपृत । निः । अवद्यात् । तत् । नः । मित्रः । वरुणः । मामहन्ताम् । ममहन्तामिति ममहन्ताम् । अदितिः । सिन्धुः । पृथिवी । उत । । द्यौः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(अद्य) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (देवाः) विद्वांसः (उदिता) उदिते । अत्राऽऽकारादेशः (सूर्यस्य) सवितुः (निः) नितराम् (अंहसः) अपराधात् (पिपृत) व्याप्नुत। अत्र संहितायामिति दीर्घः (निः) नितराम् (अवद्यात्) निन्द्यात् दुःखात् (तत्)तस्मात् (नः)अस्मान् (मित्रः) सुहृत् (वरुणः) श्रेष्ठः (मामहन्ताम्) सत्कुर्वन्तु (अदितिः) अन्तरिक्षम् (सिन्धुः) सागरः (पृथिवी) भूमिः (उत) अपि (द्यौः) प्रकाशः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे देवाः विद्वांसो यूयं यतः सूर्यस्योदिताऽद्यांहसो नो निष्पिपृतावद्याच्च निष्पिपृत तन्मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौरस्मान् मामहन्ताम् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसो मनुष्याः प्राणादिवत्सर्वान् सुखाऽन्ति । अपराधा दूरे रक्षन्ति ते जगद्भूषकाः सन्ति ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे (देवाः) विद्वान् लोगो जिस कारण (सूर्यस्य) सूर्य्य के (उदिता) उदय होते (अद्य) आज (अंहसः) अपराध से (नः) हम को (निः) निरन्तर बचाओ और (अवद्यात्) निन्दित दुःख से (निः पिपृत) निरन्तर रक्षा करो (तत्) इस से (मित्रः) मित्र (वरुणः) श्रेष्ठ (अदितिः) अन्तरिक्ष (सिन्धुः) समुद्र (पृथिवी) भूमि (उत) और (द्यौः) प्रकाश ये सब हमारा (मामहन्ताम्) सत्कार करें ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् मनुष्य प्राणादि के तुल्य सब को सुखी करते और अपराध से दूर रखते हैं वे जगत् को शोभित करने वाले हैं ॥ ४२ ॥

आकृष्णेनेत्यस्य हिरण्यस्तूप ऋषिः । सूर्य्यो देवता । विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ सूर्य्यमण्डलं कीदृशमित्याह ॥

अब सूर्यमण्डल कैसा है इस वि० ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ४३ ॥

आ । कृष्णेन । रजसा । वर्त्तमान । निवेशयन्निति निऽवेशयन् । अमृतम् । मर्त्यम् । च । हिरण्ययेन । सविता । रथेन । आ । देवः । याति । भुवनानि । पश्यन् ॥ ४३ ॥

पदार्थः--(आ) समन्तात् (कृष्णेन) कर्षणेन (रजसा) लोकसमूहेन सह (वर्त्तमान) (निवेशयन्) स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् (अमृतम्) उदकममरणधर्मकमाकाशादिकं वा । अमृतमित्युदकना० निघं० १ । १२ (मर्त्यम्) मनुष्यादिप्राणिजातम् (च) (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन (सविता) सूर्य्यः (रथेन) रमणीयेन स्वरूपेण (आ) (देवः) प्रकाशमानः (याति) गच्छति (भुवनानि) (पश्यन्) दर्शयन् । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः--हे मनुष्या यो हिरण्ययेन रथेन कृष्णेनरजसा सहवर्त्तमानो भुवनानि पश्यन् देवः सविताऽमृतं मर्त्यं च निवेशयन्ना याति स ईश्वरनिर्मितः सूर्य्यो लोकोऽस्ति ॥ ४३ ॥

भावार्थः--हे मनुष्या यथा एतद्भूगोलाद्यैर्लोकैःसह तस्य सूर्यस्याकर्षणं यो वृष्टिद्वारा अमृतात्मकमुदकं वर्षयति यश्च सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां दर्शयितास्ति तथा सूर्य्यादयोपीश्वराकर्षणेन ध्रियन्त इति वेद्यम् ॥ ४३ ॥

पदार्थः--हे मनुष्यो ! जो (ज्योतिःस्वरूप) रमणीय स्वरूप से (कृष्णेन) आकर्षण से परस्पर सम्बद्ध (रजसा) लोकमात्र के साथ (आ,वर्त्तमानः) अपने भ्रमण की आवृत्ति करता हुआ (भुवनानि) सब लोकों को (पश्यन्) दिखाता हुआ (देवः)

प्रकाशमान (सविता) सूर्य्यदेव (अमृतम्) जल वा अविनाशी आकाशादि (च) और (मर्त्यम्) मरणधर्मा प्राणिमात्र को (निवेशयन्) अपने२ प्रदेश में स्थापित करता हुआ (आ,याति) उदयास्त समय में आता जाता है सो ईश्वर का बनाया सूर्य्य लोक है ॥ ४३ ॥

भावार्थः--हे मनुष्यो!जैसे इन भूगोलादि लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण है जो वृष्टिद्वारा अमृतरूप जल को वर्षाता और जो मूर्त्त द्रव्यों को दिखाने वाला है वैसे ही सूर्य्य आदि लोक भी ईश्वर के आकर्षणसे धारण किये हुए हैं ऐसा जानना चाहिये॥४३॥

प्र वावृज इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । वायुर्देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ वायुसूर्य्यौ कीदृशावित्याह ॥
अब वायु सूर्य्य कैसे हैं इस वि० ॥

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते । विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥ ४४ ॥

प्र । वावृजे । ववृज इति ववृजे । सुप्रया इति सुऽप्रयाः । बर्हिः । एषाम् । आ । विश्पतीव । विश्पतीवेति विश्पतीऽइव । बीरिटे । इयाते । विशाम् । अक्तोः । उषसः । पूर्वहूताविति पूर्वऽहूतौ । वायुः । पूषा । स्वस्तये । नियुत्वान् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(प्र) (वावृजे) व्रजति गच्छति (सुप्रयाः) सुष्ठु प्रयः प्रगमनमस्य सः (बर्हिः) उदकम् (एषाम्) मनुष्याणाम्

(आ) (विश्पतीव) प्रजापालकाविव (वीरिटे) अन्तरिक्षे (इयाते) गच्छतः (विशाम्) प्रजानां मध्ये (अक्तोः) रात्रेः (उषसः) दिवसस्य (पूर्वहूतौ) पूर्वैः शब्दितौ (वायुः) पवनः (पूषा) सूर्यः (स्वस्तये) सुखाय (नियुत्वान्) नियुतोऽश्वा आशुकारिणो वेगादिगुणा यस्य सः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा पूर्वहूतौ सुप्रया नियुत्वान् वायुः पूषा चैषां स्वस्तये प्रवावृजे विशां विश्पतीव वीरिटे बर्हिरा इयाते तथाक्तोरुषसश्च बर्हिः प्राप्नुतः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमा वाचकलु०—हे मनुष्या यौ वायुसूर्यौ न्यायकारी राजेव पालकौ स्तस्तावीश्वरनिर्मितौ वर्त्तेते इति बोध्यम् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (पूर्वहूतौ) पूर्वजों ने प्रशंसा किये हुए (सुप्रयाः) सुन्दर प्रकार चलने वाला (नियुत्वान्) शीघ्रकारी वेगादि गुणों वाला (वायुः) पवन और (पूषा) सूर्य (एषाम्) इन मनुष्यों के (स्वस्तये) सुख के लिये (प्र, वावृजे) प्रकर्षता से चलता है (विशाम्) प्रजाओं के बीच (विश्पतीव) प्रजारक्षक दो राजाओं के तुल्य (वीरिटे) अन्तरिक्ष में (आ, इयाते) आते जाते हैं वैसे (अक्तोः) रात्रि और (उषसः) दिन के (बर्हिः) जल को प्राप्त होते हैं ॥ ४४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमा और वाचकलु०—हे मनुष्यो जो वायु सूर्य न्यायकारी राजा के समान पालक हैं वे ईश्वर के बनाये हैं यह जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

इन्द्रवायू इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। इन्द्रवायू देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

मनुष्या विद्युदादिपदार्थान् विज्ञाय किं कुर्युरित्याह॥

मनुष्य विद्युत् आदि पदार्थों को जान के क्या करें इस वि० ॥

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राऽग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम्॥ ४५॥

इन्द्रवायूऽइतीन्द्रवायू। बृहस्पतिम्। मित्रा। अग्निम्। पूषणम्। भगम्। आदित्यान्। मारुतम्। गणम्॥ ४५॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) विद्युत्पवनौ (बृहस्पतिम्) बृहतां पालकं सूर्य्यम् (मित्रा) मित्रं प्राणम्। अत्र विभक्तेराकारादेशः (अग्निम्) पावकम् (पूषणम्) पुष्टिकरम् (भगम्) ऐश्वर्यम् (आदित्यान्) द्वादशमासान् (मारुतम्) मरुत्सम्बन्धिनम् (गणम्) समूहम्॥ ४५॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयमिन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगमादित्यान् मारुतं गणं विज्ञायोपयुञ्जीमहि तथा यूयमपि प्रयुङ्ग्ध्वम्॥ ४५॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैः सृष्टिस्थान् विद्युदादीन् पदार्थान् विज्ञाय संयुज्य कार्याणि साधनीयानि॥ ४५॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग (इन्द्रवायु) बिजुली, पवन (बृहस्पतिम्) बड़े लोकों के रक्षक सूर्य्य (मित्रा) प्राण (अग्निम्) अग्नि (पूषणम्)

पुष्टिकारक (भगम्) ऐश्वर्य (आदित्याम्) बारह महीनों और (मारुतम्) वायु सम्बन्धि (गणम्) समूह को जान के उपयोग में लावें वैसे तुम लोग भी उन का प्रयोग करो ॥४५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि सृष्टिस्थ विद्युत् आदि पदार्थों को जान और सम्यक् प्रयोग कर कार्य्यों को सिद्ध करें ॥ ४५ ॥

वरुण इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । वरुणो देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
पुनरध्यापकोपदेशकौ कीदृशावित्याह ॥
फिर अध्यापक और उपदेशक कैसे हों इस वि० ॥

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः । करतां नः सुराधसः ॥ ४६ ॥

वरुणः । प्राविते॒ति॑ प्रऽअ॒विता । भुवत् । मित्रः । विश्वाभिः । ऊतिभि॒रित्यू॒तिऽभिः । करताम् । नः । सुराधस॒ऽइति॑ सुऽराधसः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(वरुणः) उदान इवोत्तमो विद्वान् (प्राविता) रक्षकः (भुवत्) भवेत् (मित्रः) शरण इव प्रियः सखा (विश्वाभिः) समग्राभिः (ऊतिभिः) रक्षादिक्रियाभिः (करताम्) कुर्याताम् (नः) अस्मान् (सुराधसः) सुष्ठुधनयुक्तान् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे अध्यापकोपदेशकौ विद्वांसौ यथा वरुणो मित्रश्च विश्वाभिरूतिभिः प्राविता भुवत् तथा भवन्तौ नः सुराधसः करताम् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—येऽध्यापकोपदेशकाः प्राणवत्सर्वेषु प्रीता उदानवच्छरीरात्मबलप्रदाः स्युस्त एव सर्वेषां रक्षकाः सर्वानाढ्यान् कर्तुं शक्नुयुः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे अध्यापक और उपदेशक विद्वान् लोगो! जैसे (वरुणः) उदान वायु के तुल्य उत्तम विद्वान् और (मित्रः) प्राण के तुल्य प्रिय मित्र (विश्वाभिः) समग्र (ऊतिभिः) रक्षा आदि क्रियाओं से (प्राविता) रक्षक (भुवत्) होवे वैसे आप दोनों (नः) हम को (सुराधसः) सुन्दर धन से युक्त (करताम्) कीजिये ॥ ४६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो अध्यापक और उपदेशक लोग प्राणों के तुल्य सब में प्रीति रखने वाले और उदान के समान शरीर और आत्मा के बल को देने वाले हों वे ही सब के रक्षक सब को धनाढ्य करने को समर्थ होवें ॥ ४६ ॥

अधीत्यस्य कुत्सीदि ऋषिः । विश्वेदेवा देवता ।
निचृत्पिपीलिकामध्या गायत्री छन्दः षड्जः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् । इता मरुतो अश्विना । * तम्प्रत्नथा । अयं वेनः । ये देवासः । आन इडाभिः । विश्वेभिः सोम्यं मधुः । ओमासश्चर्षणीधृतः ॥ ३७ ॥

अधि । नः । इन्द्र । एषाम् । विष्णोऽइति विष्णो । सजात्यानामिति सऽजात्यानाम् । इत । मरुत । अश्विना ॥ ४७ ॥

* इस मन्त्र के आगे पूर्व अ० ७ । मं० १२ । १६ । १६ । अ० ३३ । मं० ३४ । १० अ० ७ । अ० ३३ । इस क्रम पूर्वक ठिकाने में व्याख्यात हो चुके हैं यहां कर्मकाण्ड विशेष के लिये प्रतीकें दी हैं ॥

पदार्थः—(अधि) उपरिभावे (नः) अस्माकम् (इन्द्र) परमैश्वर्यप्रद विद्वन्! (एषाम्) वर्त्तमानानाम् (विष्णो) व्यापकपरमात्मन्! (सजात्यानाम्) अस्मद्विधानाम् (इत) प्राप्नुत। अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (मरुतः) मनुष्याः (अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र हे विष्णो हे मरुतः हे अश्विना! यूयं सजात्यानामेषां नो मध्येऽधिस्वामित्वमित ॥ ४७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये विद्वांस ईश्वरवदस्मासु वर्त्तेरंस्तेषु वयं तथैव वर्त्तेमहि ॥ ४७ ॥

पदार्थ—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यदातः विद्वन्! हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर! हे (मरुतः) मनुष्यो! तथा हे (अश्विना) अध्यापक उपदेशक लोगो! तुम सब (सजात्यानाम्) हमारे सहयोगी (एषाम्) इन (नः) हमारे बीच (अधि) स्वामीपन को (इत) प्राप्त होओ ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो विद्वान् ईश्वर के समान पक्षपात छोड़ सम दृष्टि से हमारे विषय में वर्त्तें उन के विषय में हम भी वैसे ही वर्त्ता करें ॥ ४७ ॥

अग्न इत्यस्य प्रतिक्षत्र ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह
फिर उसी वि० ॥

अग्न॒ इन्द्र॒ वरु॑ण॒ मित्र॒ देवाः॒ शर्द्धः॒ प्र य॑न्त॒ मारु॑तो॒त वि॑ष्णो। उ॒भा नास॑त्या रु॒द्रो अध॒ ग्नाः पू॒षा भगः॒ सर॑स्वती जुषन्त ॥ ४८ ॥

अग्ने । इन्द्र । वरुण । मित्र । देवाः । शर्द्धः । प्र । यन्त । मारुत । उत । विष्णोऽइति विष्णो । उभा । नासत्या । रुद्रः । अध । ग्नाः । पूषा । भगः । सरस्वती । जुषन्त ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्याप्रकाशक (इन्द्र) महैश्वर्ययुक्त (वरुण) अतिश्रेष्ठ (मित्र) सुहृत् (देवाः) विद्वांसः (शर्द्धः) शरीरात्मबलम् (प्र) (यन्त) प्रयच्छत । अत्र शपो लुक् (मारुत) मनुष्याणां मध्ये वर्त्तमान (उत) अपि (विष्णो) व्यापनशील (उभा) द्वौ (नासत्या) अविद्यमानासत्यस्वरूपावध्यापकोपदेशकौ (रुद्रः) दुष्टानां रोदयिता (अध) अथ (ग्नाः) सुशिक्षिता वाचः (पूषा) पोषकः (भगः) ऐश्वर्यवान् (सरस्वती) प्रशस्तज्ञानयुक्ता स्त्री (जुषन्त) सेवन्ताम् । अत्राडभावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे अग्न इन्द्र वरुण मित्र मारुतोत विष्णो! देवा! यूयमस्मभ्यं शर्द्धः प्र यन्त । उभा नासत्या रुद्रो ग्नाः पूषा भगोऽध सरस्वती चाऽस्माञ्जुषन्त ॥४८॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विदुषां सेवनेन विद्यासुशिक्षे गृहीत्वाऽन्येपि विद्वांसः कार्य्याः ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या प्रकाशक (इन्द्र) महान् ऐश्वर्य वाले (वरुण) अति श्रेष्ठ (मित्र) मित्र (मारुत) मनुष्यों में वर्त्तमान जन (उत) और (विष्णो) व्यापनशील (देवाः) विद्वान् तुम लोगो! हमारे लिये (शर्द्धः) शरीर और आत्मा के बल को (प्र,यन्त) देओ (उभा) दोनों (नासत्या) सत्यस्वरूप अध्यापक और उपदेशक (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने हारा (ग्नाः) अच्छी शिक्षित वाणी (पूषा) पोषक (भगः) ऐश्वर्यवान् (अध) और इस के अनन्तर (सरस्वती) प्रशस्त ज्ञान वाली स्त्री ये सब हमारा (जुषन्त) सेवन करें ॥ ४८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के सेवन से विद्या और उत्तम शिक्षा को ग्रहण कर दूसरों को भी विद्वान् करें ॥ ४८ ॥

इन्द्राग्नी इत्यस्य वत्सार ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अध्यापकाऽध्येतारः किं कुर्युरित्याह ॥

अध्यापक और अध्येता लोग क्या करें इस वि० ॥

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२॥ऽ अपः । हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳ सवितारमूतये ॥ ४९ ॥

इन्द्राग्नीऽइतीन्द्राग्नी । मित्रावरुणा । अदितिम् । स्वरिति स्वः । पृथिवीम् । द्याम् । मरुतः । पर्वतान् । अपः । हुवे । विष्णुम् । पूषणम् । ब्रह्मणः । पतिम् । भगम् । नु । शꣳसम् । सवितारम् । ऊतये ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) संयुक्तौ विद्युदग्नी (मित्रावरुणा) मिलितौ प्राणोदानौ (अदितिम्) अन्तरिक्षम् (स्वः) सुखम् (पृथिवीम्) भूमिम् (द्याम) सूर्यम् (मरुतः) मननशीलान्मनुष्यान् (पर्वतान्) मेघान् शैलान् वा (अपः) जलानि (हुवे) स्तुयाम् (विष्णुम्) व्यापकम् (पूषणम्) पुष्टिकर्त्तारम् (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्माण्डस्य वेदस्य वा पालकम् (भगम्) ऐश्वर्य्यम् (नु) सद्यः (शंसम्) प्रशंसनीयम् (सवितारम्) ऐश्वर्य्यकारकं राजानम् (ऊतये) रक्षणाद्याय ॥४९॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथाहमूतय इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिं पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वतानपो विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं शंसं सवितारं स्वर्नु हुवे तथैतान् यूयमपि प्रशंसत ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—अध्यापकाऽध्येतृभिः प्रकृतिमारभ्य भूमिपर्य्यन्ताः पदार्था रक्षणाद्याय विज्ञेयाः ॥ ४९ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो! जैसे मैं (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (इन्द्राग्नी) संयुक्त बिजुली और अग्नि (मित्रावरुणा) मिले हुए प्राण उदान (अदितिम्) अन्तरिक्ष (पृथिवीम्) भूमि (द्याम्) सूर्य (मरुतः) विचारशील मनुष्यो (पर्वतान्) मेघों वा पहाड़ों (अपः) जलों (विष्णुम्) व्यापक ईश्वर (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्माण्ड वा वेद के पालक ईश्वर (भगम्) ऐश्वर्य (शंसम्) प्रशंसा के योग्य (सविताम्) ऐश्वर्यकारक राजा और (स्वः) सुख की (नु) शीघ्र (हुवे) स्तुति करूं वैसे उन की तुम भी प्रशंसा करो ॥ ४९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—अध्यापक और अध्येता को चाहिये कि प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को रक्षा आदि के लिये जानें ॥ ४९ ॥

अस्मे इत्यस्य प्रगाथ ऋषिः । महेन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राजपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ॥

अब राजपुरुष कैसे हों इस वि० ॥

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः । यः शंसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ२॥ऽअवन्तु देवाः ॥ ५० ॥

अस्मेऽइत्यस्मे । रुद्राः । मेहना । पर्वतासः । वृत्रहत्यऽइति वृत्रऽहत्ये । भरहूताविति भरऽहूतौ । सजोषाऽइति सऽजोषाः । यः । शꣳसते । स्तुवते । धायि । पज्रः । इन्द्रज्येष्ठाऽइतीन्द्रऽज्येष्ठाः । अस्मान् । अवन्तु । देवाः ॥ ५० ॥

पदार्थः—(अस्मे) अस्मासु (रुद्राः) शत्रून् रोदयन्ति ते (मेहना) धनादिसेचकाः । अत्राकारादेशः (पर्वतासः) पर्वाण्युत्सवा विद्यन्ते येषान्ते । अत्र पर्वमरुद्भ्यां तबिति वार्त्तिकेन तप् प्रत्ययः (वृत्रहत्ये) वृत्रस्य दुष्टस्य हत्ये हननाय (भरहूतौ) भरे सङ्ग्रामे हूतिराह्वानं तत्र (सजोषाः) समानप्रीतिसेवनाः (यः) नरः (शंसते) (स्तुवते) स्तौति । अत्र शब्विकरणः (धायि) ध्रियते । अत्र लुङ्यडभावः (पज्रः) प्रार्जितैश्वर्य्यः। पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्रः सभापतिर्ज्येष्ठो येषु ते (अस्मान्) (अवन्तु) रक्षन्तु (देवाः) ॥५०॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यः पज्रः याञ्छंसते स्तुवते येन च धनं धायि तमस्माँश्च येऽस्मे मेहना रुद्रा पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषा इन्द्रज्येष्ठा देवा अवन्तु । ते युष्मानप्यवन्तु ॥ ५० ॥

भावार्थः—ये राजजनाः पदार्थस्तावकाः श्रेष्ठरक्षका दुष्टताडकाः सङ्ग्रामिया मेघवत्पालकाः प्रशंसनीयाः सन्ति ते सर्वैः सेवनीयाः ॥ ५० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो (पज्रः) संचित धन वाला जन जिन की (शंसते) प्रशंसा और (स्तुवते) स्तुति करता और जिस ने धन को (धायि) धारण किया है उस और (अस्मान्) हमारी जो (अस्मे) हमारे बीच (मेहना) धनादि को

छोड़ने (रुद्राः) शत्रुओं को रुलाने और (पर्वतासः) उत्सवों वाले (वृत्रहत्ये) दुष्ट को मारने के लिये (भरहूतौ) संग्राम में बुलाने के विषय में (सजोषाः) एकसी प्रीति वाले (इन्द्रज्येष्ठाः) सभापति राजा जिन में बड़ा है ऐसे (देवाः) विद्वान् लोग (भवन्तु) रक्षा करें वे तुम्हारी भी रक्षा करें ॥ ५० ॥

भावार्थः--जो राजपुरुष पदार्थों की स्तुति करने वाले श्रेष्ठों के रक्षक दुष्टों के ताडक युद्ध में प्रीति रखने वाले मेघ के तुल्य पालक प्रशंसा के योग्य हैं वे सब को सेवन योग्य होते हैं ॥ ५० ॥

अर्वाञ्च इत्यस्य कूर्म ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम् । त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्त्तादवपदो यजत्राः ॥ ५१ ॥

अर्वाञ्चः । अद्य । भवत । यजत्राः । आ । वः । हार्दि । भयमानः । व्ययेयम् । त्राध्वम् । नः । देवाः । निजुरऽइति निजुरः । वृकस्य । त्राध्वम् । कर्त्तात् । अवपदऽइत्यवऽपदः । यजत्राः ॥ ५१ ॥

पदार्थः--(अर्वाञ्चः) अस्मदभिमुखाः (अद्य) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (भवत) अत्र संहितायामिति दीर्घः (यजत्रा) सङ्गतिकर्त्तारः (आ) (वः) युष्माकम् (हार्दि) हृदि

भवं मनः (भयमानः) भयं प्राप्नुवन् । अत्र व्यत्ययेन शप् (व्ययेयम्) प्राप्नुयाम् (त्राध्वम्) रक्षत (नः) अस्मान् (देवाः) विद्वांसः (निजुरः) हिंसकस्य (वृकस्य) स्तेनस्य व्याघ्रस्य वा सकाशात् (त्राध्वम्) (कर्त्तात्) कूपात् (अवपदः) यत्राऽवपद्यन्ते पतन्ति ततः (यजत्राः) विदुषां सत्कर्त्तारः ॥ ५१॥

अन्वयः—हे यजत्रा देवा यूयमद्यार्वाञ्चो भवत भयमानोऽहं वो हार्दि आऽव्ययेयं नो निजुरो वृकस्य सकाशात् त्राध्वम् । हे यजत्रा यूयमवपदः कर्त्ता-दस्मान् त्राध्वम् ॥ ५१ ॥

भावार्थः—प्रजापुरुषैराजजना एवं प्रार्थनीयाः—हे पूज्या राजपुरुषा विद्वांसो यूयं सदैवास्मदविरोधिनः कपटादिरहिता भयनिवारका भवत । चोरव्याघ्रादिभ्यो मार्गादिशोधनेन गर्त्तादिभ्यश्चास्मान् रक्षत ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे (यजत्राः) संगति करने हारे (देवाः) विद्वानो तुम लोग (अद्य) आज (अर्वाञ्च) हमारे सन्मुख (भवत) हूजिये अर्थात् हम से विरुद्ध विमुख मत रहिये (भयमानः) डरता हुआ मैं (वः) तुम्हारे (हार्दि) मनोगत को (आ,व्ययेयम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होऊं (नः) हम को (निजुरः) हिंसक (वृकस्य) चोर वा व्याघ्र के सम्बन्ध से (त्राध्वम्) बचाओ । हे (यजत्राः) विद्वानों का सत्कार करने वाले लोगो तुम (अवपदः) जिस में गिर पड़ते उस (कर्त्तात्) कूप वा गढ़े से हमारी (त्राध्वम्) रक्षा करो ॥ ५१ ॥

भावार्थः— प्रजापुरुषों को राजपुरुषों से ऐसे प्रार्थना करनी चाहिये कि:—हे पूज्य राजपुरुष विद्वानो तुम सदैव हमारे अविरोधी कपटादि रहित और भय के निवारक होओ । चोर व्याघ्रादि और मार्ग शोधने से गढ़े आदि से हमारी रक्षा करो ॥५१॥

विश्व इत्यस्य लुश ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर उसी वि०॥

विश्वे अद्य मरुतो विश्वऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः। विश्वे नो देवा अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे॥५२॥

विश्वे। अद्य। मरुतः। विश्वे। ऊती। विश्वे। भवन्तु। अग्नयः। समिद्धाऽइति सम्ऽइद्धाः। विश्वे। नः। देवाः। अवसा। आ। गमन्तु। विश्वम्। अस्तु। द्रविणम्। वाजः। अस्माऽइत्यस्मे॥५२॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (अद्य) (मरुतः) मरणधर्माणो मनुष्याः (विश्वे) सर्वे (ऊती) रक्षणादिक्रियया (विश्वे) (भवन्तु) (अग्नयः) पावकाः (समिद्धाः) प्रदीप्ताः (विश्वे) (नः) अस्मानस्माकं वा (देवाः) विद्वांसः (अवसा) रक्षणाद्येन सह (आ) समन्तात् (गमन्तु) प्राप्नुवन्तु (विश्वम्) सर्वम् (अस्तु) (द्रविणम्) धनम् (वाजः) अन्नम् (अस्मे) मनुष्याय॥५२॥

अन्वयः—हे राजादयो मनुष्या अद्य यथा विश्वे भवन्तो विश्वे मरुतो विश्वे समिद्धा अग्नय ऊती नो रक्षका भवन्तु विश्वे देवा अवसा सह नोऽस्मानागमन्तु तथा विश्वं द्रविणं वाजश्चास्मा अस्तु॥५२॥

भावार्थः-अत्र वाचकलु० मनुष्यैर्यादृशं सुखं स्वार्थमेष्टव्यं तादृशमन्यार्थं चात्र ये विद्वांसो भवेयुस्ते स्वयमधर्माचरणात्पृथग् भूत्वाऽन्यानपि तादृशान् कुर्युः ॥ ५२ ॥

पदार्थः—हे राजा आदि मनुष्यो! (अद्य) आज जैसे (विश्वे) सब आप्त लोग (विश्वे) सब (मरुतः) मरणधर्मा मनुष्य और (विश्वे) सब (समिद्धाः) प्रदीप्त (अग्नयः) अग्नि (ऊती) रक्षण क्रिया से (नः) हमारे रक्षक (भवन्तु) होवें (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अवसा) रक्षा आदि के साथ (नः) हम को (आ, गमन्तु) प्राप्त हों वैसे (विश्वम्) सब (द्रविणम्) धन और (वाजः) अन्न (अस्मै) इस मनुष्य के लिये (अस्तु) प्राप्त होवे ॥ ५२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि जैसा सुख अपने लिये चाहें वैसा ही औरों के लिये भी, इस जगत् में जो विद्वान् हों वे आप अधर्माचरण से पृथक् हो के औरों को भी वैसे करें ॥५२ ॥

विश्वेदेवा इत्यस्य सुहोत्र ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।

त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

विश्वे देवाः शृणुतेमᳬ हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यवि ष्ठ । ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

विश्वे । देवाः । शृणुत । इमम् । हवम् । मे । ये । अन्तरिक्षे । ये । उप । द्यवि । स्थ । ये । अग्निजिह्वा इत्यग्निऽजिह्वाः । उत । वा । यजत्राः । आसद्येत्याऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(विश्वे) (देवाः) विद्वांसः (शृणुत) (इमम्) (हवम्) अध्ययनाध्यापनव्यवहारम् (मे) मम (ये) (अन्तरिक्षे) (ये) (उप) (द्यवि) प्रकाशे (स्थ) वेदितारो भवत (ये) (अग्निजिह्वाः) अग्निर्जिह्वावद्येषान्ते (उत) अपि (वा) (यजत्राः) सङ्गन्तारः पूजनीयाः (आसद्य) स्थित्वा (अस्मिन्) (बर्हिषि) सभायामासने वा (मादयध्वम्) हर्षयत ॥५३॥

अन्वयः—हे विश्वे देवा! यूयं येऽन्तरिक्षे ये द्यवि ष्ठ येऽग्निजिह्वा उत वा यजत्राः पदार्थाः सन्ति तेषां वेदितारःस्थ मे इमं हवमुपशृणुत। अस्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यूयं यावन्तो भूम्यन्तरिक्ष प्रकाशे च पदार्थाः सन्ति तान् बुद्ध्वा विदुषां सभां विधाय विद्यार्थिनां परीक्षां कृत्वा विद्यासुशिक्षे वर्द्धयित्वा स्वयमानन्दिता भूत्वाऽन्यान् सततमानन्दयत ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोगो! तुम (ये) (अन्तरिक्षे) आकाश में (ये) जो (द्यवि) प्रकाश में (ये) जो (अग्निजिह्वाः) जिह्वा के तुल्य जिन के अग्नि हैं वे (उत) और (वा) अथवा (यजत्राः) संगति करने वाले पूजनीय पदार्थ हैं उन के जानने वाले (स्थ) हूजिये (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) पढ़ने पढ़ाने रूप व्यवहार को (उप, शृणुत) निकट से सुनो (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) सभा वा आसन पर (आसद्य) बैठ कर (मादयध्वम्) आनन्दित होओ ॥ ५३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम जितने भूमि अन्तरिक्ष और प्रकाश में पदार्थ हैं उन को जान के विद्वानों की सभा कर विद्यार्थियों की परीक्षा कर विद्या सुशिक्षा को बढ़ा और आप आनन्दित हो के दूसरों को निरन्तर आनन्दित करो ॥ ५३ ॥

देवेभ्य इत्यस्य वामदेव ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वꣳ सुवसि भागमुत्तमम् । आदिद्दामानꣳ सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ॥ ५४ ॥

देवेभ्यः । हि । प्रथमम् । यज्ञियेभ्यः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । सुवसि । भागम् । उत्तममित्युत्ऽतमम् । आत् । इत् । दामानम् । सवितः । वि । ऊर्णुषे । अनूचीना । जीविता । मानुषेभ्यः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (हि) यतः (प्रथमम्) (यज्ञियेभ्यः) यज्ञसिद्धिकरेभ्यः (अमृतत्वम्) मोक्षस्य भावम् (सुवसि) प्रेरयसि (भागम्) भजनीयम् (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (दामानम्) यो ददाति तम् (सवितः) सकलजगदुत्पादक (वि) (ऊर्णुषे) विस्तारयसि (अनूचीना) यैरन्वञ्चन्ति जानन्ति तानि (जीविता) जीवनहेतूनि कर्माणि (मानुषेभ्यः) ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे सवितर्जगदीश्वर ! हि यज्ञियेभ्यो देवेभ्य उत्तमं प्रथममृतत्वं भागं सुवसि मानुषेभ्यो आदिद्दामानमनूचीना जीविता च व्यूर्णुष तस्मादस्माभिरुपासनीयोसि॥ ५४ ॥

भावार्थः--हे मनुष्याः परमेश्वरस्यैव योगेन विद्वत्सङ्गेन च सर्वोत्तमसुखं मोक्षं प्राप्नुत ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे (सवितः) समस्त जगत् के उत्पादक जगदीश्वर (हि) जिस से आप (यज्ञियेभ्यः) यज्ञ सिद्धि करने हारे (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (उत्तमम्) श्रेष्ठ (प्रथमम्) मुख्य (अमृतत्वम्) मोक्ष भाव (भागम्) सेवने योग्य सुख को (सुवसि) प्रेरित करते हो (आत्, इत्) इस के अनन्तर ही (दामानम्) सुख देने वाले प्रकाश और (अनूचीना) जानने के साधन (जीविता) जीवने के हेतु कर्मों को (मानुषेभ्यः) मनुष्यों के लिये (वि, ऊर्णुषे) विस्तृत करते हो इस लिये उपासना के योग्य हो ॥ ५४ ॥

भावार्थः– हे मनुष्यो ! परमेश्वर ही के योग और विद्वानों के संग से सर्वोत्तम सुख वाले मोक्ष को प्राप्त होओ ॥ ५४ ॥

प्रवायुमित्यस्य ऋजिश्व ऋषिः । वायुर्देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम् । द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥ ५५ ॥

प्र । वायुम् । अच्छ । बृहती । मनीषा । बृहद्रयिमिति बृहत्ऽरयिम् । विश्ववारमिति विश्वऽवारम् । रथप्रामिति रथऽप्राम् । द्युतद्यामेति द्युतत्ऽयामा । नियुतऽइति निऽयुतः । पत्यमानः । कविः । कविम् । इयक्षसि । प्रयज्योऽइति प्रऽयज्यो ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(प्र) (वायुम्) प्राणादि लक्षणम् (अच्छ) शोभने । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (बृहती) महती (मनीषा) प्रज्ञा (बृहद्रयिम्) बृहन्तो रययो यस्मिंस्तम् (विश्ववारम्) यो विश्वं वृणोति तम् (रथप्राम्) यो रथान् यानानि प्राति व्याप्नोति तम् (द्युतद्यामा) द्युतद्दीप्यमानमग्निं याति तम् । अत्र विभक्तेर्लुक् संहितायामिति दीर्घः (नियुतः) निश्चितान् (पत्यमानः) प्राप्नुवन् (कविः) मेधावी विद्वान् (कविम्) मेधाविनम् (इयक्षसि) यष्टुं सङ्गन्तुमिच्छसि (प्रयज्यो) प्रकृष्टतया यज्ञकर्त्तः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे प्रयज्यो विद्वन्! नियुतः पत्यमानः कविः संस्त्वं या ते बृहती मनीषा तया बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्रां द्युतद्यामा वायुं कविं चाच्छ प्रेयक्षसि त्तस्मात्सर्वैः सत्कर्त्तव्योसि ॥ ५५ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसं प्राप्य पूर्णां विद्याप्रज्ञामखिलं धनं च प्राप्नुयुस्ते सत्कर्त्तव्याः स्युः ॥ ५५ ॥

पदार्थः—हे (प्रयज्यो) अच्छे प्रकार यज्ञ करने हारे विद्वन् ! (नियुतः) निश्चयात्मक पुरुषों को (पत्यमानः) प्राप्त होते हुए (कविः) बुद्धिमान् विद्वान् आप जो तुम्हारी (बृहती) बड़ी तेज (मनीषा) बुद्धि है उस से (बृहद्रयिम्) बहुत धनों के निमित्त (विश्ववारम्) सब को ग्रहण करने हारे (रथप्राम्) विमानादि यानों को व्याप्त होने वाले (द्युतद्यामा) अग्नि को प्रदीप्त करने वाले (वायुम्) प्राणादि स्वरूप वायु और (कविम्) बुद्धिमान् जन का (अच्छ, प्र, इयक्षसि) अच्छे प्रकार संग करना चाहते हो इस से सब के सत्कार के योग्य हो ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् को प्राप्त हो पूर्ण विद्या बुद्धि और समग्र धन को प्राप्त होवें वे सत्कार के योग्य हों ॥ ५५ ॥

इन्द्रवायू इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रवायू देवते ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥

अब विद्वान् लोग क्या करें इस वि० ॥

इन्द्रवायूऽ इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् ।
इन्दवो वामुशन्ति हि ॥ ५६ ॥

इन्द्रवायूऽ इतीन्द्रवायू । इमे । सुताः । उप । प्रयोभिरिति प्रयःऽभिः । आ गतम् । इन्दवः । वाम् । उशन्ति । हि ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) विद्युत्पवनविद्याविदौ (इमे) (सुताः) निष्पादिताः (उप) (प्रयोभिः) कमनीयैर्गुणकर्मस्वभावैः (आ) (गतम्) समन्तात् प्राप्नुतम् (इन्दवः) सोमाद्योषधिरसाः (वाम्) युवाम् (उशन्ति) कामयन्ते (हि) यतः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इन्द्रवायू युष्मदर्थमिमे सुताः पदार्थाः सन्ति हीन्दवो वामुशन्ति तस्मात् प्रयोभिस्तानुपागतम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो यतो यूयमस्माकमुपरि कृपां विधत्थ तस्माद्युष्मान् सर्वे प्राप्तुमिच्छन्ति ॥ ५६ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्रवायू) बिजुली और पवन की विद्या को जानने वाले विद्वानो ! तुम्हारे लिये (इमे) ये (सुताः) सिद्ध किये हुए पदार्थ हैं (हि) जिस कारण (इन्दवः) सोमादि ओषधियों के रस (वाम्) तुम को (उशन्ति) चाहते अर्थात् वे तुम्हारे योग्य हैं इससे (प्रयोभिः) उत्तम गुण कर्म स्वभावों के सहित उन को (उप, आ, गतम्) निकट से अच्छे प्रकार प्राप्त होओ ॥ ५६ ॥

भावार्थः—हे विद्वानो ! जिस कारण तुम लोग हमारे ऊपर कृपा करते हो इस-लिये सब लोग तुम को मिलना चाहते हैं ॥ ५६ ॥

मित्रमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। मित्रावरुणौ देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

मित्रꣳ हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीꣳ साधन्ता ॥ ५७ ॥

मित्रम्। हुवे। पूतदक्षमिति पूतऽदक्षम्। वरुणम्। च। रिशादसम्। धियम्। घृताचीम्। साधन्ता ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(मित्रम्) सुहृदम् (हुवे) स्वीकरोमि (पूतदक्षम्) पवित्रबलम् (वरुणम्) धार्मिकम् (च) (रिशादसम्) हिंसकानां हिंसकम् (धियम्) प्रज्ञाम् (घृताचीम्) या घृतमुदकमञ्चति तां रात्रिम्। घृताचीति रात्रिना० निघं० १।७ (साधन्ता) साधन्तौ ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथाऽहं धियं घृताचीञ्च साधन्ता पूतदक्षं मित्रं रिशादसं वरुणञ्च हुवे तथैतौ यूयमपि स्वीकुरुत ॥ ५७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० यथा प्राणोदानौ प्रज्ञां रात्रिञ्च साधनुतस्तथा विद्वांसः सर्वाण्युत्तमानि साधनानि गृहीत्वा कार्यसिद्धिं कुर्वन्तु ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे मैं (धियम्) बुद्धि तथा (घृताचीम्) शीतलतारूप जल को प्राप्त होने वाली रात्रि को (साधन्ता) सिद्ध करते हुए (पूतदक्षम्) शुद्ध बलयुक्त (मित्रम्) मित्र और (रिशादसम्) दुष्ट हिंसक को मारने हारे (वरुणम्) धर्मात्मा जन को (हुवे) स्वीकार करता हूं वैसे इन को तुम लोग भी स्वीकार करो॥५७॥

भावार्थः-इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे प्राण और उदान बुद्धि और रात्रि को सिद्ध करते वैसे विद्वान् लोग सब उत्तम साधनों का ग्रहण कर कार्यों को सिद्ध करें॥ ५७॥

दस्रेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अश्विनौ देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

दस्रा॑ युवाक॑वः सु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः। आ या॑तꣳ रुद्रवर्त्तनी॥ ५८॥ तम्प्र॒त्नथा॑। अ॒यं वे॒नः।*

दस्रा॑। युवाक॑वः। सु॒ताः। नास॑त्या। वृ॒क्तब॑र्हिषऽइति॑ वृ॒क्तऽब॑र्हिषः। आ। या॒त॒म्। रु॒द्र॒व॒र्त्त॒नी॒ऽइति॑ रुद्रवर्त्तनी॥ ५८॥

पदार्थः-(दस्रा) दुष्टानां निवारकौ (युवाकवः) ये युवां कामयन्ते ते (सुताः) निष्पन्नाः (नासत्या) अविद्यमानासत्याचरणौ (वृक्तबर्हिषः) वृक्तं वर्जितं बर्हिर्यैस्ते (आ) (यातम्) समन्तात् प्राप्नुतम् (रुद्रवर्त्तनी) रुद्रस्य वर्त्तनिरिव वर्त्तनिर्ययोस्तौ॥ ५८॥

* (अ०७मं१२। १६) में कहे दो मन्त्रों की प्रतीकें यहां कर्मकाण्ड विशेष में काम आने के लिये रक्खी हैं।

अन्वयः—हे नासत्या रुद्रवर्त्तनी दस्रा ये वृक्तबर्हिषो युवाकवः सुताः सन्ति तान् युवामायातम् ॥ ५८ ॥

भावार्थः—विदुषां योग्यतास्ति ये विद्याः कामयन्ते तेभ्यो विद्या दद्युः ॥५८॥

पदार्थः—हे (नासत्या) असत्य आचरण से पृथक् (रुद्रवर्त्तनी) दुष्ट रोदक न्यायाधीश के तुल्य आचरण वाले (दस्रा) दुष्टों के निवारक विद्वानो ! जो (वृक्तबर्हिषः) यज्ञ से पृथक् अर्थात् भोजनार्थ (युवाकवः) तुम को चाहने वाले (सुताः) सिद्ध किये पदार्थ हैं उनको तुम लोग (आ, यातम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होओ ॥ ५८ ॥

भावार्थः—विद्वानों को योग्य है कि जो विद्याओं की कामना करते हैं उनको विद्या देवें ॥ ५८ ॥

विदद्यदीत्यस्य कुशिक ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।
अथ स्त्री किं कुर्यादित्याह ॥

अब स्त्री क्या करे इस वि० ॥

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्र्यक्कः । अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ ५९ ॥

विदत् । यदि । सरमा । रुग्णम् । अद्रेः । महि । पाथः । पूर्व्यम् । सध्र्यक् । कः । अग्रम् । नयत् । सुपदीति सुऽपदी । अक्षराणाम् । अच्छ । रवम् । प्रथमा । जानती । गात् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(विदत्) जानीयात् । अडभावः । (यदि) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (सरमा) समानं रमा रमणमस्याः सा (रुग्णाम्) रोगिणम् (अद्रेः) मेघात् (महि) महत् (पाथः) अन्नम् (पूर्व्यम्) पूर्वैर्लब्धम् सध्र्यक् यः सहाञ्चतीति सः (कः) कुर्यात् (अग्रम्) पुरः (नयत्) प्राप्नुवत् (सुपदी) शोभना पादा यस्याः सा (अक्षराणाम्) (अच्छ) सम्यक् । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (रवम्) शब्दम् (प्रथमा) प्रख्याता (जानती) विज्ञानवती (गात्) प्राप्नोतु ॥ ५९ ॥

अन्वयः--यदि सरमा प्रथमा सुपद्यक्षराणां रवं जानती रुग्णं विदद्ग्रमा-त्सध्र्यक् पूर्व्यं मह्यद्रेरुत्पन्नं पाथः कः कुर्यात्पतिमच्छ गात्तर्हि सा सर्वं सुखमा-प्नुयात् ॥ ५९ ॥

भावार्थः—या स्त्री वैद्यवत्सर्वेषां हितकारिण्यौषधवदन्नं साद्धुं शक्नुया-द्यथायोग्यं भाषणं विजानीयात्सोत्तमं सुखं सततमाप्नुयात् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(यदि) जो (सरमा) पति के अनुकूल रमण करने हारी (प्रथमा) प्रख्यात (सुपदी) सुन्दर पगों वाली (अक्षराणाम्) अकारादि वर्णों के (रवम्) बोलने को (जानती) जानती हुई (रुग्णम्) रोगी प्राणी को (विदत्) जाने (अग्रम्) आगे (नयत्) पहुंचाने वाला (सध्र्यक्) साथ प्राप्त होता (पूर्व्यम्) प्रथम के लोगों ने प्राप्त किये (महि) महागुण युक्त (अद्रेः) मेघ से उत्पन्न हुए (पाथः) अन्न को (कः) करे अर्थात् भोजनार्थ सिद्ध करे और पति को (अच्छ) अच्छे प्रकार (गात्) प्राप्त होवे तो वह सुख को पावै ॥ ५९ ॥

भावार्थः—जो स्त्री वैद्य के तुल्य सब की हितकारिणी ओषधि के तुल्य अन्न बनाने को समर्थ हो और यथायोग्य बोलना भी जाने वह उत्तम सुख को निरन्तर पावै ॥ ५९ ॥

नहीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । वैश्वानरो देवता ।
भुरिक् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ मनुष्याः कथं मोक्षमाप्नुवन्तीत्याह ॥

अब मनुष्य कैसे मोक्ष को प्राप्त होते हैं इस वि० ॥

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरएतारमग्नेः । एमेनमवृधन्नमृता अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः ॥ ६० ॥

नहि । स्पशम् । अविदन् । अन्यम् । अस्मात् । वैश्वानरात् । पुरऽएतारमिति पुरःऽएतारम् । अग्नेः । आ । ईम् । एनम् । अवृधन् । अमृताः । अमर्त्यम् । वैश्वानरम् । क्षैत्रजित्याय । देवाः ॥ ६० ॥

पदार्थः—(नहि) (स्पशम्) दूतम् (अविदन्) विजानन्ति (अन्यम्) (अस्मात्) (वैश्वानरात्) सर्वनरहितकरात् (पुरएतारम्) अग्रे गन्तारं शीघ्रकारिणम् (अग्नेः) पावकात् (आ) (ईम्) सर्वतः (एनम्) (अवृधन्) वर्द्धयन्ति (अमृताः) मृत्युधर्मरहिताः (अमर्त्यम्) मृत्युधर्मरहितम् (वैश्वानरम्) विश्वस्य नायकम् (क्षैत्रजित्याय) यया क्रियया क्षेत्राणि जयन्ति तस्या भावाय (देवाः) विद्वांसः ॥ ६० ॥

अन्वयः–येऽमृता देवा अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्यायै नामावृधन्त ईमस्माद्वैश्वानरादग्नेः पुरएतारमन्यं स्पशं नह्याविदन् ॥ ६० ॥

भावार्थः–ये नाशोत्पत्तिरहिता मनुष्यदेहधरा जीवा विजयायोत्पत्तिनाशरहितं जगत्स्वामिनं परमात्मानमुपास्याती भिन्नं तद्वन्नोपासन्ते ते बन्धं विहाय मोक्षमभिगच्छेयुः ॥ ६० ॥

पदार्थः—जो (अमृताः) आत्मस्वरूप से मरणधर्म रहित (देवाः) विद्वान् लोग (अमर्त्यम्) नित्य व्यापक रूप (वैश्वानरम्) सब के चलाने वाले (एनम्) इस अग्नि को (क्षैत्रजित्याय) जिस क्रिया से खेतों को जीतते उस भूमि राज्य के होने के लिये (आ, अवृधन्) अच्छे प्रकार बढ़ाते हैं वे (ईम्) सब ओर से (अस्मात्) इस (वैश्वानरात्) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्नेः) अग्नि से (पुरएतारम्) पहिले पहुंचाने वाले (अन्यम्) भिन्न किसी को (स्पशम्) दूत (नहि) नहीं (आविदन्) जानते हैं ॥ ६० ॥

भावार्थः–जो उत्पत्ति नाश रहित मनुष्य देहधारी जीव विजय के लिये उत्पत्ति नाश रहित जगत् के स्वामी परमात्मा की उपासना कर उस से भिन्न की उस के तुल्य उपासना नहीं करते हैं वे बन्ध को छोड़ मोक्ष को प्राप्त होवें ॥ ६० ॥

उग्रेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

सभासेनेशौ किं कुर्य्यातामित्याह ॥

अब सभा सेनापति क्या करें इस वि० ॥

उग्रा विघनिना मृधऽइन्द्राग्नी हवामहे । ता नो मृडात ईदृशे ॥ ६१ ॥

उग्रा । विघनिनेति विऽघनिना । मृधः । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । हवामहे । ता । नः । मृडातः । ईदृशे ॥ ६१ ॥

पदार्थः–(उग्रा) उग्रबलौ तेजस्विस्वभावौ । अत्र विभक्तेर्लुकसंहितायामिति दीर्घः (विघनिना) विशेषेण हन्तारौ

(मृधः) हिंसकान् (इन्द्राग्नी) सभासेनाधीशौ (हवामहे) आह्वयामः (ता) तौ (नः) अस्मान् (मृडातः) सुखयतः (ईदृशे) ईदृग्लक्षणे सङ्ग्रामादिव्यवहारे ॥६१॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! वयं यावुग्र मृधो विघनिनेन्द्राग्नी हवामहे ता ईदृशे नोऽस्मान्मृडातः ॥ ६१ ॥

भावार्थः—यौ सभासेनाध्यक्षौ पक्षपातं विहाय बलं वर्द्धयित्वा शत्रून् विजयन्ते ते सर्वेषां सुखप्रदौ भवतः ॥ ६१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम जिन (उग्र) अधिक बली तेजस्वी स्वभाव वाले (मृधः) और हिंसकों को (विघनिना) विशेष कर मारने हारे (इन्द्राग्नी) सभा सेनापति को (हवामहे) बुलाते हैं (ता) वे (ईदृशे) इस प्रकार के संग्रामादि व्यवहार में (नः) हम लोगों को (मृडातः) सुखी करते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थः—जो सभा और सेना के अध्यापक पक्षपात को छोड़ बल को बढ़ा के शत्रुओं को जीतते हैं वे सब को सुख देने वाले होते हैं ॥ ६१ ॥

उपास्मावित्यस्य देवल ऋषिः । सोमो देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाध्यापकाध्येतारः कथं वर्तेरन्नित्याह ॥

अब पढ़ने पढ़ाने वाले कैसे वर्त्तें इस वि० ॥

उपा॑स्मै गायता नरः पव॑माना॒येन्द॑वे । अ॒भि दे॒वाँ२॥ इय॑क्षते ॥ ६२ ॥

उप॑ । अ॒स्मै । गा॒य॒त॒ । न॒रः॒ । पव॑मानाय । इन्द॑वे । अ॒भि । दे॒वान् । इय॑क्षते ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(उप) (अस्मै) (गायत) शास्त्राणि पाठयत । अत्र संहितायामिति दीर्घः (नरः) नायकाः (पवमानाय) पवित्रकर्त्रे (इन्दवे) ऋजवे विद्यार्थिने (देवान्) विदुषः (इयक्षते) यष्टुं सत्कर्त्तुमिच्छते । अत्र छान्दसो वर्णलोप इत्यभ्यासयकारलोपः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे नरो यूयं देवानभीयक्षतेऽस्मै पवमानायेन्दव उपगायत ॥६२॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा जिज्ञासवोऽध्यापकान् सन्तुष्टान् कर्त्तुमिच्छन्ति तथाऽध्यापका अपि तानध्यापयितुमिच्छेयुः ॥ ६२ ॥

पदार्थः—हे (नरः) नायक अध्यापकादि लोगो तुम लोग (देवान्) विद्वानों का (अभि) सब ओर से (इयक्षते) सत्कार करना चाहते हुए (अस्मै) इस (पवमानाय) पवित्र करने हारे (इन्दवे) कोमल विद्यार्थी के लिये (उपगायत) निकटस्थ हो के शास्त्रों को पढ़ाया करो ॥ ६२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे जिज्ञासु लोग अध्यापकों को सन्तुष्ट करना चाहते हैं वैसे अध्यापक लोग भी उन को पढ़ाने की इच्छा रक्खा करें ॥६२॥

ये त्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म वि० ॥

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ । ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः ॥ ६३ ॥

ये । त्वा । अहिहत्यऽ इत्यहिऽहत्ये । मघवन्निति मघऽवन् । अवर्द्धन् । ये । शाम्बरे । हरिवऽइति हरिऽवः । ये । गविष्ठाविति गोऽइष्टौ । ये । त्वा । नूनम् । अनुमदन्तीत्यनुऽमदन्ति । विप्राः । पिब । इन्द्र । सोमम् । सगण इति सऽगणः । मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः ॥६३॥

पदार्थः—(ये) (त्वा) त्वाम् (अहिहत्ये) अहेर्मेघस्य हत्या हननं यस्मिँस्तस्मिन् (मघवन्) परमपूजितधनयुक्त सेनापते (अवर्द्धन्) वर्द्धयेयुः (ये) (शाम्बरे) शम्बरस्य मेघस्याऽयं सङ्ग्रामस्तस्मिन् (हरिवः) प्रशस्ता हरयः किरणा इवाऽश्वा विद्यन्ते यस्य तत्सम्बुद्धौ (ये) (गविष्टौ) गवां किरणानां सङ्गत्याम् (ये) (त्वा) त्वाम् (नूनम्) निश्चितम् (अनु, मदन्ति) आनुकूल्येन हृष्यन्ति (विप्राः) मेधाविनः (पिब) (इन्द्र) परमैश्वर्य्ययुक्त विद्वन् (सोमम्) सदौषधिरसम् (सगणः) गणैः सह वर्त्तमानः (मरुद्भिः) वायुभिरिव मनुष्यैः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे मघवन् ! ये विप्रा अहिहत्ये गविष्टौ सूर्यमिव त्वावर्द्धन् । हे हरिवो ! ये शाम्बरे विद्युतमिव त्वावर्धन् ये नूनं त्वामनुमदन्ति ये च त्वां रक्षन्ति हे इन्द्र ! तैर्मरुद्भिः सह सगणः सूर्योरश्मिभिरिव मनुष्यैः सह सोमं पिब ॥६३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा मेघसूर्यसङ्ग्रामे सूर्यस्यैव विजयो जायते तथा मूर्खाणां विदुषाञ्च सङ्ग्रामे विदुषामेव विजयो भवति ॥ ६३ ॥

पदार्थः—हे (मघवन्) उत्तम पूजित धन वाले सेनापति ! (ये) जो (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (अहिहत्ये) जहां मेघ का काटना और (गविष्टौ) किरणों की संगति हो उस संग्राम में जैसे किरणें सूर्य के तेज को वैसे (त्वा) आप को (अवर्धन्) उत्साहित करें । हे (हरिवः) प्रशंसित किरणों के तुल्य चिलकते घोड़ों वाले शूरवीर जन ! (ये) जो लोग (शाम्बरे) मेघ सूर्य के संग्राम में बिजुली के तुल्य (त्वा) आप को बढ़ावें (ये) जो (नूनम्) निश्चय कर आपकी (अनु, मदन्ति) अनुकूलता से आनन्दित होते हैं और (ये) जो आप की रक्षा करते हैं । हे (इन्द्र) उत्तम ऐश्वर्य वाले जन ! (मरुद्भिः) जैसे वायु के (सगणः) गण के साथ सूर्य रस को ग्रहण करे वैसे मनुष्यों के साथ (सोमम्) श्रेष्ठ ओषधि रस को (पिब) पीजिये ॥६३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे मेघ और सूर्य के संग्राम में सूर्य का ही विजय होता है वैसे मूर्ख और विद्वानों के संग्राम में विद्वानों का ही विजय होता है ॥६३॥

जनिष्ठा इत्यस्य गौरीवितिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः । अवर्द्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

जनिष्ठाः । उग्रः । सहसे । तुराय । मन्द्रः । ओजिष्ठः । बहुलाभिमान इति बहुलऽअभिमानः । अवर्द्धन् । इन्द्रम् । मरुतः । चित् । अत्र । माता । यत् । वीरम् । दधनत् । धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

पदार्थः—(जनिष्ठाः) जनयेः । अत्र लुङ्यडभावः (उग्रः) तेजस्विस्वभावः (सहसे) बलाय (तुराय) शीघ्रत्वाय (मन्द्रः) स्तुत आनन्दप्रदः (ओजिष्ठः) अतिशयेन ओजस्वी (बहुलाभिमानः) बहुलो बहुविधोऽभिमानो यस्य सः (अवर्द्धन्) वर्द्धयेयुः (इन्द्रम्) सूर्य्यम् (मरुतः) वायवः (चित्) इव (अत्र) अस्मिन् राज्यपालनव्यवहारे (माता) जननी (यत्) यम् (वीरम्) शौर्यादिगुणयुक्तं पुत्रम् (दधनत्) अपोषयत् । अनकारागमश्छान्दसः (धनिष्ठा) अतिशयेन धनिनी ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे राजन्! धनिष्ठा माता यद्वीरं दधनदिन्द्रं मरुतश्चिदिव सभ्या यं त्वामवर्धयन्त्स त्वमत्र सहसे तुराय उग्रो मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः सन् सुखं जनिष्ठाः ॥ ६४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यः स्वयं ब्रह्मचर्येण शरीरात्मबलयुक्तो विद्वान् स दुष्टान् प्रत्युग्रः कठिनस्वभावः श्रेष्ठे सोऽन्यस्वभावः सन् बहुसुसभ्यावृतो धर्मात्मा भूत्वा न्यायविनयाभ्यां राज्यं पालयेत स सर्वतोऽभिवर्द्धेत ॥ ६४ ॥

पदार्थः—हे राजन्! (धनिष्ठा) अत्यन्त धनवती (माता) माता (यत्) जिस (वीरम्) शूरतादि गुणयुक्त आप पुत्र को (दधनत्) पुष्ट करती रही और (चित्) जैसे (इन्द्रम्) सूर्य्य को (मरुतः) वायु बढ़ावे वैसे सभासद् लोग जिस आप को (अवर्धन्) योग्यतादि से बढ़ावें सो आप (अत्र) इस राज्यपालन रूप व्यवहार में (सहसे) बल और (तुराय) शीघ्रता के लिये (उग्रः) तेजस्वि स्वभाव वाले (मन्द्रः) स्तुति प्रशंसा को प्राप्त आनन्द दाता (ओजिष्ठः) अतिशय पराक्रमी और (बहुलाभिमानः) अनेकप्रकार के पदार्थों के अभिमान वाले हुए सुख को (जनिष्ठाः) उत्पन्न कीजिये ॥ ६४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जो स्वयं ब्रह्मचर्य से शरीरात्मबलयुक्त विद्वान् हुआ दुष्टों के प्रति कठिनस्वभाववाला श्रेष्ठ के विषय भिन्न स्वभाववाला होता हुआ बहुत उत्तम सभ्यों से युक्त धर्मात्मा हुआ न्याय और विनय से राज्य की रक्षा करे वह सब ओर से बढ़े ॥ ६४ ॥

आ तू न इत्यस्य वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

आ तू नं इन्द्र वृत्रहन्नस्माकंमर्द्धमा गंहि । महान्महीभिंरूतिभिंः ॥ ६५ ॥

आ । तु । नः । इन्द्र । वृत्रहन्निति वृत्रऽहन् । अस्माकम् । अर्द्धम् । आ । गहि । महान् । महीभिः । ऊतिभिरित्यूतिऽभिः ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (तु) क्षिप्रम् । अत्र ऋचितुनु० इति दीर्घः (नः) अस्मान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् (वृत्रहन्) शत्रूणां विनाशक (अस्माकम्) (अर्धम्) वर्धनम् (आ) (गहि) प्राप्नुहि (महान्) पूजनीयतमः (महीभिः) महतीभिः (ऊतिभिः) रक्षादिभिः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे वृत्रहन्निन्द्र! त्वमस्माकमर्द्धमागहि महान् सन्महीभिरूतिभिर्नोऽस्मान् त्वादधनत् ॥ ६५ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद्दधनदिति पदमनुवर्त्तते हे राजन्! यथा भवानस्माकं रक्षकोऽस्ति तथा वयमपि भवन्तं वर्द्धयेम । सर्वे वयं प्रीत्या मिलित्वा दुष्टान्निवार्य्य श्रेष्ठान् धनाढ्यान् कुर्य्याम ॥ ६५ ॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं के विनाशक (इन्द्र) उत्तम ऐश्वर्य वाले राजन्! आप (अस्माकम्) हम लोगों की (अर्द्धम्) वृद्धि उन्नति को (आ, गहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये और (महान्) अत्यन्त पूजनीय हुए (महीभिः) बड़ी (ऊतिभिः) रक्षादि क्रियाओं से (नः) हम को (तु, आ, दधनत्) शीघ्र अच्छे प्रकार पुष्ट कीजिये ॥ ६५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (दधनत्) इस पद की अनुवृत्ति आती है । हे राजन्! जैसे आप हमारे रक्षक और वर्द्धक हैं वैसे हम लोग भी आप को बढ़ावें, सब हम लोग प्रीति से मिल के दुष्टों को निवृत्त करके श्रेष्ठों को धनाढ्य करें ॥ ६५ ॥

त्वमिन्द्रेत्यस्य नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

त्वमि॑न्द्र प्र॒तूर्त्ति॑ष्व॒भि विश्वा॑ असि॒ स्पृधः॑ । अ॒श॒स्ति॒हा ज॑नि॒ता वि॑श्व॒तूर॑सि॒ त्वं तू॑र्य्य तरुष्य॒तः ॥ ६६ ॥

त्वम् । इ॒न्द्र॒ । प्र॒तूर्त्ति॒ष्विति॑ प्रऽतूर्त्ति॑षु । अ॒भि । वि॒श्वाः॑ । अ॒सि॒ । स्पृधः॑ । अ॒श॒स्ति॒हेत्य॑शस्ति॒ऽहा । ज॒नि॒ता । वि॒श्व॒तूरिति॑ विश्व॒ऽतूः । अ॒सि॒ । त्वम् । तू॒र्य॒ । त॒रु॒ष्य॒तः ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्य्यप्रद (प्रतूर्त्तिषु) हननकर्मसु सङ्ग्रामेषु (अभि) (विश्वाः) सर्वाः (असि) भव-

सि (स्पृधः) स्पर्द्धमाना ईर्ष्यायुक्ताः शत्रुसेनाः (अशस्तिहा) अप्रशंसानां दुष्टानां हन्ता (जनिता) सुखानि प्रादुर्भावुकः (विश्वतूः) विश्वान् शत्रून् तूर्यति हिनस्ति सः (असि) (त्वम्) (तूर्य) हिंधि (तरुष्यतः) हनिष्यतः शत्रून् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र! यतस्त्वं प्रतूर्त्तिषु विश्वा स्पृधोऽभ्यासि। अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि स त्वं विजयवानसि। तस्मात्तरुष्यतस्तूर्य ॥ ६६ ॥

भावार्थः—ये पुरुषा अधर्म्यकर्मनिवर्त्तकाः सुखानां जनका युद्धविद्यासु कुशलाः स्युस्ते शत्रून् विजेतुं शक्नुयुः ॥ ६६ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) उत्तम ऐश्वर्य देने वाले राजन्! जिस कारण (त्वम्) आप (प्रतूर्त्तिषु) जिन में मारना होता उन संग्रामों में (विश्वाः) शत्रुओं की सब (स्पृधः) ईर्ष्यायुक्त सेनाओं (अभि, असि) तिरस्कार करते हो तथा (अशस्तिहा) जिन की कोई प्रशंसा न करे उन दुष्टों के हन्ता (जनिता) सुखों के उत्पन्न करने हारे (विश्वतूः) सब शत्रुओं को मारने वाले हुए (त्वम्) आप विजय वाले (असि) हो इस से (तरुष्यतः) हनन करने वाले शत्रुओं को (तूर्य्य) मारिये ॥ ६६ ॥

भावार्थः—जो राजपुरुष अधर्मयुक्त कर्मों के निवर्त्तक सुखों के उत्पादक और युद्ध विद्या में कुशल हों वे शत्रुओं को जीतने को समर्थ हों ॥ ६६ ॥

अनु ते शुष्ममित्यस्य नृमेध ऋषिः। इन्द्रो देवता।
पङ्क्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अनु॑ ते॒ शुष्मं॑ तु॒रय॑न्तमीयतुः क्षो॒णी शिशुं॒ न मा॒तरा॑। विश्वा॑स्ते॒ स्पृधः॑ श्नथयन्त म॒न्यवे॑ वृ॒त्रं यदि॑न्द्र॒ तूर्व॑सि ॥६७॥

अनु । ते । शुष्मम् । तुरयन्तम् । ईयतुः । क्षोणीऽइति क्षोणी । शिशुम् । न । मातरा । विश्वाः । ते । स्पृधः । श्नथयन्त । मन्यवे । वृत्रम् । यत् । इन्द्र । तूर्वसि ॥९७॥

पदार्थः-(अनु) (ते) तव (शुष्मम्) शत्रूणां शोषकं बलम् (तुरयन्तम) हिंसन्तम् (ईयतुः) गच्छतः (क्षोणी) स्वपरभूमी क्षोणीति पृथिवीना० निघं० १।१ (शिशुम्) बालकम् (न) इव (मातरा) मातापितरौ (विश्वाः) अखिलाः (ते) तव (स्पृधः) अरिसेनाः (श्नथयन्त) श्नथयन्ति हता भवन्ति । अत्राडभावः (मन्यवे) क्रोधात् । पञ्चम्यर्थे चतुर्थी (वृत्रम्) न्यायावरकं शत्रुम् (यत्) यम् (इन्द्र) शत्रुविदारक (तूर्वसि) हिनस्ति॥९७॥

अन्वयः-हे इन्द्र ! यस्य ते तुरयन्तं शुष्मं शिशुं मातरा न क्षोणी अन्वीयतुस्तस्य ते मन्यवे विश्वास्पृधः श्नथयन्त यद्यं वृत्रं शत्रुं त्वं तूर्वसि स पराजितो भवति ॥ ९७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—येषां राजपुरुषाणां हृष्टाः पुष्टा युद्धं प्रतिजानानाः सेनाः स्युस्ता सर्वत्र विजयमाप्नुयुः ॥ ९७ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) शत्रुओं के नाशक राजन् ! जिस (ते) आप के (तुरयन्तम्) शत्रुओं को मारते हुए (शुष्मम्) शत्रुओं को सुखाने हारे बल को (शिशुम्) बालक को (मातरा) माता पिता (न) के समान (क्षोणी) अपनी पराई भूमि (अनु, ईयतुः) अनुकूल प्राप्त होती उस (ते) आप के (मन्यवे) क्रोध से (विश्वाः, स्पृधः) सब शत्रुओं की ईर्ष्या करने हारी सेना (श्नथयन्त) नष्ट भ्रष्ट मारी जाती हैं (यत्) जिस (वृत्रम्) न्याय के निरोधक शत्रु को आप (तूर्वसि) मारते हो वह पराजित हो जाता है ॥ ९७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जिन राज पुरुषों की हृष्ट पुष्ट युद्ध की प्रतिज्ञा करती हुई सेना हों वे सर्वत्र विजय को प्राप्त होवें ॥ ६७ ॥

यज्ञ इत्यस्य कुत्स ऋषिः । आदित्या देवताः ।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः । आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥ ६८ ॥

यज्ञः । देवानाम् । प्रति । एति । सुम्नम् । आदित्यासः । भवत । मृडयन्तः । आ । वः । अर्वाची । सुमतिरिति सुऽमतिः । ववृत्यात् । अꣳहोः । चित् । या । वरिवोवित्तरेति वरिवोवित्ऽतरा । असत् ॥ ६८ ॥

पदार्थः—(यज्ञः) सङ्गन्तव्यः सङ्ग्रामादिव्यवहारः (देवानाम्) विदुषाम् (प्रति) (एति) प्राप्नोति (सुम्नम्) सुखं कर्त्तुम् (आदित्यासः) सूर्यवत्तेजस्विनः (भवत) । अत्र संहितायामिति दीर्घः (मृडयन्तः) सुखयन्तः (आ) (वः) युष्माकम् (अर्वाची) अस्मदभिमुखी (सुमतिः) शोभना प्रज्ञा (ववृत्यात्) आवर्त्तताम् । वृतु धातोर्लिङि विकरणात्मनेपदव्यत्ययेन श्लुर्द्वित्वं च (अंहोः) अपराधिनः (चित्) अपि (या) (वरिवोवित्तरा) यातिशयेन परिचरणलब्ध्री (असत्) स्यात् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—हे आदित्यासः पूर्णविद्या यूयं यथा देवानां यज्ञो सुम्नं प्रत्येति तथा मृडयन्तो भवत । यथा वो वरिवो वित्तराऽर्वाची सुमतिरावृत्यादंहोश्चित्तथा सुखकरी असत् ॥ ६८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यस्य देशस्य मध्ये पूर्णविद्या राजकर्मकराः स्युस्तत्र सर्वेषामेका मतिर्भूत्वा सुखमत्यन्तं वर्धेत ॥ ६८ ॥

पदार्थः—हे (आदित्यासः) सूर्यवत्तेजस्वी पूर्णविद्या वाले लोगो ! जैसे (देवानाम्) विद्वानों का (यज्ञः) संगति के योग्य संग्रामादि व्यवहार (सुम्नम्) सुख करने को (प्रत्येति) उलटा प्राप्त होता है वैसे (मृडयन्तः) सुखी करने वाले (भवत) होवो । जैसे (वः) तुम्हारी (वरिवोवित्तरा) अत्यन्त सेवा को प्राप्त (अर्वाची) हमारे अनुकूल (सुमतिः) उत्तम बुद्धि (आ, वृत्यात्) अच्छे प्रकार वर्त्ते (अंहोः) अपराधी को (चित्) भी वैसे सुख करने वाली हमारे अनुकूल बुद्धि (असत्) होवे ॥ ६८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जिस देश में पूर्ण विद्या वाले राज कर्मचारी हों वहां सब की एक मति हो कर अत्यन्त सुख बढ़े ॥ ६८ ॥

अदब्धेभिरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः। सविता देवता।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम् । हिरण्यजिह्वः सुवितायं नव्यसे रक्षामाकिर्नोऽ अघशꣳस ईशत ॥६९ ॥

अदब्धेभिः । सवितरिति सवितः । पायुभिरिति पायुऽभिः । त्वम् । शिवेभिः । अद्य । परि । पाहि । नः । गयम् । हिरण्यजिह्व इति हिरण्यऽजिह्वः । सुविताय । नव्यसे । रक्ष । माकिः । नः । अघशंसः । ईशत ॥६९॥

पदार्थः—(अदब्धेभिः) अहिंसितैः (सवितः) अनेकपदार्थोत्पादकतेजस्विन् विद्वन् राजन्! (पायुभिः) रक्षणैः (त्वम्) (शिवेभिः) कल्याणकारकैः (अद्य) (परि) (पाहि) रक्ष (नः) अस्माकम् (गयम्) प्रशंसनीयमपत्यं धनं गृहं वा । गय इत्यपत्यनाम निघं० २ । २ धननाम २ । १० गृहनाम च ३ । ४ (हिरण्यजिह्वः) हिरण्यं हितरमणीया जिह्वा वाक्यस्य सः । हितरमणम्भवतीति वा हृदयरमणम्भवतीति वा निरु० २ । १० जिह्वेति वाङ्नाः० निघं० १ । ११ (सुविताय) ऐश्वर्याय (नव्यसे) अतिशयेन नवीनाय (रक्ष) अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (माकिः) निषेधे (नः) अस्मान् (अघशंसः) अघस्य पापस्य स्तोता चोरः (ईशत) समर्थो भवेत् ॥६९॥

अन्वयः—हे सवितस्त्वमदब्धेभिः शिवेभिः पायुभिरद्य नो गयं परि पाहि हिरण्यजिह्वः सन् नव्यसे सुविताय नो रक्ष यतोऽघशंसो नो माकिरीशत ॥६९॥

भावार्थः—प्रजाजनैः राजपुरुषा एवं सम्बोधनीया यूयमस्माकमपत्यधनगृहादीनां पदार्थानां रक्षणेन नवीनं नवीनमैश्वर्यं प्रापय्यास्मभ्यं पीडामदान्दूरे रक्षत ॥ ६९ ॥

पदार्थः—हे (सवितः) अनेक पदार्थों के उत्पादक तेजस्वि विद्वन् राजन्! (त्वम्) आप (अदब्धेभिः) अहिंसित (शिवेभिः) कल्याणकारी (पायुभिः) रक्षाओं से (अद्य) आज (नः) हमारे (गयम्) प्रशंसा के योग्य सन्तान, धन और घर की (परि, पाहि) सब ओर से रक्षा कीजिये (हिरण्यजिह्वः) सब के हित में रमण करने योग्य वाणी वाले हुए आप (नव्यसे) अत्यन्त नवीन (सुविताय) ऐश्वर्य के लिये (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कीजिये जिस से (अघशंसः) पाप की प्रशंसा करने वाला दुष्ट चोर हम पर (माकिः) न (ईशत) समर्थ होवे ॥ ६९ ॥

भावार्थः—प्रजा जनों को राजपुरुषों से ऐसा सम्बोधन करना चाहिये कि तुम लोग हमारे सन्तान, धन, घर और पदार्थों की रक्षा से नवीन २ ऐश्वर्य को प्राप्त करा के हम को पीड़ा देने हारे दुष्टों से दूर रक्खो ॥ ६९ ॥

प्रवीरयेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः वायुर्देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

प्र वी॒रया॒ शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑ । वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥ ७० ॥

प्र । वी॒रयेति॑ वीर॒ऽया । शुच॑यः । द॒द्रि॒रे॒ । वा॒म् । अ॒ध्व॒र्युभि॒रित्य॑ध्व॒र्युऽभिः॑ । मधु॑मन्त॒ऽइति॒ मधु॑ऽमन्तः । सु॒तासः॑ । वह॑ । वा॒यो॒ऽइति॑ वायो । नि॒युत॒ऽइति॑ नि॒ऽयुतः॑ । या॒हि॒ । अच्छ॑ । पिब॑ । सु॒तस्य॑ । अन्ध॑सः । मदा॑य ॥ ७० ॥

पदार्थः-(प्र) (वीरया) वीरयुक्तया (शुचयः) पवित्राः (दद्रिरे) विदीर्णान् कुर्वन्ति । व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम् (वाम्) युवयोः राजप्रजाजनयोः (अध्वर्युभिः) हिंसाऽन्यायवर्जितैः सह (मधुमन्तः) प्रशस्तविज्ञानयुक्ताः (सुतासः) विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्नाः (वह) प्रापय (वायो) वायुवद्वर्त्तमान बलिष्ठ राजन्! (नियुतः) निरंतरं मिश्रितामिश्रितान् वाय्वादिगुणान् (याहि) प्राप्नुहि (अच्छ) सम्यक् । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (पिब) अत्र द्व्यचोतस्तिङ इतिदीर्घः (सुतस्य) निष्पन्नस्य (अन्धसः) अन्नस्य (मदाय) आनन्दाय ॥ ७० ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजनौ ये वां मधुमन्तः सुतासः शुचयो जना अध्वर्युभिः वीरया सेनया शत्रून् प्र दद्रिरे तैः सह हे वायो! त्वं नियुतः वह-अच्छ याहि मदाय सुतस्यांधसो रसं च पिब ॥ ७० ॥

भावार्थः-ये पवित्राचरणा राजप्रजाभक्ता विज्ञानवन्तो वीरसेनया शत्रून् विदृणन्ति तान् प्राप्य राजाऽऽनन्दितो भवेत् । यथा स्वस्मा आनन्दमिच्छेत्तथा राजप्रजाजनेभ्योऽपि काङ्क्षेत ॥ ७० ॥

पदार्थः—हे राज प्रजा जनो ! जो (वाम्) तुम दोनों के (मधुमन्तः) प्रशंसित ज्ञान युक्त (सुतासः) विद्या और उत्तम शिक्षा से सिद्ध किये गये (शुचयः) पवित्र मनुष्य (अध्वर्युभिः) हिंसा और अन्याय से पृथक् रहने वालों के साथ (वीरया) वीर पुरुषों से युक्त सेना से शत्रुओं को (प्र, दद्रिरे) अच्छे प्रकार विदीर्ण करते हैं उन के साथ हे (वायो) वायु के सदृश वर्त्तमान बलिष्ठ राजन् ! आप (नियुतः) निरन्तर संयुक्त वियुक्त होने वाले वायु आदि गुणों को (वह) प्राप्त कीजिये । और (अच्छ, याहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये तथा (मदाय) आनन्द के लिये (सुतस्य) सिद्ध किये हुए (अन्धसः) अन्न के रस को (पिब) पीजिये ॥ ७० ॥

भावार्थः—जो पवित्र आचरण करने वाले राजप्रजा के हितैषी विज्ञान युक्त पुरुष वीरों की सेना से शत्रुओं को विदीर्ण करते हैं उन को प्राप्त होके राजा आनन्दित होवे । राजा जैसा अपने लिये आनन्द चाहे वैसा राजप्रजाजनों के लिये भी चाहे ॥७०॥

गाव इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते ।
गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ पृथिवीसूर्यौ कीदृशावित्याह ॥

अब पृथिवी सूर्य कैसे हैं इस वि० ॥

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा । उभा कर्णा हिरण्यया ॥७१॥

गावः । उप । अवत । अवतम् । महीऽइति मही । यज्ञस्य । रप्सुदा । उभा । कर्णा । हिरण्यया ॥७१॥

पदार्थः—(गावः) किरणाः (उप) (अवत) रक्षत (अवतम्) कूपम् (मही) द्यावापृथिव्यौ (यज्ञस्य) सङ्गतस्य संसारस्य (रप्सुदा) सुरूपप्रदे (उभा) उभे (कर्णा) कर्त्र्यौ । (हिरण्यया) ज्योतिष्प्रचुरे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यथारप्सुदा उभा कर्णा हिरण्यया मही यज्ञस्यावतमिव रक्षिके भवतो गावश्च रक्षकाः स्युस्तथैतान् यूयमुपावत ॥ ७१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा कृषीवलाः कूपोदकेन क्षेत्राण्यारामांश्च संरक्ष्य श्रीमन्तो भवन्ति तथा पृथिवीसूर्यौ सर्वेषां श्रीकारके भवतः ॥ ७१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (रप्सुदा) सुन्दर रूप देने वाले (उभा) दोनों (कर्णा) कार्यसाधक (हिरण्यया) ज्योतिःस्वरूप (मही) महत्परिमाण वाले सूर्य पृथिवी (यज्ञस्य) संगत संसार के (अवतम्) कूप के तुल्य रक्षा करने वाले होते और (गावः) किरण भी रक्षक होवें । वैसे इन की तुम लोग (दृप, अवत) रक्षा करो ॥ ७१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे किसान लोग कूप के जल से खेतों और वाटिकाओं की सम्यक् रक्षा कर धनवान् होते वैसे पृथिवी सूर्य सब के धन कारक होते हैं ॥ ७१ ॥

काव्ययोरित्यस्य दक्ष ऋषिः । विद्वान् देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
अथाऽध्यापकोपदेशकविषयमाह ॥
अब अध्यापक और उपदेशक के वि० ॥

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे । रिशादसा सधस्थ्ऽआ ॥ ७२ ॥

काव्ययोः । आजानेष्वित्याऽजानेषु । क्रत्वा । दक्षस्य । दुरोणे । रिशादसा । सधस्थऽइति सधऽस्थे । आ ॥ ७२ ॥

पदार्थः—(काव्ययोः) कविभिर्विद्वद्भिर्निर्मितयोर्व्यवहारपरमार्थप्रतिपादकयोर्ग्रन्थयोः (आजानेषु) समन्ताज्जायन्ते विद्वांसो यैस्तेषु पठनपाठनादि व्यवहारेषु (क्रत्वा) प्रज्ञया कर्मणा वा (दक्षस्य) कुशलस्य जनस्य (दुरोणे) गृहे (रिशादसा) अविद्यादिदोषनाशकावध्यापकोपदेशकौ (सधस्थे) सह तिष्ठन्ति यत्र (आ) समन्तात् ॥ ७२ ॥

अन्वयः–हे रिशादसा ! काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य सधस्थे दुरोणे युवामागच्छतम् ॥ ७२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यावध्यापकोपदेशकौ राजप्रजाजनान् प्राज्ञान्बलयुक्तानरोगान्परस्परास्मिन् प्रीतिमतो धर्मात्मनः पुरुषार्थिनः संपादयेतां तौ पितृवत्सत्कर्तव्यौस्तः ॥ ७२ ॥

पदार्थः—हे (रिशादसा) अविद्यादि दोषों के नाशक अध्यापक उपदेशक लोगो! (काव्ययोः) कवि विद्वानों ने बनाये व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों के (आजानेषु) जिन से विद्वान् होते उन पठनपाठनादि व्यवहारों में (क्रत्वा) बुद्धि से वा कर्म करके (दक्षस्य) कुशल पुरुष के (सधस्थे) जिस में साथ मिल कर बैठें उस (दुरोणे) घर में तुम लोग (आ) आया करो ॥ ७२ ॥

भावार्थः–हे मनुष्यो! जो अध्यापक तथा उपदेशक लोग राजा प्रजा जनों को बुद्धिमान् बलयुक्त नीरोग आपस में प्रीति वाले धर्मात्मा और पुरुषार्थी करें वे पिता के तुल्य सत्कार करने योग्य हैं ॥ ७२ ॥

दैव्यावित्यस्य दक्ष ऋषिः । अध्वर्यू देवते ।
निचृद्गायत्री छन्दः षड्जः स्वरः ॥

अथ याननिर्म्माणविषयमाह ॥

अब यान बनाने का वि० ॥

दैव्या॑वध्वर्यू॒ आ ग॑तꣳ रथे॑न॒ सूर्य॑त्वचा । मध्वा॑ य॒ज्ञꣳ सम॑ञ्जाथे ॥ ७३ ॥ तम्प्र॒त्नथा॑ अ॒यं वे॒नः * ॥

दैव्यौ॑ । अ॒ध्व॒र्यू॒ऽइत्य॑ध्वर्यू । आ । ग॒त॒म् । रथे॑न । सूर्य॑त्व॒चेति॒ सूर्य॑ऽत्वचा । मध्वा॑ । य॒ज्ञम् । सम् । अ॒ञ्जा॒थ॒ऽ इत्य॑ञ्जाथे ॥ ७३ ॥

* यहां भी (अ० ७ । मं० १२ । १६) में पूर्व कहे दो मंत्रों की प्रतीक कर्मकाण्ड विशेष के लिये रक्खी हैं ॥

पदार्थः—(दैव्यौ) देवेषु विद्वत्सु कुशलौ (अध्वर्यू) आत्मनोऽध्वरमहिंसामिच्छन्तौ (आ) (गतम्) आगच्छतम् (रथेन) रमणहेतुना यानेन (सूर्यत्वचा) सूर्य इव प्रदीप्ता त्वग् यस्य तेन (मध्वा) मधुरभाषणेन (यज्ञम्) गमनाख्यं व्यवहारम् (सम्) (अञ्जाथे) प्रकटयतम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—हे दैव्यावध्वर्यू ! युवां सूर्यत्वचा रथेनागतम् आगत्य मध्वा यज्ञं समञ्जाथे ॥ ७३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यानि भूजलान्तरिक्षगमकानि सुशोभितानि सूर्यवत्प्रकाशितानि यानानि निर्मातव्यानि तैरभीष्टाः कामाः साधनीयाः ॥ ७३ ॥

पदार्थः—हे (दैव्यौ) विद्वानों में कुशल प्रवीण (अध्वर्यू) अपने आत्मा को अहिंसा धर्म चाहते हुए विद्वानो ! तुम दोनों (सूर्यत्वचा) सूर्य के तुल्य कान्ति वाले (रथेन) आनन्द के हेतु यान से (आ, गतम्) आया करो और आकर (मध्वा) मधुर भाषण से (यज्ञम्) चलने रूप व्यवहार को (सम्, अञ्जाथे) सम्यक् प्रकट किया करो ॥ ७३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये पृथिवी जल और अन्तरिक्ष में ले चलने वाले उत्तम शोभायमान सूर्य के तुल्य प्रकाशित यानों को बनावें और उन से अभीष्ट कामनाओं को सिद्ध करें ॥ ७३ ॥

तिरश्चीन इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सूर्यो देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ विद्युद्विषयमाह ॥

अब बिजुली के वि० ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् । रेतोधाऽआसन्महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ७४ ॥

तिरश्चीनः। विततऽइति विऽततः। रश्मिः। एषाम्। अधः। स्वित्। आसीत्। उपरि। स्वित्। आसीत्। रेतोधाऽइति रेतःऽधाः। आसन्। महिमानः। आसन्। स्वधा। अवस्तात्। प्रयतिरिति प्रऽयतिः। परस्तात् ॥ ७४ ॥

पदार्थः—(तिरश्चीनः) तिर्यग्गमनः (विततः) विस्तृतः (रश्मिः) किरणो दीप्तिः (एषाम्) विद्युत्सूर्यादीनाम् (अधः) अर्वाक् (स्वित्) अपि (आसीत्) अस्ति (उपरि) (स्वित्) (आसीत्) अस्ति (रेतोधाः) ये रेतो वीर्यं दधति ते (आसन्) सन्तु (महिमानः) पूज्यमानाः (आसन्) स्युः (स्वधा) ये स्वं दधति ते। अत्र विभक्तिलोपः (अवस्तात्) अवरस्मात् (प्रयतिः) प्रयतनशीलः (परस्तात्) परस्मात् ॥७४॥

अन्वयः—हे मनुष्या! एषां तिरश्चीनो विततो रश्मिरधः स्विदासीदुपरि स्विदासीदवस्तात्परस्ताच्च प्रयतिरस्ति तद्विज्ञानेन रेतोधा आसन् महिमानः स्वधा सन्तो भवन्त उपकारका आसन् ॥ ७४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यस्या विद्युतो दीप्तिरन्तस्था सती सर्वासु दिक्षु व्याप्ताऽस्ति सैव सर्वं दधातीति यूयं विजानीत ॥ ७४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (एषाम्) इन विद्युत् और सूर्य आदि की (तिरश्चीनः) तिरछे गमन वाली (विततः) विस्तारयुक्त (रश्मिः) किरण वा दीप्ति (अधः) नीचे (स्वित्) भी (आसीत्) है (उपरि) ऊपर (स्वित्) भी (आसीत्) है तथा (अवस्तात्) इधर से और (परस्तात्) उधर से (प्रयतिः) प्रयतन वाली है उस के विज्ञान से (रेतोधाः) पराक्रम को धारण करने वाले (आसन्) हों तथा (महिमानः) पूज्य और (स्वधा) अपने धनादि पदार्थ के धारक होते हुए आप लोग उपकारी (आसन्) हूजिये ॥ ७४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जिस बिजुली की दीप्ति सब के भीतर रहती हुई सब दिशाओं में व्याप्त है वही सब को धारण करती है ऐसा तुम लोग जानो ॥ ७४ ॥

आरोदसीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। विद्वान् देवता। निचृज्जगतीछन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह

फिर उसी वि० ॥

आ रोदसीऽअपृणादा स्वर्महज्जातं यदेनमपसोऽअधारयन्। सोऽअध्वराय परिणीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥ ७५ ॥

आ। रोदसीऽइति रोदसी। अपृणत्। आ। स्वः। महत्। जातम्। यत्। एनम्। अपसः। अधारयन्। सः। अध्वराय। परि। नीयते। कविः। अत्यः। न। वाजसातयऽइतिवाजऽसातये। चनोहितऽइति चनःऽहितः॥७५॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (अपृणात्) पृणाति व्याप्नोति (आ) (स्वः) अन्तरिक्षम् (महत्) (जातम्) (यत्) (एनम्) (अपसः) कर्माणि (अधारयन्) धारयन्ति (सः) (अध्वराय) अहिंसाख्याय शिल्पमयाय यज्ञाय (परि) सर्वतः (नीयते) प्राप्यते (कविः) शब्दहेतुः (अत्यः) योऽततिव्याप्नोत्यध्वानं सोऽश्वः (न) इव (वाजसातये) वाजस्य वेगस्य संभजनाय (चनोहितः) चनसे पृथिव्याद्यन्नाय हितकारी। चन इत्यन्ननाम निरु० ६। १६॥ ७५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यद्यो विद्युद्रूपोऽग्नीरोदसी महज्जातं स्वश्चाऽपृणादेनमपस अधारयन् यश्च कविरध्वराय वाजसातये चात्यो न विद्वद्भिः परिणीयते स च नो हितोस्तीति यूयं विजानीत ॥ ७५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरनेकविधैर्विज्ञानकर्मभिर्विद्युद्विद्यां लब्ध्वा भूम्यादिषु व्याप्तो विभाजकश्च साधितः सन् यानादीनां सद्यो गमयिताऽग्निः कार्येषूपयोक्तव्यः ॥ ७५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्) जो विद्युत् रूप अग्नि (रोदसी) सूर्य पृथिवी और (महत्) महान् (जातम्) प्रसिद्ध (स्वः) अन्तरिक्ष को (आ, अपृणात्) अच्छे प्रकार व्याप्त होता (एनम्) इस अग्नि को (अपसः) कर्म (आ, अधारयन्) अच्छे प्रकार धारण करते तथा जो (कविः) शब्द होने का हेतु अग्नि (अध्वराय) अहिंसा नामक शिल्पविद्या रूप यज्ञ के तथा (वाजसातये) वेग के सम्यक् सेवन के लिये (अत्यः) मार्ग को व्याप्त होने वाले घोड़े के (न) समान विद्वानों ने (परि, नीयते) प्राप्त किया है (सः) वह (च नो हितः) पृथिवी आदि अन्न के लिये हितकारी है ऐसा तुमलोग जानो ॥ ७५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अनेक प्रकार के विज्ञान और कर्मों से बिजुली रूप अग्नि की विद्या को प्राप्त होके भूमि आदि में व्याप्त विभागकर्त्ता साधन किया हुआ यान आदि को शीघ्र पहुंचाने वाले अग्नि को कार्यों में उपयुक्त करें ॥ ७५ ॥

उक्थेभिरित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ॥

गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

कीदृशा जनाः सत्काराहाः स्युरित्याह ॥

कैसे मनुष्य सत्कार के योग्य हों इस वि० ॥

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा । आङ्गूषैराविवासतः ॥ ७६ ॥

उक्थेभिः। वृत्रहन्तमेति वृत्रहन्ऽतमा। या। मन्दाना। चित्। आ। गिरा। आङ्गूषैः। आविवासतऽइत्याऽविवासतः ॥ ७९ ॥

पदार्थः-(उक्थेभिः) प्रशंसनीयैः स्तुतिसाधकैर्वेदविभागैर्मन्त्रैः (वृत्रहन्तमा) अतिशयेन वृत्राणामावरकाणां पापिनां हन्तारौ (या) यौ (मन्दाना) आनन्दप्रदौ अत्र सर्वत्र विभक्तेर्डादेशः (चित्) इव (आ) समन्तात् (गिरा) वाण्या (आङ्गूषैः) समन्ताद् घोषैः (आविवासतः) समन्तात्परिचरतः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—या मन्दाना वृत्रहन्तमा सभासेनाध्यक्षौ चिदिव गिरा आङ्गूषैरुक्थेभिश्च शिल्पविज्ञानमाविवासतस्तावध्यापकोपदेशकौ मनुष्यैरासेवनीयौ॥७९॥

भावार्थः-ये मनुष्याः सभासेनाध्यक्षवद्विद्यादिकार्यसाधकाः सूपदेशैःसर्वान् विदुषः संपादयन्तः प्रवृत्ताः स्युस्तएव सर्वैः सत्कर्त्तव्या भवेयुः ॥ ७९ ॥

पदार्थः—(या) जो (मन्दाना) आनन्द देने वाले (वृत्रहन्तमा) धर्म का निरोध करने हारे पापियों के नाशक सभा सेनापति के (चित्) समान (गिरा) वाणी (आङ्गूषैः) अच्छे घोष और (उक्थेभिः) प्रशंसा योग्य स्तुतियों के साधक वेद के भागरूप मन्त्रों से शिल्प विज्ञान का (आविवासतः) अच्छे प्रकार सेवन करते हैं उन अध्यापक उपदेशकों की मनुष्यों को (आ) अच्छे प्रकार सेवा करनी चाहिये ॥ ७९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सभा सेनाध्यक्ष के तुल्य विद्यादि कार्य्यों के साधक सुन्दर उपदेशों से सब को विद्वान् करते हुए प्रवृत्त हों वेही सब को सत्कार करने योग्य हों ॥ ७९ ॥

उप न इत्यस्य सुहोत्रऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
अथ पितरौ स्वसन्तानान् प्रति किं कुर्यातामित्याह ॥
अब माता पिता अपने सन्तानों के प्रति क्या करें इस वि० ॥

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
सुमृडीका भवन्तु नः ॥ ७७ ॥

उप । नः । सूनवः । गिरः । शृण्वन्तु । अमृतस्य । ये । सुमृडीकाऽइति सुऽमृडीकाः । भवन्तु । नः ॥ ७७ ॥

पदार्थः—(उप) (नः) अस्माकम् (सूनवः) अपत्यानि (गिरः) (शृण्वन्तु) (अमृतस्य) नाशरहितस्य परमेश्वरस्य नित्यस्य वेदस्य वा (ये) (सुमृडीकाः) सुष्ठु सुखकराः (भवन्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ये नः सूनवोऽमृतस्य गिर उपशृण्वन्तु ते नस्सुमृडीका भवन्तु ॥ ७७ ॥

भावार्थः—यदि मातापितरौ स्वपुत्रान् कन्याश्च ब्रह्मचर्येण वेदविद्यया सुशिक्षया च युक्तान् कृत्वा शरीरात्मबलवतः कुर्यातां तर्हि तेभ्योऽत्यन्तसुखकरौ स्याताम् ॥ ७८ ॥

पदार्थः—(ये) जो (नः) हमारे (सूनवः) सन्तान (अमृतस्य) नाशरहित परमेश्वर के सम्बन्ध की वा नित्य वेद की (गिरः) वाणियों को (उप, शृण्वन्तु) अध्यापकादि के निकट सुनें वे (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम सुख करने हारे (भवन्तु) होवें ॥ ७७ ॥

भावार्थः—जो माता पिता अपने पुत्रों और कन्याओं को ब्रह्मचर्य के साथ वेद विद्या और उत्तम शिक्षा से युक्त कर शरीर और आत्मा के बल वाले करें तो उन सन्तानों के लिये अत्यन्त हितकारी हों ॥ ७७ ॥

ब्रह्माणीत्यस्य अगस्त्य ऋषिः । इन्द्रमरुतौ देवते ।
विराट्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनर्विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥
फिर विद्वान् लोग क्या करें इस वि० ॥

ब्रह्माणि मे मतयः शꣳ सुतासः शुष्मऽइयर्ति प्रभृतो मेऽअद्रिः । आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ ॥ ७८ ॥

ब्रह्माणि । मे । मतयः । शम् । सुतासः । शुष्मः । इयर्त्ति । प्रभृतऽइति प्रऽभृतः । मे । अद्रिः । आ । शासते । प्रति । हर्य्यन्ति । उक्था । इमा । हरीऽइति हरी । वहतः । ता । नः । अच्छ ॥ ७८ ॥

पदार्थः—(ब्रह्माणि) धनानि (मे) मह्यम् (मतयः) मेधाविनः । मतय इति मेधाविनाम । निघं० ३ । १५ (शम्) सुखम् (सुतासः) विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्ना ऐश्वर्यवन्तः (शुष्मः) बलकरः (इयर्त्ति) अर्पयति । अत्रान्तर्गतो णिच् (प्रभृतः) प्रकर्षेण हवनादिना पोषितः (मे) मह्यम् (अद्रिः) मेघः (आ (शासते) आशां कुर्वन्ति । (प्रति) (हर्यन्ति) कामयन्ते (उक्था) प्रशंसनीयानि वेदवचांसि (इमा) इमानि (हरी) हरणशीलावध्यापकाऽध्येतारौ (वहतः) प्रापयतः (ता) तानि (नः) अस्मभ्यम् (अच्छ) ॥७८॥

अन्वयः—सुतासो मतयो मे यानि ब्रह्माणि प्रति हर्य्यन्ति इमोक्थाऽऽशासते शुष्मः प्रभृतोऽद्रिर्मे यत् शमियर्त्ति ता तानि नोऽस्मभ्यं हर्य्यच्छ वहतः ॥७८॥

भावार्थः—हे विद्वांसो येन कर्मणा विद्यामेघोन्नतिः स्यात्तत्कुरुत ये युष्मद्विद्यासुशिक्षे कामयन्ते तान् प्रीत्या प्रयच्छत ये भवद्भ्योऽधिकास्तेभ्यो यूयं विद्यां गृह्णीत ॥ ७८ ॥

पदार्थः—(सुतासः) विद्या और सुन्दर शिक्षा से युक्त ऐश्वर्य वाले (मतयः) बुद्धिमान् लोग (मे) मेरे लिये जिन (ब्रह्माणि) धनों की (प्रति, हर्यन्ति) प्रतीति से कामना करते और (इमा) इन (उक्था) प्रशंसा के योग्य वेदवचनों की (आ, शासते) अभिलाषा करते हैं और (शुष्मः) बलकारी (प्रभृतः) अच्छे प्रकार हवनादि से पुष्ट किया (अद्रिः) मेघ (मे) मेरे लिये जिस (शम्) सुख को (इयर्ति) पहुंचाता (ता) उनको (नः) हमारे लिये (हरी) हरणशील अध्यापक और अध्येता (अच्छ, वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं ॥७८॥

भावार्थः—हे विद्वानो! जिस कर्म से विद्या और मेघ की उन्नति हो उस की क्रिया करो। जो लोग तुम से विद्या और सुशिक्षा चाहते हैं उन को प्रीति से देओ और जो आप से अधिक विद्या वाले हों उन से तुम विद्या ग्रहण करो ॥ ७८ ॥

अनुत्तमित्यस्य अगस्त्य ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर वि० ॥

अनु॑त्तमा ते मघवन्नकि॒र्नु न त्वावाँ॑२॥ऽअस्ति
दे॒वता॒ विदा॑नः । न जाय॑मानो॒ नश॑ते॒ न जा॒तो
यानि॑ करि॒ष्या कृ॑णु॒हि प्र॑वृद्ध ॥ ७९ ॥

अनुत्तम् । आ । ते । मघवन्निति मघऽवन् । नकिः । नु । न । त्वावानिति त्वाऽवान् । अस्ति । देवता । विदानः । न । जायमानः । नशते । न । जातः । यानि । करिष्या । कृणुहि । प्रवृद्धेति प्रऽवृद्ध ॥ ७९ ॥

पदार्थः—(अनुत्तम्) अप्रेरितम् । नसत्तनिसत्तानुत्त० अ० । ८ । २ । ६१ इति निपातनम् । (आ) स्मरणे (ते) (मघवन्) बहुधनयुक्त ! (नकिः) आकाङ्क्षायाम् (नु) सद्यः (न) (त्वावान्) त्वया सदृशः (अस्ति) (देवता) देवएव देवता । स्वार्थे तल् (विदानः) विद्वान् (न) (जायमानः) उत्पद्यमानः (नशते) व्याप्नोति नशादितिव्याप्तिकर्मा निघं० २।१८ (न) (जातः) उत्पन्नः (यानि) जगदुत्पत्त्यादिकर्माणि (करिष्या) करिष्यसि । सिज्लोपो दीर्घश्चात्र छान्दसः । (कृणुहि) करोषि । लडर्थे लोट् । (प्रवृद्ध) ॥ ७९ ॥

अन्वयः—हे प्रवृद्ध मघवन्नीश्वर ! यस्य तेऽनुत्तं स्वरूपमस्ति न कोपि त्वावान् देवता विद्वानो न्वस्ति भवान् न जायमानोऽस्ति न जातोऽस्ति यानि करिष्या कृणुहि च तानि कश्चिन्नकिरानशते स त्वं सर्वोपास्योऽसि ॥ ७९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यः परमेश्वरोऽखिलैश्वर्योऽसदृशोऽनन्तविद्यो नोत्पद्यते नोत्पन्नो नोत्पत्स्यते सर्वेभ्यो महानस्ति तमेव यूयं सततमुपासीत ॥ ७९ ॥

पदार्थः—हे (प्रवृद्ध) सब से श्रेष्ठ सर्वपूज्य (मघवन्) बहुत धन वाले ईश्वर! जिस (ते) आप का (अनुत्तम्) अप्रेरित स्वरूप है (त्वावान्) आप के सदृश (देवता) पूज्य इष्ट देव (विदानः) विद्वान् (नु) निश्चय से कोई (न) नहीं है, आप (जायमानः) उत्पन्न होने वाले (न) नहीं और (जातः) उत्पन्न हुए भी (न) नहीं हैं (यानि) जिन जगत् की उत्पत्ति आदि कर्मों को (करिष्या) करोगे तथा (कृणुहि)करते हो उन को कोई भी (नकिः) नहीं (आ, नशते) स्मरण शक्ति से व्याप्त होता, सो आप सब के उपास्य देव हो ॥ ७९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो परमेश्वर समस्त ऐश्वर्य वाला किसी के सदृश नहीं, अनन्त विद्यायुक्त, न उत्पन्न होता न हुआ न होगा और सब से बड़ा उसी की तुम लोग निरन्तर उपासना करो ॥ ७९ ॥

तदित्यस्य बृहद्दिव ऋषिः । महेन्द्रो देवता ।
पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ ८० ॥

तत् । इत् । आस । भुवनेषु । ज्येष्ठम् । यतः । जज्ञे । उग्रः । त्वेषनृम्णऽइतित्वेषऽनृम्णः । सद्यः । जज्ञानः । निरिणाति । शत्रून् । अनु । यम् । विश्वे । मदन्ति । ऊमाः ॥ ८० ॥

पदार्थः—(तत्) (इत्) (आस) आस्ति । अत्र छन्दस्युभयथेति लिट आर्द्धधातुकसंज्ञाभावः। (भुवनेषु) लो-

कलोकान्तरेषु (ज्येष्ठम्) वृद्धं श्रेष्ठम् (यतः) यस्मात् (जज्ञे) (उग्रः) तीक्ष्णस्वभावः (त्वेषनृम्णः) त्वेषं सुप्रकाशितं नृम्णं धनं यस्य सः (सद्यः) (जज्ञानः) जायमानः (निरिणाति) हिनस्ति (शत्रून्) (अनु) (यम्) (विश्वे) सर्वे (मदन्ति) हृष्यन्ति (ऊमाः) रक्षादिकर्मकर्त्तारः ॥ ८० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यत उग्रस्त्वेषनृम्णो वीरो जज्ञे यो जज्ञानः शत्रून् सद्यो निरिणाति विश्वा ऊमा यमनुमदन्ति तदिदेव ब्रह्म भुवनेषु ज्येष्ठमासेति विजानीत ॥ ८० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यस्योपासनाच्छूरा वीरत्वमुपलभ्य शत्रून् हन्तुं शक्नुवन्ति यमुपास्य विद्वांस आनन्दिता भूत्वा सर्वानानन्दयन्ति तमेव सर्वोत्कृष्टं सर्वोपास्यं परमेश्वरं सर्वे निश्चिन्वन्तु ॥ ८० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यतः) जिस से (उग्रः) तेज स्वभाव वाला (त्वेषनृम्णः) सुन्दर प्रकाशित धन से युक्त वीर पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न हुआ, जो (जज्ञानः) उत्पन्न हुआ (शत्रून्) शत्रुओं को (सद्यः) शीघ्र (निरिणाति) निरन्तर मारता है, (विश्वे) सब (ऊमाः) रक्षादि कर्म करने वाले लोग (यम्) जिस के (अनु) पीछे (मदन्ति) आनन्द करते हैं (तत्, इत्) वही ब्रह्म परमात्मा (भुवनेषु) लोकलोकान्तरों में (ज्येष्ठम्) सब से बड़ा, मान्य और श्रेष्ठ (आस) है, ऐसा तुम जानो ॥ ८० ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिसकी उपासना से शूर वीरता को प्राप्त हो शत्रुओं को मार सकते हैं, जिस की उपासना कर विद्वान् लोग आनन्दित हो के सब को आनन्दित करते हैं उसी सब से उत्कृष्ट सब के उपास्य परमेश्वर का सब लोग निश्चय करें ॥ ८० ॥

इमा इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

इमा उं त्वा पुरूवसो गिरों वर्द्धन्तु या मर्म। पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ ८१ ॥

इमाः । उँऽइत्यूँ । त्वा । पुरूवसो । पुरुवसोऽइति पुरुऽवसो । गिरः । वर्द्धन्तु । याः । मम । पावकवर्णाऽइति पावकऽवर्णाः । शुचयः । विपश्चितऽइति विपःऽचितः । अभि । स्तोमैः । अनूषत ॥ ८१ ॥

पदार्थः—(इमाः) वक्ष्यमाणाः (उ) निश्चयार्थे (त्वा) त्वाम् (पुरूवसो) पुरुषु बहुषु वासकर्त्तः (गिरः) वाचः (वर्द्धन्तु) वर्धयन्तु (याः) (मम) (पावकवर्णाः) पावकवत् पवित्रो गौरो वर्णो येषान्ते ब्रह्मवर्चस्विनः (शुचयः) पवित्रीभूताः (विपश्चितः) विद्वांसः (अभि) (स्तोमैः) पदार्थविद्याप्रशंसनैः (अनूषत) प्रशंसन्तु ॥ ८१ ॥

अन्वयः—हे पुरूवसो परमात्मन ! या इमा मम गिरस्त्वा उ वर्द्धन्तु ताः प्राप्य पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितस्तोमैरभ्यनूषत ॥ ८१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैवेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाभिस्तदस्तित्वप्रतिपादनेनाऽभ्यासत्यभाषणाभ्याञ्च स्ववाचः शुद्धाः संपाद्य विद्वांसो भूत्वा सर्वाः पदार्थविद्याः प्राप्तव्याः ॥ ८१ ॥

पदार्थः—हे (पुरूवसो) बहुत पदार्थों में वास करने हारे परमात्मन् ! (याः) जो (इमाः) ये (मम) मेरी (गिरः) वाणी आप को (उ) निश्चय कर (वर्द्धन्तु) बढ़ावें उन को प्राप्त होके (पावकवर्णाः) अग्नि के तुल्य वर्ण वाले तेजस्वी (शुचयः) पवित्र हुए (विपश्चितः) विद्वान् लोग (स्तोमैः) पदार्थ विद्याओं की प्रशंसाओं से (अभि, अनूषत) सब ओर से प्रशंसा करें ॥ ८१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सदैव ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, उस ईश्वर की सत्ता के प्रतिपादन तथा अभ्यास और सत्यभाषण से अपनी वाणियों को शुद्ध कर विद्वान् होके सब पदार्थविद्याओं को प्राप्त होवें ॥ ८१ ॥

यस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म वि० ॥

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः ।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः ॥ ८२ ॥

यस्य । अयम् । विश्वः । आर्यः । दासः । शेवधिपा इति शेवधिऽपाः । अरिः । तिरः । चित् । अर्ये । रुशमे । पवीरवि । तुभ्यम् । इत् । सः । अज्यते । रयिः ॥ ८२ ॥

पदार्थः—(यस्य) (अयम्) (विश्वः) सर्वः (आर्यः) धर्म्यगुणकर्मस्वभावः (दासः) सेवकः (शेवधिपाः) यः शेवधिं निधिं पाति रक्षति धर्मादिकार्य्ये करे च न व्येति स शेवधिपाः ।

निधिः शेवधिरिति यास्कः निरु० २ । ४ (अरिः) शत्रुः (तिरः) अन्तर्धानं गतः (चित्) अपि (अर्य्ये) धनस्वामिनि वैश्यादौ (रुशमे) हिंसके (पवीरवि) यो धनादिरक्षायै पवीरं शस्त्रं वाति प्राप्नोति तस्मिन् (तुभ्य)तुभ्यम्। अत्र वा छान्दसो वर्णलोपः। (इत्) एव (सः) (अज्यते) प्राप्यते (रयिः) धनमिव ॥ ८२ ॥

अन्वयः--हे राजन्! यस्य तवायं विश्व आर्य्यो दासः शेवधिपा अरिः पवीरवीरुशमेऽर्य्ये तिरश्चित्तुभ्येत्स त्वं रयि रज्यते ॥ ८२ ॥

भावार्थः--यस्य राज्ञः सर्वं आर्य्या राज्यरक्षकाः सेवकाः सन्ति धनादिकरस्यादाता च शत्रुस्तस्मादपि येन भवता धनादिकरो गृह्यते स सर्वोत्तमश्रीः स्यात् ॥८२॥

पदार्थः--हे राजन् ! (यस्य) जिस आप का (अयम्) यह (विश्वः) सब (आर्य्यः) धर्मयुक्त गुण कर्म स्वभाव वाला पुरुष (दासः) सेवकवत् आज्ञाकारी (शेवधिपाः) धरोहर धन का रक्षक अर्थात् धर्मादि कार्य वा राज कर देने में व्यय करने हारा जन (अरिः) और शत्रु (पवीरवि) धनादि की रक्षा के लिये शस्त्र को प्राप्त होने वाले और (रुशमे) हिंसक व्यवहार वा (अर्य्ये) धनस्वामी वैश्य आदि के निमित्त (तिरः) छिपने वाला (चित्) भी (तुभ्य) आप के लिये (इत्) निश्चय से है (सः) वह आप (रयिः) धन के समान (अज्यते) प्राप्त होते हैं ॥ ८२ ॥

भावार्थः--जिस राजा के सब आर्य राज्य रक्षक और आज्ञापालक हैं जो धनादि कर का अदाता शत्रु उस से भी जिन आपने धनादि कर ग्रहण किया वे आप सब से उत्तम शोभा वाले हों ॥ ८२ ॥

अयमित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विश्वे देवा देवताः । निचृत्सतो बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अ॒यꣳ स॒ह॒स्रमृषि॑भि॒ः सहस्कृतः स॒मु॒द्रइ॑व पप्र॒थे । स॒त्यः सो अ॑स्य म॒हि॒मा गृ॑णे॒ शवो॑ य॒ज्ञेषु॑ वि॒प्र॒राज्ये॑ ॥ ८३ ॥

अ॒यम् । स॒ह॒स्रम् । ऋषि॑भि॒रित्यृषि॑ऽभिः । सह॑स्कृ॒तः । सह॑ःकृत॒ऽइति॒ सह॑ःऽकृतः । स॒मु॒द्रऽइ॒वेति॑ स॒मु॒द्रःऽइ॑व । प॒प्र॒थे । स॒त्यः । सः । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मा । गृ॒णे॒ । शवः॑ । य॒ज्ञेषु॑ । वि॒प्र॒राज्य॒ऽइति॑ वि॒प्र॒ऽरा॒ज्ये॑ ॥ ८३ ॥

पदार्थः—(अयम्) राजा (सहस्रम्) (ऋषिभिः) वेदार्थविद्भिः (सहस्कृतः) सहसा बलेन निष्पन्नः (समुद्रइव) सागरइवाऽन्तरिक्षमिव वा (पप्रथे) भवति (सत्यः) सत्सु व्यवहारेषु विद्वत्सु वा साधुः (सः) (अस्य) (महिमा) माहात्म्यम् (गृणे) स्तौमि (शवः) बलम् (यज्ञेषु) सङ्गतेषु राजकर्मसु (विप्रराज्ये) विप्राणां मेधाविना राज्ये राष्ट्रे ॥८३॥

अन्वयः—हे मनुष्या यद्ययं सभेशो राजा राजर्षिभिः सह सहस्रमसङ्ख्यं ज्ञानं प्राप्तः सहस्कृतःसत्योस्त्यस्य महिमा समुद्रइव पप्रथे तर्हि स प्रजाननोऽहमस्य यज्ञेषु विप्रराज्ये च शवो गृणे ॥ ८३ ॥

भावार्थः—ये राजादयो राजजना विद्वत्सङ्गप्रियाः साहसिनः सत्यगुणकर्मस्वभावा मेधाविराज्येऽधिकृताः सङ्गतानि न्यायविनययुक्तानि कर्माणि कुर्युस्तेषामाकाशमिव कीर्त्तिर्विस्तीर्णा भवति ॥ ८३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (अयम्) यह सभापति राजा (ऋषिभिः) वेदार्थवेत्ता राजर्षियों के साथ (सहस्रम्) असंख्य प्रकार के ज्ञान को प्राप्त (सहस्कृतः) बल से संयुक्त (सत्यः) और श्रेष्ठव्यवहारों वा विद्वानों में उत्तम चतुर है (अस्य) इस का (महिमा) महत्त्व (समुद्रइव) समुद्र वा अन्तरिक्ष के तुल्य (पप्रथे) प्रसिद्ध होता है तो (सः) वह पूर्वोक्त मैं प्रजा जन इस राजा के (यज्ञेषु) संगत राजकार्यों और (विप्रराज्ये) बुद्धिमानों के राज्य में (शवः) बल की (गृणे) स्तुति करता हूं ॥ ८३ ॥

भावार्थः—जो राजादि राजपुरुष विद्वानों के संग में प्रीति करने वाले साहसी सत्य गुण, कर्म, स्वभावों से युक्त बुद्धिमान् के राज्य में अधिकार को पाये हुए संगत न्याय और विनय से युक्त कामों को करें उन की आकाश के सदृश कीर्ति विस्तार को प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

अदब्धेभिरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । सविता देवता ।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेवविषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

अद॑ब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि॑ पाहि नो गयम्। हिर॑ण्यजिह्वः सुवितायु नव्य॑से रक्षा माकि॑र्नो अघशꣳस ईशत ॥ ८४ ॥

अद॑ब्धेभिः । सवितुरिति॑ सावितः । पायुभिरिति॑ पायुभिः॑ । त्वम् । शिवेभिः॑ । अद्य । परि॑ । पाहि । नः । ग-

यम् । हिरण्यजिह्वऽइति हिरण्यऽजिह्वः । सुवितायेति सुऽवितायं । नव्यसे । रक्ष । माकिः । नः । अघशंसः । ईशत ॥८४॥

पदार्थः— (अदब्धेभिः) अहिंसनीयैः (सवितः) सकलैश्वर्ययुक्त (पायुभिः) विविधैरक्षणोपायैः (त्वम्) (शिवेभिः) मङ्गलकारकैः (अद्य) (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (नः) अस्माकम् (गयम्) प्रजाम् (हिरण्यजिह्वः) हिरण्या हितरमणीया जिह्वा वाग् यस्य (सुविताय) ऐश्वर्याय (नव्यसे) अतिशयेन नवीनाय (रक्ष) पालय । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (माकिः) निषेधे (नः) अस्मान् (अघशंसः) दुष्टः स्तेनः (ईशत) समर्थो भवेत् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—हे सविता राजँस्त्वमद्याऽदब्धेभिः शिवेभिः पायुभिर्नो गयं परि पाहि हिरण्यजिह्वः स नव्यसे सुविताय नोऽस्मान् रक्ष यतोऽघशंसोऽस्मदुपरि माकिरीशत ॥ ८४ ॥

भावार्थः—राज्ञो योग्यताऽस्ति सर्वस्याः प्रजायाः सन्तानान् ब्रह्मचर्यविद्यादानस्वयंवरविवाहैर्दस्युभ्यो रक्षणेन चोन्नयेयुरिति ॥ ८४ ॥

पदार्थः—हे (सवितः) समग्र ऐश्वर्य से युक्त राजन्! (त्वम्) आप (अद्य) आज (अदब्धेभिः) न बिगाड़ने योग्य (शिवेभिः) मंगलकारी (पायुभिः) अनेक प्रकार के रक्षा के उपायों से (नः) हमारी (गयम्) प्रजा की (परि, पाहि) सब ओर से रक्षा कीजिये (हिरण्यजिह्वः) सब के हित में रमण करने योग्य वाणी से युक्त हुए (नव्यसे) अतिशय कर नवीन (सुविताय) ऐश्वर्य के अर्थ (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कीजिये जिस से (अघशंसः) दुष्ट चोर हम पर (माकिः) न (ईशत) समर्थ वा शासक हों ॥ ८४ ॥

भावार्थः—राजाओं की योग्यता यह है कि सब प्रजा के सन्तानों की ब्रह्मचर्य, विद्यादान और स्वयम्वर विवाह करा के और डाकुओं से रक्षा कर के उन्नति करें ॥८४॥

आ नो इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः. वायुर्देवता ।
विराड्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः । अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयꣳ शुक्रो अयामि ते ॥ ८५ ॥

आ । नः । यज्ञम् । दिविस्पृशमिति दिविऽस्पृशम् । वायोऽइति वायो । याहि । सुमन्मभिरिति सुमन्मऽभिः । अन्तरित्यन्तः । पवित्रे । उपरि । श्रीणानः । अयम् । शुक्रः । अयामि । ते ॥ ८५ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) सङ्गतं व्यवहारम् (दिविस्पृशम्) विद्याप्रकाशयुक्तम् (वायो) वायुवद्वर्त्तमान (याहि) प्राप्नुहि (सुमन्मभिः) शोभनैर्विज्ञानैः (अन्तः) आभ्यन्तरे (पवित्रः) शुद्धात्मा (उपरि) उत्कर्षे (श्रीणानः) आश्रयं कुर्वाणः (अयम्) (शुक्रः) आशुकर्त्ता वीर्य्यवान् (अयामि) प्राप्नोमि (ते) तव ॥ ८५ ॥

अन्वयः—हे वायो राजन्! यथाऽहमन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयं शुक्रः सन् सुमन्नाभिस्ते दिविस्पृशं यज्ञमयामि तथा त्वं नो दिविस्पृशं यज्ञमायाहि ॥८५॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यादृशेन वर्त्तमानेन वृत्तेन राजा प्रजासु चेष्टेत तादृशेनैव भावेन प्रजा राजनि वर्त्तेत। एवमुभौ मिलित्वा सर्वं न्यायव्यवहारमलं कुर्यातामू ॥ ८५ ॥

पदार्थः—हे (वायो) वायु के तुल्य वर्त्तमान राजन्! जैसे मैं (अन्तः) अन्तःकरण में (पवित्रः) शुद्धात्मा (उपरि) उन्नति में (श्रीणानः) आश्रय करता हुआ (अयम्) यह (शुक्रः) शीघ्रकारी पराक्रमी हुआ (सुमन्नभिः) सुन्दर विज्ञानों से (ते) आप के (दिविस्पृशम्) विद्या प्रकाशयुक्त (यज्ञम्) संगत व्यवहार को (अयामि) प्राप्त होता हूं वैसे आप (नः) हमारे विद्या प्रकाशयुक्त उत्तम व्यवहार को (आ, याहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये ॥ ८५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे वर्त्तमान वर्त्ताव से राजा प्रजाओं में चेष्टा करता है वैसे ही भाव से प्रजा राजा के विषय में वर्त्ते। ऐसे दोनों मिल के सब न्याय के व्यवहार को पूर्ण करें ॥ ८५ ॥

इन्द्रवायू इत्यस्य तापस ऋषिः। इन्द्रवायू देवते।
निचृद्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

इन्द्र॒वा॒यू सु॑सं॒दृशा॑ सु॒हवे॒ह ह॑वामहे। यथा॑ नः॒ सर्व॒ इज्जनो॑ऽनमी॒वः स॒ङ्गमे॑ सु॒मना॒ अस॑त्॥८६॥

इन्द्रवायूऽइतीन्द्रऽवायू । सुसन्दृशेति सुऽसन्दृशा । सुहवेति सुऽहवा । इह । हवामहे । यथा । नः । सर्वः । इत् । जनः । अनमीवः । सङ्गमऽ इति सम्ऽगमे । सुमना इति सुऽमनाः । असत् ॥ ८६ ॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) राजप्रजाजनौ (सुसन्दृशा) सुष्ठुसम्यक् द्रष्टारौ (सुहवा) सुष्ठाह्वनीयौ (इह) (हवामहे) स्वीकुर्महे (यथा) (नः) अस्माकम् (सर्वः) (इत्) एव (जनः) (अनमीवः) अरोगः (सङ्गमे) सङ्ग्रामे समागमे वा । सङ्गम इति संङ्ग्रामना० निघं० २ । १७ (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (असत्) भवेत् ॥८६॥

अन्वयः—वयं यौ सुसन्दृशा सुहवा इन्द्रवायू इह हवामहे यथा सङ्गमे नोऽनमीवः सुमनाः सर्वो जनो असत् तथा तौ कुर्याताम् ॥ ८६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—तथैव राजप्रजाजनाः प्रयेतरन् यथा सर्वे मनुष्यादयः प्राणिनोऽरोगाः प्रसन्नमनसो भूत्वा पुरुषार्थिनः स्युः ॥ ८६ ॥

पदार्थः—हम लोग जिन (सुसन्दृशा) सुन्दर प्रकार से सम्यक् देखने वाले (सुहवा) सुन्दर बुलाने योग्य (इन्द्रवायू) राजप्रजाजनों को (इह) इस जगत् में (हवामहे) स्वीकार करते हैं (यथा) जैसे (सङ्गमे) संग्राम वा समागम में (नः) हमारे (सर्व, इत) सभी (जनः) मनुष्य)(अनमीवः) नीरोग (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाले (असत्) होवें । वैसे किया करें ॥ ८६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—वैसे ही राजप्रजा पुरुष प्रयत्न करें जैसे सब मनुष्य आदि प्राणी नीरोग प्रसन्न मन वाले होकर पुरुषार्थी हों ॥ ८६ ॥

ऋधगित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये । यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये ॥ ८७ ॥

ऋधक् । इत्था । सः । मर्त्यः । शशमे । देवतातय इति देवऽतातये । यः । नूनम् । मित्रावरुणौ । अभिष्टये । आचक्र इत्याऽचक्रे । हव्यदातय इति हव्यऽदातये ॥ ८७ ॥

पदार्थः—(ऋधक्) य ऋध्नोति समृध्नोति सः (इत्था) अस्माद्धेतोः (सः) (मर्त्यः) मनुष्यः (शशमे) शाम्यति निरुपद्रवो भवति अत्र एत्वाभ्यासलोपाभावश्छान्दसः (देवतातये) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा (यः) (नूनम्) निश्चितम् (मित्रावरुणौ) प्राणोदानाविव राजप्रजाजनौ (अभिष्टये) अभीष्टसुखप्राप्तये (आचक्रे) सेवते । अत्र गन्धनावक्षेपण० अ० १ । ३ । ३२ इति करोतेः सेवनार्थे आत्मनेपदम् (हव्यदातये) हव्यानामादातुमर्हाणामादानाय ॥ ८७॥

अन्वयः—यो देवतातय ऋधङ्मर्त्योऽभीष्टये हव्यदातये च मित्रावरुणौ नूनमाचक्रे स नर इत्था शशमे ॥ ८७ ॥

भावार्थः—ये शमदमादिगुणान्विताः राजप्रजाजना इष्टसुखसिद्धये प्रयतेरँस्तेऽवश्यं समृद्धिमन्तो भवेयुः ॥ ८७ ॥

पदार्थः—(यः) जो (देवतातये) विद्वानों वा दिव्यगुणों के लिये (ऋधक्) समृद्धिमान् (मर्त्यः) मनुष्य (अभीष्टये) अभीष्ट सुख की प्राप्ति के अर्थ तथा (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये (मित्रावरुणौ) प्राण और उदान के तुल्य राजप्रजाजनों का (नूनम्) निश्चित (आचके) सेवन करता (सः) वह जन (इत्था) इस उक्त हेतु से (शशमे) शान्त उपद्रव रहित होता है ॥ ८७ ॥

भावार्थः—जो शमदम आदि गुणों से युक्त राजपुरुष और प्रजाजन इष्ट सुख की सिद्धि के लिये प्रयत्न करें वे अवश्य समृद्धिमान् होवें ॥ ८७ ॥

आ यातमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः अश्विनौ देवते ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम् ॥ ८८ ॥

आ । यातम् । उप । भूषतम् । मध्वः । पिबतम् । अश्विना । दुग्धम् । पयः । वृषणा । जेन्यावसूऽइति जेन्याऽवसू । मा । नः । मर्धिष्टम् । आ । गतम् ॥ ८८ ॥

पदार्थः—(आ) (यातम्) प्राप्नुतम् (उप) (भूषतम्) अलं कुरुतम् (मध्वः) मधुरं वैद्यकशास्त्रसिद्धं रसम् । अत्र कर्मणि षष्ठी (पिबतम्) (अश्विना) विद्यादिशुभगुणव्यापिनौ राजप्रजाजनौ (दुग्धम्) पूर्णं कुरुतम् (पयः) उदकम् । पय इत्युदकना० निघं० १ । १२ (वृषणा) वीर्य्यवन्तौ (जे-

न्यावसू) यौ जेन्यान् जयशीलान् वासयतो यद्वा ज्येयं जेतव्यं जितं वा वसु धनं याभ्यां तौ (मा) (नः) अस्मान् (मर्द्धिष्टम्) हिंस्तम् (आ) (गतम्) समन्तात्प्राप्नुतम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—हे वृषणा जेन्यावसू अश्विना ! युवां सुखमायातं प्रजा उपभूषतं मध्वः पिबतं पयो दुग्धं नोऽस्मान्मा मर्द्धिष्टं धर्मेण विजयमागतम् ॥ ८८ ॥

भावार्थः—ये राजप्रजाजनाः सर्वान् विद्यासुशिक्षाभ्यामलं कुर्युः सर्वत्र कुल्यादिद्वारा जलं गमयेयुः श्रेष्ठान्न हिंसित्वा दुष्टान् हिंसन्ते विजेतारः सन्तोऽतुलां श्रियं प्राप्य सततं सुखं लभेरन् ॥ ८८ ॥

पदार्थः—हे (वृषणा) पराक्रम वाले (जेन्यावसू) जयशील जनों को बसाने वाले वा जीतने योग्य अथवा जीता है धन जिन्होंने ऐसे (अश्विना) विद्यादि शुभ गुणों में व्याप्त राजप्रजाजन तुम दोनों सुख को (आ, यातम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होओ प्रजाओं को (उप, भूषतम्) सुशोभित करो (मध्वः) वैद्यकशास्त्र की रीति से सिद्ध किये मधुर रस को (पिबतम्) पिओ (पयः) जल को (दुग्धम्) पूर्ण करो अर्थात् कोई जल विना दुःखी न रहे (नः) हम को (मा) मत (मर्द्धिष्टम्) मारो और धर्म से विजय को (आ, गतम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होओ ॥ ८८ ॥

भावार्थः—जो राजप्रजाजन सब को विद्या और उत्तम शिक्षा से सुशोभित करें सर्वत्र नहर आदि के द्वारा जल पहुंचावें श्रेष्ठों को न मार के दुष्टों को मारें वे जीतने वाले हुए अतोल लक्ष्मी को पाकर निरन्तर सुख को प्राप्त होवें ॥ ८८ ॥

प्रैत्वित्यस्य कण्व ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।

भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः किंकुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरं नर्य्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ८९ ॥

प्र । एतु । ब्रह्मणः । पतिः । प्र । देवी । एतु । सूनृता ।
अच्छ । वीरम् । नर्य्यम् । पङ्क्तिराधसमिति पङ्क्तिऽराधसम् । देवाः । यज्ञम् । नयन्तु । नः ॥ ८९ ॥

पदार्थः—(प्र)(एतु) प्राप्नोतु (ब्रह्मणस्पतिः) धनस्य वेदस्य वा पालकः स्वामी (प्र) (देवी) शुभगुणैर्दीप्यमाना (एतु) प्राप्नोतु (सूनृता) सत्यलक्षणोज्ज्वलिता वाक् (अच्छ) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (वीरम्) (नर्य्यम्) नृषु साधुम् (पङ्क्तिराधसम्) पङ्क्तेः समूहस्य राधः संसिद्धिर्यस्मात्तम् (देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) सङ्गतधर्म्यं व्यवहारकर्त्तारम् (नयन्तु) प्रापयन्तु वा (नः) अस्मान् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यूयं यथा नोऽस्मान् ब्रह्मणस्पतिः प्रैतु सूनृता देवी प्रैतु नर्य्यं पङ्क्तिराधसं यज्ञं वीरं देवाऽच्छ नयन्तु तथाऽस्मान् प्राप्नुत ॥ ८९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये विदुषः सत्यां वाचं सर्वोपकारान् वीरांश्च प्राप्नुयुस्ते सम्यक् सुखोन्नतिं कुर्य्युः ॥ ८९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग जैसे (नः) हम को (ब्रह्मणः, पतिः) धन वा वेद का रक्षक अधिष्ठाता विद्वान् (प्र, एतु) प्राप्त होवे (सूनृता) सत्य लक्षणों से उज्ज्वल (देवी) शुभ गुणों से प्रकाशमान वाणी (प्र, एतु) प्राप्त हो (नर्य्यम्) मनुष्यों में उत्तम (पङ्क्तिराधसम्) समूह की सिद्धि करने हारे (यज्ञम्) सङ्गत धर्मयुक्त व्यवहार कर्त्ता (वीरम्) शूर वीर पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोग (अच्छ, नयन्तु) अच्छे प्रकार प्राप्त करें वैसे हम को प्राप्त होओ ॥ ८९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो लोग विद्वानों, सत्यवाणी और सर्वोपकारी वीर पुरुषों को प्राप्त हों वे सम्यक् सुख की उन्नति करें ॥ ८९ ॥

चन्द्रमा इत्यस्य त्रित ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि । रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ९० ॥

चन्द्रमाः । अप्स्वित्यप्ऽसु । अन्तः । आ । सुपर्णः । सुपर्ण इति सुऽपर्णः । धावते । दिवि । रयिम् । पिशङ्गम् । बहुलम् । पुरुस्पृहमिति पुरुऽस्पृहम् । हरिः । एति । कनिक्रदत् ॥ ९० ॥

पदार्थः—(चन्द्रमाः) शैत्यकरः (अप्सु) व्याप्तेऽन्तरिक्षे (अन्तः) मध्ये (आ) (सुपर्णः) शोभनानि पर्णानि पतनानि यस्य सः (धावते) सद्यो गच्छति (दिवि) सूर्यप्रकाशे (रयिम्) श्रियम् (पिशङ्गम्) सुवर्णादिवद्वर्णयुतम् (बहुलम्) पुष्कलम् (पुरुस्पृहम्) बहुभिःस्पृहणीयम् (हरिः) अश्वइव (एति) गच्छति (कनिक्रदत्) भृशं शब्दयन् ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यूयं यथा सुपर्णश्चन्द्रमा कनिक्रदद्धरिरिव दिव्यप्स्वन्तराधावते पुरुस्पृहं बहुलं पिशङ्गं रयिं चैति तथा पुरुषार्थिनः सन्तो वेगेन श्रियं प्राप्नुत ॥ ९० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या ! यथा सूर्येण प्रकाशिताश्चन्द्रलोका: अन्तरिक्षे गच्छन्त्यागच्छन्ति यथोत्तमोऽश्व उच्चैःशब्दयन् सद्यो धावति तथा भूताः सन्तो यूयमतीवोत्तमामतुलां श्रियं प्राप्य सर्वान् सुखयत ॥ ९० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जैसे (सुपर्णः) सुन्दर चालों से युक्त (चन्द्रमाः) शीतकारी चन्द्रमा (कनिक्रदत्) शीघ्र शब्द करते हींसते हुए (हरिः) घोड़ों के तुल्य (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (अप्सु) अन्तरिक्ष के (अन्तः) बीच (आ, धावते) अच्छे प्रकार शीघ्र चलता है और (पुरुस्पृहम्) बहुतों से चाहने योग्य (बहुलम्) बहुत (पिशङ्गम्) सुवर्णादि के तुल्य वर्णयुक्त (रयिम्) शोभा कान्ति को (एति) प्राप्त होता है वैसे पुरुषार्थी हुए वेग से लक्ष्मी को प्राप्त होओ ॥ ९० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य से प्रकाशित चन्द्र आदि लोक अन्तरिक्ष में जाते आते हैं जैसे उत्तम घोड़ा ऊंचा शब्द करता हुआ शीघ्र भागता है वैसे हुए तुम लोग अत्युत्तम अपूर्व शोभा को प्राप्त होके सब को सुखी करो ॥ ९० ॥

देवन्देवमित्यस्य मनुर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
विराट् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुना राजधर्मविषयमाह ॥

फिर राजधर्म वि० ॥

दे॒वन्दे॑वं॒ वोऽव॑से दे॒वन्दे॑वम॒भिष्ट॑ये । दे॒वन्दे॑वꣳ हुवेम॒ वाज॑सातये गृ॒णन्तो॑ दे॒व्या धि॒या ॥ ९१ ॥

दे॒वन्दे॑व॒मिति॑ दे॒वम्ऽदे॑वम् । वः॒ । अव॑से । दे॒वन्दे॑व॒मिति॑ दे॒वम्ऽदे॑वम् । अ॒भिष्ट॑ये । दे॒वन्दे॑व॒मिति॑ दे॒वम्ऽदे॑वम् । हु॒वे॒म॒ । वाज॑सातय॒ऽइति॒ वाज॑ऽसातये । गृ॒णन्तः॑ । दे॒व्या । धि॒या ॥ ९१ ॥

पदार्थः-(देवन्देवम्) विद्वांसं विद्वांसं दिव्यं दिव्यं पदार्थं वा (वः) युष्माकम् (अवसे) रक्षणाद्याय (देवन्देवम्) (अभिष्टये) इष्टसुखाय (देवन्देवम्) (हुवेम) आहूयामः स्वीकुर्य्याम वा (वाजसातये) वाजानां वेगादीनां सम्भागाय (गृणन्तः) स्तुवन्तः (देव्या) देदीप्यमानया (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! देव्या धिया गृणन्तो वयं यथा वोऽवसे देवन्देवं हुवेम वोऽभिष्टये देवन्देवं हुवेम वो वाजसातये च देवन्देवं हुवेम तथा यूयमप्येवमस्मभ्यं कुरुत ॥ ९१ ॥

भावार्थः--ये राजपुरुषाः सर्वेषां प्राणिनां हिताय विदुषः सत्कृत्यैतैः सत्योपदेशान् प्रचार्य सृष्टिपदार्थान् विज्ञाय सर्वाभीष्टं संसाध्य सङ्ग्रामान् जयन्ति ते दिव्यां कीर्तिं प्रज्ञाञ्च लभन्ते ॥ ९१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (देव्या) प्रकाशमान (धिया) बुद्धि वा कर्म से (गृणन्तः) स्तुति करते हुए हम लोग जैसे (वः) तुम्हारे (अवसे) रक्षादि के लिये (देवन्देवम्) विद्वान् २ वा उत्तम २ पदार्थ को (हुवेम) बुलावें वा ग्रहण करें तुह्मारे (अभिष्टये) अभीष्ट सुख के लिये (देवन्देवम्) विद्वान् २ वा उत्तम प्रत्येक पदार्थ को तथा तुह्मारे (वाजसातये) वेगादि के सम्यक् सेवन के लिये (देवन्देवम्) विद्वान् २ वा उत्तम प्रत्येक पदार्थ को बुलावें वा स्वीकार करें वैसे तुम लोग भी ऐसा हमारे लिये करो ॥ ९१ ॥

भावार्थः—जो राजपुरुष सब प्राणियों के हित के लिये विद्वानों का सत्कार कर इन से सत्योपदेश का प्रचार करा सृष्टि के पदार्थों को जान और सब अभीष्ट सिद्ध कर संग्रामों को जीतते हैं वे उत्तम कीर्ति और बुद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ९१ ॥

दिवीत्यस्य मेध ऋषिः । वैश्वानरो देवता ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनर्विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥
फिर विद्वान् लोग क्या करें इस वि० ॥

दिवि पृष्ठो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहत् । क्ष्मया वृधान ओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः ॥ ९२ ॥

दिवि । पृष्ठः । अरोचत । अग्निः । वैश्वानरः । बृहत् । क्ष्मया । वृधानः । ओजसा । चनोहितऽइति चनःऽहितः । ज्योतिषा । बाधते । तमः ॥ ९२ ॥

पदार्थः—(दिवि) प्रकाशे (पृष्ठः) सिक्तः स्थितः (अरोचत) रोचते प्रकाशते (अग्निः) सूर्याख्यः (वैश्वानरः) विश्वेषां नराणां हितः (बृहत्) महान् (क्ष्मया) पृथिव्या सह । क्ष्मेति पृथिवी ना० निघं० १ । १ (वृधानः) वर्द्धमानः (ओजसा) बलेन (चनोहितः) ओषधिपाकसामर्थ्येन अन्नादीनां हितः (ज्योतिषा) स्वप्रकाशेन (बाधते) निवर्त्तयति (तमः) रात्र्यन्धकारम् । तम इति रात्रिना० निघं० १ । ७ ॥ ९२ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या ! यथा दिवि पृष्ठो वैश्वानरो क्ष्मया वृधान ओजसा बृहन् चनोहितोऽग्निर्ज्योतिषा तमो बाधतेऽरोचत च यथा श्रेष्ठगुणैरविद्यान्धकारं निवर्त्य यूयमपि प्रकाशितकीर्त्तयो भवत ॥ ९२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये विद्वांसः सूर्यः तमइव दुष्टाचारमविद्यान्धकारं च निवर्त्य विद्यां प्रकाशयेयुस्ते सूर्यइव सर्वत्र प्रकाशितप्रशंसा भवेयुः ॥ ९२ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (दिवि) आकाश में (पृष्टः) स्थित (वैश्वानरः) सब मनुष्यों का हितकारी (क्ष्मया) पृथिवी के साथ (वृधानः) बढ़ा हुआ (ओजसा) बल से (बृहत्) महान् (चनोहितः) ओषधियों को पकाने रूप सामर्थ्य से अन्नादि का धारक (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (तमः) रात्रिरूप अन्धकार को (बाधते) निवृत्त करता और (अरोचत) प्रकाशित होता है वैसे उत्तम गुणों से अविद्यारूप अन्धकार को निवृत्त करके तुम लोग भी प्रकाशित कीर्ति वाले हो ॥ ९२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो विद्वान् लोग सूर्य अन्धकार को जैसे वैसे दुष्टाचार और अविद्यान्धकार को निवृत्त कर विद्या को प्रकाशित करें वे सूर्य के तुल्य सर्वत्र प्रकाशित प्रशंसा वाले हों ॥ ९२ ॥

इन्द्राग्नीत्यस्य सुहोत्र ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। भुरिगनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथोषर्विषयमाह ॥

अत्र उषा के वि० ॥

इन्द्राग्नी अपादियम्पूर्वागात्पद्वतीभ्यः। हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिꣳशत्पदा न्यक्रमीत् ॥ ९३ ॥

इन्द्राग्नीऽइतीन्द्राग्नी। अपात्। इयम्। पूर्वा। आ। अगात्। पद्वतीभ्यःऽइति पत्ऽवतीभ्यः। हित्वी। शिरः। जिह्वया। वावदत्। चरत्। त्रिꣳशत्। पदा। नि। अक्रमीत् ॥ ९३ ॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) अध्यापकोपदेशकौ (अपात्) अविद्यमानौ पादौ यस्याः सा (इयम्) पूर्वा प्रथमा (आ) (अगात्) आगच्छति (पद्वतीभ्यः) (बहवः) पादा यासु प्रजासु ताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः (हित्वी) हित्वा त्यक्त्वा (शिरः) उत्तमांगम् (जिह्वया) वाचा (वावदत्) भृशं वदति (चरत्) चरति (त्रिंशत्) एतत्सङ्ख्याकान् (पदा) प्राप्तिसाधकान् मुहूर्त्तान् (नि) (अक्रमीत्) क्रमते ॥९३॥

अन्वयः—हे इन्द्राग्नी! येयमपात्पद्वतीभ्यः पूर्वा आऽगाच्छिरो हित्वी प्राणिनां जिह्वया वावदच्चरत्त्रिंशत्पदान्यक्रमीत्सोषा युवाभ्यां विज्ञेया ॥ ९३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! या वेगवती पादशिरआद्यवयवरहिता प्राणिप्रबोधात्पूर्वभाविनी जागरणहेतुः प्राणिमुखैर्भृशं वदन्तीव त्रिंशन्मुहूर्त्तानन्तरं प्रतिप्रदेशमाक्रमीत् सोषा युष्माभिर्निद्रालस्ये विहाय सुखाय सेवनीया ॥ ९३ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्राग्नी) अध्यापक उपदेशक लोगो ! जो (इयम्) यह (अपात्) बिना पग की (पद्वतीभ्यः) बहुत पगों वाली प्रजाओं से (पूर्वा) प्रथम उत्पन्न होने वाली (आ, अगात्) आती है (शिरः) शिर को (हित्वी) छोड़ के अर्थात् बिना शिर की हुई प्राणियों की (जिह्वया) वाणी से (वावदत्) शीघ्र बोलती अर्थात् कुक्कुट आदि के बोल से उषः काल की प्रतीति होती इस से बोलना धर्म उषा में आरोपण किया जाता है (चरत्) विचरती है और (त्रिंशत्) तीस (पदा) प्राप्ति के साधन मुहूर्त्तों को (नि, अक्रमीत्) निरन्तर आक्रमण करती है वह उषा प्रातः की वेला तुम लोगों को जाननी चाहिये ॥ ९३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो वेग वाली पाद शिर आदि अवयवों से रहित प्राणियों के जगने से पहिले होने वाली जागने का हेतु प्राणियों के मुखों से शीघ्र बोलती हुई सी तीस मुहूर्त (साठ घड़ी) के अनन्तर प्रत्येक स्थान को आक्रमण करती है वह उषा निद्रा आलस्य को छोड़ तुमको सुख के लिये सेवन करनी चाहिये ॥ ९३ ॥

देवास इत्यस्य मनुर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

के मनुष्या विद्वांसो भवितुमर्हन्तीत्याह ॥
कौन मनुष्य विद्वान् हो सकते हैं इस वि० ॥

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः । ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ॥ १४ ॥

देवासः । हि । स्म । मनवे । समन्यवऽइति सऽमन्यवः । विश्वे । साकम् । सरातयऽइति सऽरातयः । ते । नः । अद्य । ते । अपरम् । तुचे । तु । नः । भवन्तु । वरिवोविदऽइति वरिवःऽविदः ॥ १४ ॥

पदार्थः—(देवासः) विद्वांसः (हि) (स्म) प्रसिद्धौ । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः षत्वं च छान्दसम् (मनवे) मनुष्याय (समन्यवः) समानो मन्युः क्रोधो येषान्ते (विश्वे) सर्वे (साकम्) सह (सरातयः) समाना रातयो दानानि येषान्ते (ते) (नः) अस्माकम् (अद्य) (ते) (अपरम्) भविष्यति काले (तुचे) पुत्रपौत्राद्यायाऽपत्याय । तुगित्यपत्यना० निघं० २ । २ (तु) (नः) अस्माकम् (भवन्तु (वरिवोविदः) ये वरिवः परिचरणं विदन्ति जानन्ति यद्वा वरिवो धनं वेदयन्ति प्रापयन्ति ते ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! ये सरातयः समन्यवो विश्वे देवासः साकमद्य नो मनवे स्म वरिवोविदो भवन्तु ते त्वपरं नस्तुचेऽस्मभ्यञ्च वरिवोविदो भवन्तु ते हि युष्मभ्यं वरिवोविदः स्युः ॥ ९४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परस्परेभ्यः सुखानि दद्युर्ये साकं दुष्टानामुपरि क्रोधं कुर्युस्ते पुत्रपौत्रवन्तो भूत्वा मनुष्यसुखोन्नतये समर्था विद्वांसो भवितुमर्हन्ति ॥९४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (सरातयः) बराबर दाता (समन्यवः) तुल्य क्रोध वाले (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोग (साकम्) साथ मिल के (अद्य) आज (नः) हमारे (मनवे) मनुष्य के लिये (स्म) प्रसिद्ध (वरिवोविदः) सत्कार के जानने वा धन के प्राप्त कराने वाले (भवन्तु) हों (तु) और (ते) वे (अपरम्) भविष्यत् काल में (नः) हमारे (तुचे) पुत्रपौत्रादि सन्तान के अर्थ हमारे लिये सत्कार के जानने वा धन के प्राप्त कराने वाले हों (ते, हि) वेही तुम लोगों के लिये भी सत्कार के जानने वा धन के प्राप्त कराने वाले हों ॥ ९४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य एक दूसरे के लिये सुख देवें जो मिल कर दुष्टों पर क्रोध करें वे पुत्र पौत्र वाले हो के मनुष्यों के सुख की उन्नति के लिये समर्थ विद्वान् होने योग्य होते हैं ॥ ९४ ॥

अपाधमदित्यस्य नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
भुरिक् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
अथ के जना दुःखनिवारणसमर्थाः सन्तीत्याह ॥

अब कौन मनुष्य दुःखनिवारण में समर्थ हैं इस वि० ॥

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत् । देवास्तऽइन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण ॥ ९५ ॥

अप । अधमत् । अभिशस्तीरित्यभिऽशस्तीः । अशस्ति हेत्यशस्तिऽहा । अथ । इन्द्रः । द्युम्नी । आ । अभवत् । देवाः । ते । इन्द्र । सख्याय । येमिरे । बृहद्भानो इति बृहत्ऽभानो । मरुद्गणेति मरुत्ऽगण ॥ ९५ ॥

पदार्थः—(अप) दूरीकरणे (अधमत्) धमति (अभिशस्तीः) अभितो हिंसाः (अशस्तिहा) अप्रशस्तानां दुष्टानां हन्ता (अथ) (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् सभापती राजा (द्युम्नी) बहुप्रशंसाधनयुक्तः (आ) (अभवत्) भवतु (देवाः) विद्वांसः (ते) तव (इन्द्र) परमैश्वर्यप्रद सभापते राजन्! (सख्याय) मित्रत्वाय (येमिरे) संयमं कुर्वन्ति (बृहद्भानो) बृहन्तो भानवः किरणाइव कीर्त्तयो यस्य तत्सम्बुद्धौ (मरुद्गण) मरुतां मनुष्याणां वायूनां वा गणः समूहो यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ ९५ ॥

अन्वयः—हे बृहद्भानो मरुद्गण इन्द्र! देवास्ते सख्याय येमिरे द्युम्नीन्द्रो भवानभिशस्तीरपाधमदशस्तिहाऽभवद्भवतु ॥ ९५ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या धार्मिकाणां न्यायाधीशानां धनाढ्यानां वा मित्रतां कुर्वन्ति ते यशस्विनो भूत्वा सर्वेषां दुःखनिवारणाय सूर्यवद्भवन्ति ॥ ९५ ॥

पदार्थः—हे (बृहद्भानो) महान् किरणों के तुल्य प्रकाशित कीर्त्ति वाले (मरुद्गण) मनुष्यों वा पवनों के समूह से कार्य्यसाधक (इन्द्र) परमैश्वर्य के देने वाले सभापति राजा (देवाः) विद्वान् लोग (ते) आप की (सख्याय) मित्रता के अर्थ (येमिरे) संयम करते हैं और (द्युम्नी) बहुत प्रशंसारूप

धन से युक्त (इन्द्रः) परमैश्वर्य वाले आप (आभिः) (शस्तीः) सब ओर से हिंसाओं को (अप, अधमत्) दूर धमकाते हो (अशस्तिहा) दुष्टों के नाशक (अभवत्) हूजिये ॥ ९५ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य धार्मिक न्यायाधीशों वा धनाढ्यों से मित्रता करते हैं, वे यशस्वी हो कर सब दुःखनिवारण के लिये सूर्य के तुल्य होते हैं ॥ ९५ ॥

प्र व इत्यस्य नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥
फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

प्र व॒ इन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो॒ ब्रह्मा॑र्चत । वृ॒त्रꣳ ह॑नति वृत्र॒हा श॒तक्र॑तु॒र्वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ॥ ९६ ॥

प्र । व॒: । इन्द्रा॑य । बृ॒ह॒ते । मरु॑तः । ब्रह्म॑ । अ॒र्च॒त॒ । वृ॒त्रम् । ह॒न॒ति॒ । वृ॒त्र॒हेति॑ वृत्र॒ऽहा । श॒तक्र॑तु॒रिति॑ श॒तऽक्र॑तुः । वज्रे॑ण । श॒तप॑र्व॒णेति॑ श॒तऽप॑र्वणा ॥ ९६ ॥

पदार्थः—(प्र) (वः) युष्मभ्यम् (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (बृहते) (मरुतः) मनुष्याः (ब्रह्म) धनमन्नं वा (अर्चत) सत्कुरुत (वृत्रम्) मेघम् (हनति) हन्ति । अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुक् न (वृत्रहा) यो वृत्रं हन्ति (शतक्रतुः) शतमसङ्ख्याताः क्रतवः प्रज्ञाः कर्माणि वा यस्य सः (वज्रेण) शस्त्रास्त्रविशेषेण (शतपर्वणा) शतस्यासङ्ख्यातस्य जीवजातस्य पर्वा पालनं यस्मात्तेन ॥ ९६ ॥

अन्वयः—हे मरुतः मनुष्या! यः शतक्रतुः सेनापतिः शतपर्वणा वज्रेण वृत्रहा सूर्यो वृत्रमिव बृहत इन्द्राय शत्रून् हनति वो ब्रह्म प्रापयति तं यूयं प्रार्चत ॥ ९६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० हे मनुष्या! ये सूर्यो मेघमिव शत्रून् हत्वा युष्मदर्थमैश्वर्यमुन्नयन्ति तेषां सत्कारं यूयं कुरुत सदा कृतज्ञा भूत्वा कृतघ्नतां त्यक्त्वा प्राज्ञाः सन्तो महदैश्वर्यं प्राप्नुत ॥९६॥

पदार्थः—हे (मरुतः) मनुष्यो ! जो (शतक्रतुः) असंख्य प्रकार की बुद्धि वा कर्मों वाला सेनापति (शतपर्वणा) जिस से असंख्य जीवों का पालन हो ऐसे (वज्रेण) शस्त्र अस्त्र से (वृत्रहा) जैसे मेघहन्ता सूर्य्य (वृत्रम्) मेघ को वैसे (बृहते) बड़े (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये शत्रुओं को (हनति) मारता है और (वः) तुम्हारे लिये (ब्रह्म) धन वा अन्न को प्राप्त करता है उस का तुम लोग (प्र, अर्चत) सत्कार करो ॥ ९६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु० —हे मनुष्यो ! जो लोग मेघ को सूर्य के तुल्य शत्रुओं को मार के तुम्हारे लिये ऐश्वर्य की उन्नति करते हैं उन का सत्कार तुम करो । सदा कृतज्ञ हो के कृतघ्नता को छोड़ के प्राज्ञ हुए महान् ऐश्वर्य को प्राप्त होओ ॥ ९६ ॥

अस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । महेन्द्रो देवता ॥
स्वराट् सतोबृहती छन्दः । मध्यम स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः परमात्मा स्तोतव्य इत्युपदिश्यते ॥

अब मनुष्यों को परमात्मा की स्तुति करने योग्य है इस वि० ॥

अस्येदिन्द्रो॑ वावृधे वृष्ण्य॒ꣳ शवो॒ मदे॑ सु॒तस्य॒ विष्ण॑वि। अ॒द्या तम॑स्य महि॒मान॑मा॒यवोऽनु॑

ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥ ९७ ॥ * इमा उ त्वा । यं-स्यायमयं सहस्रम् । ऊर्ध्वऊषुणः ॥

अस्य । इत् । इन्द्रः । वावृधे । ववृधऽइति ववृधे । वृष्ण्यम् । शवः । मदे । सुतस्य । विष्णवि । अद्य । तम् । अस्य । महिमानम् । आयवः । अनु । स्तुवन्ति । पूर्वथेति पूर्वऽथा ॥ ९७ ॥

पदार्थः—(अस्य) संसारस्य (इत्) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो राजा (वावृधे) वर्द्धयति (वृष्ण्यम्) वृषा समर्थस्तस्येमम् (शवः) बलमुदकं वा । शव इति उदकना० निघं० १ । १२ (मदे) आनन्दाय (सुतस्य) उत्पन्नस्य (विष्णवि) व्यापके परमेश्वरे । अत्र वाच्छन्दसीति घिसंज्ञाकार्य्याभावे गुणादेशेऽवादेशः (अद्य) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (तम्) (अस्य) परमात्मनः (महिमानम्) महत्त्वम् (आयवः) ये स्वकर्मफलानि यान्ति ते मनुष्याः । आयव इति मनुष्यना० निघं० २ । ३ (अनु) (स्तुवन्ति) प्रशंसन्ति (पूर्वथा) पूर्वइव ॥ ९७॥

अन्वयः—हे मनुष्या । य इन्द्रो जीवो विष्णवि सुतस्याऽस्य मदे वृष्ण्यं शवोऽद्य वावृधेऽस्य परमात्मन इन्महिमानं पूर्वथायवोनुष्टुवन्ति तं यूयमपि स्तुवत॥९७॥

भावार्थः—हे मनुष्या । यदि यूयं सर्वत्र व्यापकस्य सर्वजगदुत्पादकस्याखिलाधारकस्य परमैश्वर्यप्रापकस्याज्ञां महिमानं च विज्ञाय सर्वस्य संसारस्योपकारं कुरुत तर्हि यूयम् सततमानन्दं प्राप्नुतेति ॥ ९७॥

*यहां इन चार (अ० ३३ । मं० ८१–८३ तथा (अ० ११ मं ४२) क्रम से पूर्व आचुके मन्त्रों की प्रतीकें कर्मकाण्ड विशेष में कार्य्य के लिये रक्खी हैं ॥

अत्राग्निप्राणोदानाऽहर्निशसूर्य्याग्निराजैश्वर्योत्तमयानविद्वल्लक्ष्मीवैश्वानरेन्द्रप्रज्ञावरुणाऽश्व्यन्तसूर्य्यराजप्रजापरीक्षकेन्द्रवाय्वादिगुणवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य्ययुक्त राजा (विष्णवि) व्यापक परमात्मा में (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अस्य) इस संसार के (मदे) आनन्द के लिये (वृष्ण्यम्) पराक्रम (शवः) बल तथा जल को (अध) इस वर्त्तमान समय में (वावृधे) बढ़ाता है (अस्य) इस परमात्मा के (इत्) ही (महिमानम्) महिमा को (पूर्वथा) पूर्वज लोगों के तुल्य (आयवः) अपने कर्म फलों को प्राप्त होने वाले मनुष्य लोग (अनु, स्तुवन्ति) अनुकूल स्तुति करते हैं (तम्) उस की तुम लोग भी स्तुति करो ॥ ९७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो तुम लोग सर्वत्र व्यापक सब जगत् के उत्पादक सब के आधार और उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक ईश्वर की आज्ञा और महिमा को जान के सब संसार का उपकार करो तो तुम को निरन्तर आनन्द प्राप्त होवे ॥ ९७ ॥

इस अध्याय में अग्नि, प्राण, उदान, दिन, रात, सूर्य्य अग्नि, राजा, ऐश्वर्य, उत्तमयान, विद्वान्, लक्ष्मी, वैश्वानर, ईश्वर, इन्द्र, बुद्धि, वरुण, अश्वि, अन्न, सूर्य, राजप्रजा, परीक्षक, इन्द्र, और वायु आदि पदार्थों के गुणों का वर्णन है इस से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीयुतपरमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तिमगमत् ॥

ओ३म्

अथ चतुस्त्रिंशाऽध्यायारम्भः ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

यज्जाग्रत इत्यस्य शिवसंकल्पऋषिः । मनो देवता
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ मनसो वशीकरणविषयमाह ॥

अब मन को वश करने का वि० ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

यत् । जाग्रतः । दूरम् । उदैतीत्युत्ऽऐति । दैवम् । तत् । ऊँ इत्यूँ । सुप्तस्य । तथा । एव । एति । दूरङ्गममिति दूरम्ऽगमम् । ज्योतिषाम् । ज्योतिः । एकम् । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिवऽसङ्कल्पम् । अस्तु ॥ १ ॥

पदार्थः—(यत्) (जाग्रतः) (दूरम्) (उदैति) उद्गच्छति (दैवम्) देव आत्मनि भवं देवस्य जीवात्मनः साधनमि-

ति वा (तत्) यत्। व्यत्ययः (उ) (सुप्तस्य) शयानस्य (तथा) तेनैव प्रकारेण (एव) (एति) अन्तर्गच्छति (दूरङ्गमम्) यद्दूरं गच्छति गमयति वाऽनेकपदार्थान् गृह्णाति तत् (ज्योतिषाम्) शब्दादि विषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणाम् (ज्योतिः) प्रकाशकं प्रवर्त्तकमात्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति महर्षि वात्स्यायनोक्तेः (एकम्) असहायम् (तत्) (मे) मम मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकम् (शिवसङ्कल्पम्) शिवः कल्याणकारी धर्मविषयः संकल्प इच्छा यस्य तत् (अस्तु)भवतु॥१॥

अन्वयः-हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति । तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

भावार्थः-ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञासेवनं विद्वत्सङ्गं कृत्वा अनेकविधसामर्थ्ययुक्तं मनः शुद्धं सम्पादयन्ति यज्जागृतावस्थायां विस्तृतव्यवहारं तत्सुषुप्तौ शान्तं भवति यद्वेगवतां वेगवत्तरं ज्ञानस्य साधकत्वादिन्द्रियाणामपि प्रवर्त्तकं निगृह्णन्ति तेऽशुभव्यवहारं विहाय शुभाचरणे प्रेरयितुं शक्नुवन्ति ॥ १ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा राजन्! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने वा जीवात्मा का साधन (दूरंगमम्) दूर जाने, मनुष्य को दूर तक लेजाने वा अनेक पदार्थों का ग्रहण करने वाला (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवृत्त करने हारा (एकम्) एक (जाग्रतः) जागृत अवस्था में (दूरम्) दूर२ (उत्,ऐति) भागता है (उ) और तत् जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा,

एव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी धर्म विषयक इच्छा वाला (अस्तु) हो ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन और विद्वानों का सङ्ग करके अनेक विध सामर्थ्ययुक्त मन को शुद्ध करते हैं जो जागृतावस्था में विस्तृत व्यवहार वाला वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है। जो वेग वाले पदार्थों में अतिवेगवान् ज्ञान के साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्त्तक मन को वश में करते हैं वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रवृत्त कर सक्ते हैं ॥ १ ॥

येन कर्माणीत्यस्य शिवसंकल्प ऋषिः। मनो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑। यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

येन॑। कर्मा॑णि। अ॒पसः॑। म॒नी॒षिणः॑। य॒ज्ञे। कृ॒ण्वन्ति॑। वि॒दथे॑षु। धीराः॑। यत्। अ॒पू॒र्वम्। य॒क्षम्। अ॒न्तरिति॑। प्र॒जाना॒मिति॑ प्र॒ऽजाना॑म्। तत्। मे॒। मनः॑। शि॒वसं॑ङ्कल्प॒मिति॑ शि॒वऽसं॑ङ्कल्पम्। अ॒स्तु ॥ २ ॥

पदार्थः—(येन) मनसा (कर्माणि) कर्त्तुमीप्सिततमानि क्रियमाणानि (अपसः) अपः कर्म तद्वन्तः सदा कर्मनिष्ठाः

(मनीषिणः) मनस ईषिणो दमनकर्त्तारः (यज्ञे) अग्निहोत्रादौ धर्मेण सङ्गतव्यवहारे योगाभ्यासे वा (कृण्वन्ति) कुर्वन्ति (विदथेषु) विज्ञानयुद्धादिव्यवहारेषु (धीराः) ध्यानवन्तो मेधाविनः। धीर इति मेधाविना० निघं० ३। १५ (यत्) (अपूर्वम्) अनुत्तमगुणकर्मस्वभावम् (यक्षम्) पूजनीयं संगतं वा। अ-त्रौणादिकः सन् प्रत्ययः (अन्तः) मध्ये (प्रजानाम्) प्राणिमात्राणाम् (तत्) (मे) मम (मनः) मननविचारात्मकम् (शिवसङ्कल्पम्) धर्मेष्टम् (अस्तु) ॥ २ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर वा विद्वन्भवत्सङ्गेन येनापसो मनीषिणो धीरा यज्ञे विदथेषु च कृण्वन्ति यदपूर्वं प्रजानामन्तर्यक्षमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरस्योपासनेन सुविचारविद्यासत्सङ्गैरन्तःकरणमधर्माचारान्निवर्त्य धर्माचारे प्रवर्त्तनीयम् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर वा विद्वन्! जब आप के संग से (येन) जिस (अपसः) सदा कर्म धर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मन का दमन करने वाले (धीराः) ध्यान करने वाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि वा धर्मसंयुक्त व्यवहार वा योग यज्ञ में और (विदथेषु) विज्ञान सम्बन्धी और युद्धादि व्यवहारों में (कर्माणि) अत्यन्त इष्ट कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभाव वाला (प्रजानाम्) प्राणिमात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम्) पूजनीय वा संगत एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन विचार करना रूप मन (शिवसङ्कल्पम्) धर्मेष्ट (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना सुन्दर विचार विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें ॥ २ ॥

यत् प्रज्ञानमित्यस्य शिवसङ्कल्प ऋषिः। मनो देवता। स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेवविषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

यत्। प्रज्ञानमिति प्रऽज्ञानम्। उत। चेतः। धृतिः। च। यत्। ज्योतिः। अन्तः। अमृतम्। प्रजास्विति प्रऽजासु। यस्मात्। न। ऋते। किम्। चन। कर्म। क्रियते। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिवऽसङ्कल्पम्। अस्तु ॥ ३ ॥

पदार्थः—(यत्) (प्रज्ञानम्) प्रजानाति येन तद्बुद्धिस्वरूपम् (उत) अपि (चेतः) चेतति स्मरति येन तत् (धृतिः) धैर्य रूपम् (च) चकाराल्लज्जादीन्यपि कर्माणि येन क्रियन्ते (यत्) (ज्योतिः) द्योतमानम् (अन्तः) अभ्यन्तरे (अमृतम्) नाशरहितम् (प्रजासु) जनेषु (यस्मात्) मनसः (नः) (ऋते) विना (किम्) (चन) किञ्चिदपि (कर्म) (क्रियते) (तत्) (मे) जीवात्मनो मम (मनः) सर्वकर्मसाधनम् (शिवसङ्कल्पम्) शिवे कल्याणकरे परमात्मनि कल्प इच्छाऽस्य तत् (अस्तु) भवतु ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर परमयोगिन् विद्वन्वा! भवज्ज्ञापनेन यत्प्रज्ञानं च ते उत धृतिर्यच्च प्रजास्वन्तरमृतं ज्योतिर्यस्मादृते किञ्चन कर्म न क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यदन्तःकरणबुद्धिचित्तमनोऽहङ्कारवृत्तित्वाच्चतुर्विधं अन्तः प्रकाशं प्रजानां सर्वकर्मसाधकं नाशरहितं मनोऽस्ति तन्न्याये सत्याचरणे च प्रवर्त्य पक्षपाताऽन्यायाऽधर्माचरणाद्यूयं निवर्त्तयत ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा परमयोगिन् विद्वन्! आप के जताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेष कर ज्ञान का उत्पादक बुद्धिरूप (उत) और भी (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्यस्वरूप (च) और लज्जादि कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) प्रकाशरूप (यस्मात्) जिस से (ऋते) विना (किम्, चन) कोई भी (कर्म) काम (न, क्रियते) नहीं किया जाता (तत्) वह (मे) मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधन रूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला (अस्तु) हो ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप वृत्ति वाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करने वाला प्राणियों के सब कर्मों का साधक अविनाशी मन है उस को न्याय और सत्य आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो ॥ ३ ॥

येनेदमित्यस्य शिवसङ्कल्प ऋषिः। मनो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

येनं । इदम् । भूतम् । भुवंनम् । भविष्यत् । परिंगृहीतमिति परिंऽगृहीतम् । अमृतेंन । सर्वम् । येनं । यज्ञः । तायते । सप्तहोतेति सप्तऽहोंता । तत् । मे । मनः । शिवसंङ्कल्पमिति शिवऽसंङ्कल्पम् । अस्तु ॥४॥

पदार्थः—(येन) मनसा (इदम्) वस्तुजातम् (भूतम्) अतीतम् (भुवनम्) भवतीति भुवनम् । वर्त्तमानकालस्य सम्बन्धि । औणादिकः क्युः (भविष्यत्) यदुत्पत्स्यमानं भावि (परिगृहीतम्) परितः सर्वतो गृहीतं ज्ञातम् (अमृतेन) नाशरहितेन परमात्मना सह युक्तेन (सर्वम्) समग्रम् (येन) (यज्ञः) अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा (तायते) तन्यते विस्तीर्य्यते (सप्तहोता) अग्निष्टोमेपि सप्तहोतारो भवन्ति (तत्) (मे) मम (मनः) योगयुक्तं चित्तम् (शिवसङ्कल्पम्) शिवो मोक्षरूपसङ्कल्पो यस्य तत् (अस्तु) भवतु ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! येनामृतेन भूतं भुवनं भविष्यत्सर्वमिदं परिगृहीतं भवति येन सप्तहोता यज्ञस्तायते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यच्चित्तं योगाभ्याससाधनोपसाधनासिद्धं भूतभविष्यद्वर्त्तमानज्ञं सर्वसृष्टिविज्ञातृकर्मोपासनाज्ञानसाधकं वर्त्तते तत्सदैव कल्याणप्रियं कुरुत ॥ ४ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो ! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होने वाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ (भुवनम्) वर्त्तमान काल सम्बन्धी और (भविष्यत्) होने वाला (सर्वम्, इदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परि-

गृहीतम्) सब ओर से गृहीत होता अर्थात् जाना जाता है (येन) जिस से (सप्तहोता) सात मनुष्य होता वा पांच प्राण छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवां ये सात लेने देने वाले जिस में हों वह (यज्ञः) अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार (तायते) विस्तृत किया जाता है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) योगयुक्त चित्त (शिवसङ्कल्पम्) मोक्षरूप सङ्कल्प वाला (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों काल का ज्ञाता सब सृष्टि का जानने वाला कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है उस को सदा ही कल्याण में प्रिय करो ॥ ४ ॥

यस्मिन्नित्यस्य शिवसङ्कल्प ऋषिः । मनो देवता ।

त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजू॑ᳪषि॒ यस्मि॒न्प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः । यस्मि॑ᳫश्चि॒त्तᳪ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

यस्मि॑न् । ऋचः॑ । साम॑ । यजू॑ᳪषि । यस्मि॑न् । प्रति॑ष्ठि॒ता । प्रति॑स्थि॒तेति॒ । प्रति॑ऽस्थिता । र॒थ॒ना॒भा॒वि॒वेति॑ रथना॒भौऽइ॑व । अ॒राः । यस्मि॑न् । चि॒त्तम् । सर्व॑म् । ओत॒मित्याऽउ॑तम् । प्र॒जाना॒मिति॑ प्र॒ऽजाना॑म् । तत् । मे॒ । मनः॑ । शि॒वसं॑कल्प॒मिति॑ शि॒वऽसं॑कल्पम् । अ॒स्तु॒ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) मनसि (ऋचः) ऋग्वेदः (साम) सामवेदः (यजूंषि) यजुर्वेदः (यस्मिन् (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठितानि (रथनाभाविव) यथा रथस्य रथचक्रस्य मध्यमे काष्ठे सर्वेऽवयवा लग्ना भवन्ति तथा (अराः) रथचक्रावयवाः (यस्मिन्) (चित्तम्) सर्वपदार्थविषयिज्ञानम् (सर्वम्) समग्रम् (ओतम्) सूत्रे मणिगणा इव प्रोतम् (प्रजानाम्) (तत्) (मे) मम (मनः) (शिवसङ्कल्पम्) शिवः कल्याणकरो वेदादिसत्यशास्त्रप्रचारसङ्कल्पो यस्मिँस्तत् (अस्तु) भवतु ॥ ५ ॥

अन्वयः—रथनाभाविवारा यस्मिन्मनसि ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिता यस्मिन्नथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तमोतमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमा वाचकलु०—हे मनुष्या ! युष्माभिर्यस्य स्वास्थ्य एव वेदादिपठनपाठनव्यवहारो घटते तत्र मन एव वेदादिविद्याधारं यत्र सर्वेषां व्यवहाराणां ज्ञानं सञ्चितं वर्त्तते तदन्तःकरणं विद्याधर्माचरणेन पवित्रं संपादनीयम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभाविव, अराः) जैसे रथ के पहिये के बीच के काष्ठ में अरा लगे होते हैं वैसे (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूंषि) यजुर्वेद (प्रतिष्ठिता) सब ओर से स्थित और (यस्मिन्) जिस में अथर्ववेद स्थित हैं (यस्मिन्) जिस में (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) समग्र (चित्तम्) सर्व पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान (ओतम्) सूत में मणियों के समान संयुक्त है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचारूप संकल्प वाला (अस्तु) हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिस में सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो ॥ ५ ॥

सुषारथिरित्यस्य शिवसङ्कल्प ऋषिः। मनो देवता। स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

सुषारथिः। सुसारथिरिति सुऽसारथिः। अश्वानिवेत्यश्वान्ऽइव। यत्। मनुष्यान्। नेनीयते। अभीशुभिरित्यभीशुऽभिः। वाजिनऽइवेति वाजिनःऽइव। हृत्प्रतिष्ठम्। हृत्प्रतिस्थमिति हृत्ऽप्रतिस्थम्। यत्। अजिरम्। जविष्ठम्। तत्। मे। मनः। शिवसंङ्कल्पमिति शिवऽसंङ्कल्पम्। अस्तु ॥ ६ ॥

पदार्थः—(सुषारथिः) शोभनश्चासौ सारथिर्यानचालयिता तथा (यत्) (मनुष्यान्) मनुष्यग्रहणमुभयलक्षकं प्राणिमात्रस्य (नेनीयते) भृशमितस्ततो नयति गमयति (अभीशुभिः) रश्मिभिः अभीशव इति रश्मिना० निघं० १। ५ (वाजिनइव) सुशिक्षितानश्वानिव (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत् (यत्)

(अजिरम्) विषयादिषु प्रक्षेपकं जराद्यवस्थारहितं वा (जविष्ठम्) अतिशयेन वेगवत्तरम् (तत्) (मे) मम (मनः) (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गलनियमेष्टम् (अस्तु) भवतु ॥ ६ ॥

अन्वयः—यत् सुषारथिरश्वानिव मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव नियच्छति च बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति यद्धृत्प्रतिष्ठमजिरं जविष्ठमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

भावार्थः- अत्रोपमालंकारौ—यत्रासक्तं तत्रैव प्रग्रहैः सारथिः तुरङ्गानिव वशे स्थापयति सर्वेऽविद्वांसो यदनुवर्त्तन्ते विद्वांसश्च यत्स्ववशं कुर्वन्ति यच्छुद्धं सत्सुखकार्य्यशुद्धं सद्दुःखकारि यज्जितं सिद्धिं यदजितमसिद्धिं प्रयच्छति तन्मनो मनुष्यैः स्ववशं सदा रक्षणीयम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यत्) जो मन (सुषारथिः) जैसे सुन्दर चतुर सारथि गाड़ीवान् (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र २ इधर उधर घुमाता है और (अभीशुभिः) जैसे रस्सियों से (वाजिनः) वेग वाले घोड़ों को सारथि वश में करता वैसे नियम में रखता (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धादि अवस्था रहित और (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) मंगलमय नियम में इष्ट (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालं०—जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है वहीं बल से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे प्राणियों को ले जाता और लगाम से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे वश में रखता, सब मूर्खजन जिस के अनुकूल वर्त्तते और विद्वान् अपने वश में करते हैं जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ दुःखदायी जो जीता हुआ

सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को देता है वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये ॥ ६ ॥

पितुमित्यस्यागस्त्य ऋषिः । अन्नं देवता । उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ कः शत्रून् विजेतुं शक्नोतीत्याह ॥

अब कौन मनुष्य शत्रुओं को जीत सकता है इस वि० ॥

पितुं नु स्तोषम्महो धर्माणन्तविषीम् । यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ७ ॥

पितुम् । नु । स्तोषम् । महः । धर्माणम् । तविषीम् । यस्य । त्रितः । वि । ओजसा । वृत्रम् । विपर्वमिति विऽपर्वम् । अर्दयत् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(पितुम्) अन्नम् (नु) सद्यः (स्तोषम्) स्तुवे (महः) महान्तम् (धर्माणम्) पक्षपातरहितं न्यायाचरणं धर्मम् (तविषीम्) बलयुक्ता सेनाम् । तविषीति बलना० निघं० २ । ९ (यस्य) (त्रितः) त्रिषु कालेषु । सप्तम्यर्थे तसिः (वि) (ओजसा) उदकेन सह । ओजस इत्युदकना० १ । १२ (वृत्रम्) मेघम् (विपर्वम्) विगतानि पर्वाणि ग्रन्थयो यस्य तम् (अर्दयत्) अर्दयति नाशयति ॥ ७ ॥

अन्वयः—अहं यस्य पितुं महो धर्माणं तविषीं नु स्तोषं स राजपुरुषः त्रितः सूर्य ओजसा सह वर्त्तमानं विपर्वं वृत्रं व्यर्दयदिव शत्रूञ्जेतुं शक्नोति ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—येन सत्यो धर्मो बलवती सेना पुष्कलाऽन्नादि-सामग्री च ध्रियते स सूर्यो मेघमिव शत्रून् विजेतुं शक्नुयात् ॥ ७ ॥

पदार्थः—मैं (यस्य) जिस के (पितुभृः) अन्न (महः) महान् (धर्माणम्) पक्षपात रहित न्यायाचरणरूप धर्म और (तविषीम्) बलयुक्त सेना को (नु) शीघ्र (स्तोषम्) स्तुति करता हूं वह राजपुरुष (त्रितः) तीनों काल में जैसे सूर्य (ओजसा) जल के साथ वर्त्तमान (विपर्वम्) जिस की बादल रूप गांठ भिन्न २ हों उस (वृत्रम्) मेघ को (वि, अर्दयत्) विशेष कर नष्ट करता है वैसे शत्रुओं के जीतने को समर्थ होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जिस ने सत्यधर्म, बलवती सेना और पुष्कल अन्नादि सामग्री धारण की है वह जैसे सूर्य मेघ को वैसे शत्रुओं को जीत सकता है ॥७॥

अग्निर्वादित्यस्यागस्त्य ऋषिः । अनुमतिर्देवता ॥
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ? ॥
फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ? ॥

अन्विदंनुमते त्वं मन्यांसै शञ्च नस्कृधि ।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंꣳषि तारिषः ॥८॥

अनु । इत् । अनुमत ऽइत्यनुऽमते । त्वम् । मन्यासै । शम् । च । नः । कृधि । क्रत्वे । दक्षाय । नः । हिनु । प्र । नः । आयूꣳषि । तारिषः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अनु) (इत्) एव (अनुमते) अनुकूला मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (त्वम्) (मन्यासै) मन्यस्व (शम्) सुखम्

(च) (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (क्रत्वे) प्रज्ञायै (दक्षाय) बलाय चतुरत्वाय वा (नः) अस्मान् (हिनु) वर्द्धय (प्र) (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनादीनि (तारिषः) सन्तारयसि ॥ ८ ॥

अन्वयः--हे अनुमते सभापते विद्वँस्त्वं ! यच्छमनुमन्यासै तेन युक्तानस्कधि क्रत्वे दक्षाय नो हिनु न आयूंषि चेत्प्रतारिषः ॥ ८ ॥

भावार्थः–मनुष्यैर्यथा स्वार्थसिद्धये प्रयत्येत तथैवान्यार्थेऽपि प्रयत्नो विधेयः यथा स्वस्य कल्याणवृद्धी अन्वेष्टव्ये तथाऽन्येषामपि । एवं सर्वेषां पूर्णमायुः सम्पादनीयम् ॥ ८ ॥

पदार्थः–हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धि वाले सभापति विद्वन् ! (त्वम्) आप जिस को (शम्) सुखकारी (अनु, मन्यासै) अनुकूल मानो उस से युक्त (नः) हम को (कृधि) करो (क्रत्वे) बुद्धि (दक्षाय) बल वा चतुराई के लिये (नः) हम को (हिनु) बढ़ाओ (च) और (नः) हमारी (आयूंषि) अवस्थाओं को (इत्) निश्चय कर (प्र, तारिषः) अच्छे प्रकार पूर्ण कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः–मनुष्यों को चाहिये कि जैसे स्वार्थ सिद्धि के अर्थ प्रयत्न किया जाता वैसे अन्यार्थ में भी प्रयत्न करें जैसे आप अपने कल्याण वृद्धि चाहते हैं वैसे औरों की भी चाहें इस प्रकार सब की पूर्ण अवस्था सिद्ध करें ॥ ८ ॥

अनु न इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । अनुमतिर्देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञन्देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः ॥ ९ ॥

अनु । नः । अद्य । अनुमतिरित्यनुऽमतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् । अग्निः । च । हव्यवाहनऽइति हव्यऽवाहनः । भवतम् । दाशुषे । मयः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अनु) (नः) अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (अनुमतिः) अनुकूलं विज्ञानम् (यज्ञम्) सुखदानसाधनं व्यवहारम् (देवेषु) विद्वत्सु (मन्यताम्) (अग्निः) पावकवत्तेजस्वी तज्ज्ञो वा (च) समुच्चये (हव्यवाहनः) यो हव्यानि ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि वहति प्रापयति (भवतम्) (दाशुषे) दात्रे (मयः) सुखकारिणौ । मयइति सुखना० निघं० ३ । ६ ॥ ९ ॥

अन्वयः—योऽनुमतिरद्य देवेषु नो यज्ञमनुमन्यतां स हव्यवाहनोऽग्निश्च युवां दाशुषे मयः सुखकारिणौ भवतम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सत्कर्मानुष्ठानेऽनुमतिदातारो दुष्टकर्मानुष्ठानस्य निषेधकास्तेऽग्न्यादिविद्यया सुखं सर्वेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थः—जो (अनुमतिः) अनुकूलविज्ञान वाला जन (अद्य) आज (देवेषु) विद्वानों में (नः) हमारे (यज्ञम्) सुख देने के साधनरूप व्यवहार को (अनु, मन्यताम्) अनुकूल माने वह (च) और (हव्यवाहनः) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाले (अग्निः) अग्नि के तुल्य तेजस्वी वा अग्नि विद्या का विद्वान् तुम दोनों (दाशुषे) दानशील मनुष्य के लिये (मयः) सुखकारी (भवतम्) होओ ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सत्कर्मों के अनुष्ठान में अनुमति देने और दुष्टकर्मों के अनुष्ठान का निषेध करने वाले हैं वे अग्नि आदि की विद्या से सब के लिये सुख देवें ॥ ९ ॥

सिनीवालीत्यस्य गृत्समद ऋषिः । सिनीवाली देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ विदुष्यः कुमार्यः किं कुर्युरित्याह ॥

अब विदुषी कुमारी क्या करें इस वि० ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥१०॥

सिनीवालि । पृथुष्टुके । पृथुस्तुक इति पृथुऽस्तुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा । जुषस्व । हव्यम् । आहुतमित्याऽहुतम् । प्रजामिति प्रऽजाम् । देवि । दिदिड्ढि । नः ॥ १० ॥

पदार्थः—(सिनीवालि) सिनी प्रेमबद्धा चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ (पृथुष्टुके) पृथुर्विस्तीर्णा ष्टुका स्तुतिः केशभारः कामो वा यस्य तत्सम्बुद्धौ महास्तुते पृथुकेशभारे पृथुकामे वा (या) (देवानाम्) विदुषाम् (असि) (स्वसा) भगिनि (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) आदातुमर्हम् (आहुतम्) समन्तात्वरदीक्षादिकर्मभिः स्वीकृतं पतिम् (प्रजाम्) सुसन्तानरूपाम् (देवि) विदुषि (दिदिड्ढि) दिश देहि । अत्र दिश धातो बहुलं छन्दसीति शपः श्लुः (नः) अस्मभ्यम् ॥ १० ॥

अन्वयः—हे सिनीवालि पृथुष्टुके देवि विदुषि कुमारि ! या त्वं देवानां स्वसाऽसि सा हव्यमाहुतं पतिं जुषस्व नः प्रजां दिदिड्ढि ॥ १० ॥

भावार्थः—हे कुमार्यो! यूयं ब्रह्मचर्य्येण समग्रा विद्याः प्राप्य युवतयो भूत्वा स्वेष्टान् स्वपरीक्षितान् वर्त्तुमर्हान् पतीन् स्वयं वृणुत तैः सहानन्द्य प्रजा उत्पादयत ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (सिनीवालि) प्रेमयुक्त बल करने हारी (पृथुष्टुके) जिस की विस्तृत स्तुति, सिर के बाल वा कामना हो ऐसी (देवि) विदुषि कुमारी (या) जो तू (देवानाम्) विद्वानों की (स्वसा) बहिन (असि) है सो (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य (आहुतम्) अच्छे प्रकार वर दीक्षादि कर्म्मों से स्वीकार किये पति का (जुषस्व) सेवन कर और (नः) हमारे लिये (प्रजाम्) सुन्दर सन्तानरूप प्रजा को (दिदिड्ढि) दे ॥ १० ॥

भावार्थः—हे कुमारियो ! तुम ब्रह्मचर्य्य आश्रम के साथ समस्त विद्याओं को प्राप्त हो युवति हो के अपने को अभीष्ट स्वयं परीक्षा किये वरने योग्य पतियों को आप वरो उन पतियों के साथ आनन्द कर प्रजा पुत्रादि को उत्पन्न किया करो ॥ १० ॥

पञ्चेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । सरस्वती देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः । सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥११॥

पञ्च । नद्यः । सरस्वतीम् । अपि । यन्ति । सस्रोतस इति सऽस्रोतसः । सरस्वती । तु । पञ्चधा । सा । ऊँ इत्यूँ । देशे । अभवत् । सरित् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(पञ्च) पञ्चज्ञानेन्द्रियवृत्तयः (नद्यः) नदीवत्प्रवाहरूपाः (सरस्वतीम्) प्रशस्तविज्ञानवतीं वाचम् (अपि) (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सस्रोतसः) समानं मनो रूपं स्रोतः प्रवाहो यासान्ताः (सरस्वती) (तु) अवधारणे (पञ्चधा) पञ्चज्ञानेन्द्रियशब्दादिविषयप्रतिपादनेन पञ्चप्रकारः (सा) (उ) (देशे) स्वनिवासे स्थाने (अभवत्) भवति (सरित्) या सरति गच्छति सा ॥ ११ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः सस्रोतसः पञ्च नद्यः यां सरस्वतीमपि यन्ति सा उ सरित् सरस्वती देशे पञ्चधा त्वभवादिति विज्ञेया ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्यावाणी पञ्चशब्दादिविषयाश्रिता सरिद्वर्त्तते तां विज्ञाय यथावत्प्रसार्य मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोक्तव्या ॥ ११ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि (सस्रोतसः) एक मन रूप प्रवाहों वाली (पञ्च) पांच (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाहरूप ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति जिस (सरस्वतीम्) प्रशस्त विज्ञान युक्त वाणी को (अपि, यन्ति) प्राप्त होती हैं (सा, उ) वह भी (सरित्) चलने वाली (सरस्वती) वाणी (देशे) अपने निवास स्थान में (पञ्चधा) पांच ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि पांच विषयों का प्रतिपादन करने से पांच प्रकार की (तु) ही (अभवत्) होती है ऐसा जानें ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि जो वाणी पांच शब्दादि विषयों के आश्रित हुई नदी के तुल्य प्रवाह युक्त वर्त्तमान है उस को जानके यथावत् प्रचार कर मधुरलक्षण प्रयुक्त करें ॥ ११ ॥

त्वमग्न इत्यस्य हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् जगती छन्दः निषादः स्वरः ॥

अथ जनैरीश्वराज्ञा पाल्येत्याह ॥

अब मनुष्यों को ईश्वराज्ञा पालनी चाहिये इस वि० ॥

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा। तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १२ ॥

त्वम्। अग्ने। प्रथमः। अङ्गिराः। ऋषिः। देवः। देवानाम्। अभवः। शिवः। सखा। तव। व्रते। कवयः। विद्मनापस इति विद्मनाऽअपसः। अजायन्त। मरुतः। भ्राजदृष्टय इति भ्राजत्ऽऋष्टयः॥१२॥

पदार्थः—(त्वम्) (अग्ने) परमेश्वर विद्वन् वा (प्रथमः) प्रख्यातः (अङ्गिराः) अङ्गानां रस इव वर्त्तमानो यद्वाऽङ्गिभ्यो जीवात्मभ्यो सुखं राति ददाति सः (ऋषिः) ज्ञाता (देवः) दिव्यगुणकर्मस्वभावः (देवानाम्) विदुषाम् (अभवः) भवेः (शिवः) कल्याणकारी (सखा) मित्रः (तव) (व्रते) शीले नियमे वा (कवयः) मेधाविनः (विद्मनापसः) विद्मनानि विदितान्यपांसि कर्माणि येषान्ते (अजायन्त) जायन्ते (मरुतः) मनुष्याः (भ्राजदृष्टयः) भ्राजन्त्यः शोभमाना ऋष्टय आयुधानि येषान्ते ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने! यतस्त्वं प्रथमोऽङ्गिरा देवानां देवः शिवः सखा ऋषिरभवस्तस्मात्तव व्रते विद्मनापसो भ्राजदृष्टयः कवयो मरुतोऽजायन्त ॥ १२ ॥

भावार्थः—यदि मनुष्याः सर्वसुहृदं विद्वांसं सर्वमित्रं परमात्मानञ्च सखायं मत्वा विज्ञाननिमित्तानि कर्माणि कृत्वा प्रकाशितात्मानो भवेयुस्तर्हि ते विद्वांसो भूत्वा परमेश्वरस्याज्ञायां वर्त्तितुं शक्नुयुः ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर वा विद्वन् ! जिस कारण (त्वम्) आप (प्रथम) प्रख्यात (अङ्गिराः) अवयवों के सारभूत रस के तुल्य वा जीवात्माओं को सुख देने वाले (देवानाम्) विद्वानों के बीच (देवः) उत्तम गुणकर्म स्वभावयुक्त (शिवः) कल्याणकारी (सखा) मित्र (ऋषिः) ज्ञानी (अभवः) होवें इस से (तव) आप के (व्रते) स्वभाव वा नियम में (विद्मनापसः) प्रसिद्ध कर्मों वाले (भ्राजदृष्टयः) सुन्दर हथियारों से युक्त (कवयः) बुद्धिमान् (मरुतः) मनुष्य (अजायन्त) प्रकट होते हैं ॥१२॥

भावार्थः—यदि मनुष्य सब के मित्र विद्वान् जन और सब के हितैषी परमात्मा को मित्र मान विज्ञान के निमित्त कर्मों को कर प्रकाशित आत्मावाले हों तो वे विद्वान् होकर परमेश्वर की आज्ञा में वर्त्त सकें ॥ १२ ॥

त्वन्न इत्यस्य हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राजेश्वरौ कथं सेवनीयावित्याह ॥

राजा और ईश्वर की कैसी सेवा करनी चाहिये इस वि० ॥

त्वन्नो॑ अग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च वन्द्य । त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषꣳ॒ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते ॥ १३ ॥

त्वम् । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । तव॑ । दे॒व॒ । पा॒युभि॒रिति॑ पा॒युऽभिः॑ । म॒घोनः॑ । र॒क्ष॒ । त॒न्वः॑ । च॒ । व॒न्द्य॒ । त्रा॒ता । तो॒कस्य॑ । तन॑ये । गवा॑म् । अ॒सि॒ । अनि॑मेष॒मित्यनि॑ऽमेषम् । रक्ष॑माणः । तव॑ । व्र॒ते ॥ १३ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (नः) (अस्माकम् (अग्ने) राजन्नीश्वर वा (तव) (देव) दिव्यगुणकर्मस्वभाव (पायुभिः) रक्षादिभिः (मघोनः) बहुधनयुक्तान् (रक्ष) (तन्वः) शरीराणि (च) (वन्द्य) वन्दितुं स्तोतुम् योग्य (त्राता) रक्षिता (तोकस्य अपत्यस्य (तनये) पौत्रस्य । अत्र विभक्तिव्यत्ययः (गवाम्) धेन्वादीनाम् (असि) (अनिमेषम्) निरन्तरम् (रक्षमाणः) (तव) (व्रते) सुनियमे ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने! देव तव व्रते वर्त्तमानान् मघोनोऽस्मान् तव पायुभिस्त्वं रक्ष नस्तन्वश्च रक्ष । हे वन्द्य ! यतस्त्वमनिमेषं रक्षमाणस्तोकस्य तनये गवाञ्च त्रातासि तस्मादस्माभिर्नित्यं सत्कर्त्तव्य उपासनीयश्चासि ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालं ०—ये ईश्वरगुणकर्मस्वभावाज्ञानुकूलत्वे वर्त्तन्ते येषामीश्वरो विद्वांसश्च सततं रक्षकाः सन्ति ते श्रिया दीर्घायुषा प्रजाभिश्च रहिता कदाचिन्न भवन्ति ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे (देव) उत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त (अग्ने) राजन् वा ईश्वर (तव) आप के (व्रते) उत्तम नियम में वर्त्तमान (मघोनः) बहुत धनयुक्त हम लोगों को (तव) आप के (पायुभिः) रक्षादि के हेतु कर्म्मों से (त्वम्) आप (रक्ष) रक्षा कीजिये (च) और (नः) हमारे (तन्वः) शरीरों की रक्षा कीजिये । हे (वन्द्य) स्तुति के योग्य भगवन् जिस कारण आप (अनिमेषम्) निरन्तर (रक्षमाणः) रक्षा करते हुए (तोकस्य) सन्तान पुत्र (तनये) पौत्र और (गवाम्) गौ आदि के (त्राता) रक्षक (असि) हैं इसलिये हम लोगों को सर्वदा सत्कार और उपासना के योग्य हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालं०—जो मनुष्य ईश्वर के गुणकर्मस्वभावों और आज्ञा की अनुकूलता में वर्त्तमान हैं और जिन की ईश्वर और विद्वान् लोग निरन्तर रक्षा करने वाले हैं वे लक्ष्मी दीर्घावस्था और सन्तानों से रहित कभी नहीं होते ॥१३॥

उत्तानायामित्यस्य देवश्रवदेववातौ भारतावृषी । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनर्विद्वान् किंकुर्य्यादित्याह ॥

उत्तानायामवं भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान । अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ १४ ॥

उत्तानायाम् । अवं । भर । चिकित्वान् । सद्यः । प्रवीतेति प्रऽवीता । वृषणम् । जजान । अरुषस्तूपऽइत्यरुषऽस्तूपः । रुशत् । अस्य । पाजः । इडायाः । पुत्रः । वयुने । अजनिष्ट ॥ १४ ॥

पदार्थः—(उत्तानायाम्) उत्कृष्टतया विस्तीर्णायां भूमावन्तरिक्षे वा (अव) अर्वाचीने (भर) । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (चिकित्वान्) ज्ञानवान् (सद्यः) (प्रवीता) कमिता (वृषणम्) वृष्टिकरं यज्ञम् (जजान) जनयते अत्रान्तर्गतो णिच् प्रत्ययः (अरुषस्तूपः) योऽरुषानहिंसकान् उच्छ्रायति सः (रुशत्) सुरूपम् (अस्य) (पाजः) बलम् (इडायाः) प्रशंसितायाः (पुत्रः) (वयुने) विज्ञाने (अजनिष्ट) जायते ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यथा चिकित्वान् प्रवीता विद्वानुत्तानायां वृषणं जजानाऽरुपस्तूप इडायाः पुत्रो वयुनेऽजनिष्टाऽस्य रुशत्पाजश्चाऽजनिष्ट तथा सद्योऽवभर ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यदि मनुष्या अस्यां सृष्टौ ब्रह्मचर्यादिना कुमारान् कुमारींश्च द्विजान् सम्पादयेयुस्तर्ह्येते सद्यो विद्वांसः स्युः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष ! आप जैसे (चिकित्वान्) ज्ञानवान् (प्रवीता) कामना करने हारा विद्वान् जन (उत्तानायाम्) उत्कर्षता के साथ विस्तीर्ण भूमि वा अन्तरिक्ष में (वृषणम्) वर्षा के हेतु यज्ञ को (जजान) प्रगट करता और (अरुपस्तूपः) रक्षक लोगों की उन्नति करने वाला (इडायाः) प्रशंसित स्त्री का (पुत्रः) पुत्र (वयुने) विज्ञान में (अजनिष्ट) प्रसिद्ध होता और (अस्य) इस का (रुशत्) सुन्दर रूप युक्त (पाजः) बल प्रसिद्ध होता है वैसे (सद्यः) शीघ्र (अव, भर) अपनी ओर पुष्ट कर ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—यदि मनुष्य इस सृष्टि में ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से कन्या पुत्रों को द्विज करें तो ये सब शीघ्र विद्वान् हो जावें ॥ १४ ॥

इडाया इत्यस्य देवश्रवदेववातौ भारतावृषी । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

किं भूतो जनो राज्याधिकारे स्थापनीय इत्याह ॥

कैसा मनुष्य राज्य के अधिकार पर स्थापित करने योग्य है इस वि० ॥

इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि । जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोढवे ॥ १५ ॥

इडायाः । त्वा । पदे । वयम् । नाभा । पृथिव्याः । अधि । जातवेदऽइति जातऽवेदः । नि । धीमहि । अग्ने । हव्याय । वोढवे ॥ १५ ॥

पदार्थः—(इडायाः) प्रशंसिताया वाचः (त्वा) त्वाम् (पदे) प्रतिष्ठायाम् (वयम्) अध्यापकोपदेशकाः (नाभा) नाभौ मध्ये (पृथिव्याः) विस्तीर्णाया भूमेः (अधि) उपरि (जातवेदः) जातप्रज्ञान (नि) नितराम् (धीमहि) स्थापयेम (अग्ने) अग्निरिव तेजस्विन् विद्वन् राजन्! (हव्याय) होतुं दातुमर्हम् । अत्र विभक्तिव्यत्ययः (वोढवे) वोढुं प्राप्तुं प्रापयितुं वा ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे जातवेदोऽग्ने! वयमिडायाः पदे पृथिव्या अधि नाभा त्वा हव्याय वोढवे नि धीमहि ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे विद्वन् राजन्! यस्मिन्नधिकारे त्वां वयं स्थापयेम तमधिकारं धर्मपुरुषार्थाभ्यां यथावत्साध्नुहि ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) उत्पन्न बुद्धिवाले (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वन् राजन्! (वयम्) अध्यापक तथा उपदेशक हम लोग (इडायाः) प्रशंसित वाणी की (पदे) व्यवस्था तथा (पृथिव्याः) विस्तृत भूमि के (अधि) ऊपर (नाभा) मध्यभाग में (त्वा) आप को (हव्याय) देने योग्य पदार्थों को (वोढवे) प्राप्त करने वा कराने के लिये (नि, धीमहि) निरन्तर स्थापित करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे विद्वन् राजन्! जिस अधिकार में आप को हम लोग स्थापित करें उस अधिकार को धर्म और पुरुषार्थ से यथावत् सिद्ध कीजिये ॥ १५ ॥

प्रमन्महे इत्यस्य नोधा ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
मनुष्यैर्विद्याधर्मौ वर्द्धनीयावित्याह ॥
मनुष्यों को विद्या और धर्म बढ़ाने चाहियें इस वि० ॥

प्र मन्महे शवसानायं शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत् । सुवृक्तिभिः स्तुवत ऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय ॥ १६ ॥

प्र । मन्महे । शवसानायं । शूषम् । आङ्गूषम् । गिर्वणसे । अङ्गिरस्वत् । सुवृक्तिभिरिति सुवृक्तिऽभिः । स्तुवते । ऋग्मियायं । अर्चाम । अर्कम् । नरे । विश्रुतायेति विऽश्रुताय ॥ १६ ॥

पदार्थः—(प्र) (मन्महे) याचामहे । मन्महे इति याञ्चा कर्मा । निघं० ३ । १९ (शवसानाय) विज्ञानाय (शूषम्) बलम् (आङ्गूषम्) विद्याशास्त्रबोधम् । आङ्गूष इति पदना० निघं० ४ । २ (गिर्वणसे) गिरः सुशिक्षिता वाचो वनन्ति संभजन्ति वा तस्मै (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (सुवृक्तिभिः) सुष्ठु वृजते दोषान् यासु क्रियासु ताभिः (स्तुवते) यः शास्त्रार्थान् स्तौति (ऋग्मियाय) यो ऋचो मिनोत्यधीते तस्मै (अर्चाम) सत्कुर्याम (अर्कम्) अर्चनीयम् (नरे) नायकाय (विश्रुताय) विशेषेण श्रुता गुणा यस्मिंस्तस्मै॥१६॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा वयं सुवृक्तिभिः शवसानाय गिर्वणस ऋग्मियाय विश्रुताय स्तुवते नरेऽङ्गिरस्वदाङ्गूषं शूषं प्रमन्महे एतमर्कमर्चाम । तथैतं प्रति यूयमपि वर्त्तध्वम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमा वाचकलु०—मनुष्यैः सत्करणीयस्य सत्कारं निरादरणीयस्य निरादरं कृत्वा विद्याधर्मौ सततं वर्द्धनीयौ ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (सुवृक्तिभिः) निर्दोष क्रियाओं से (शवसानाय) विज्ञान के अर्थ (गिर्वणसे) सुशिक्षित वाणियों से युक्त (ऋग्मियाय) ऋचाओं को पढ़ने वाले (विश्रुताय) विशेष कर जिस में गुण सुने जावें (स्तुवते) शास्त्र के अभिप्रायों को कहने (नरे) नायक मनुष्य के लिये (आङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (आङ्गूषम्) विद्या शास्त्र के बोधरूप (शूषम्) बल को (प्र, मन्महे) चाहते हैं और इस (अर्कम्) पूजनीय पुरुष का (अर्चाम) सत्कार करें वैसे इस विद्वान् के प्रति तुम लोग भी वर्त्तो ॥१६॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमा और वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि सत्कार के योग्य का सत्कार और निरादर के योग्य का निरादर करके विद्या और धर्म को निरन्तर बढ़ाया करें ॥ १६ ॥

प्रव इत्यस्य नोधा ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ के पितरः सन्तीत्याह ॥

अब कौन पितरलोग हैं इस वि० ॥

प्र वो मुहे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्य॑ꣳ शवसानाय साम॑ । येना॑ नः पूर्वे॑ पितरः॑ पद॒ज्ञा अर्च॑न्तो॒ आङ्गिरसो॒ गा अवि॑न्दन् ॥ १७ ॥

प्र । वः । महे । महि । नमः । भरध्वम् । आङ्गूष्यम् । शवसानाय । साम । येन । नः । पूर्वे । पितरः । पदज्ञा इति पदऽज्ञाः । अर्चन्तः । अङ्गिरसः । गाः । अविन्दन् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(प्र) (वः) युष्मभ्यम् (महे) महते (महि) महत्सत्कारार्थम् (नमः) सत्कर्मान्नं वा (भरध्वम्) धरत (आङ्गूष्यम्) आङ्गूपाय सत्काराय बलाय वा हितम् (शवसानाय) ब्रह्मचर्य्यसुशिक्षाभ्यां शरीरात्मबलयुक्ताय (साम) सामवेदम् (येन)। अत्र संहितायामिति दीर्घः (नः) अस्माकमस्मान् वा (पूर्वे) पूर्वजाः (पितरः) पालका ज्ञानिनः (पदज्ञाः) ये पदं ज्ञातव्यं प्रापणीयमात्मस्वरूपं जानन्ति ते (अर्चन्तः) सत्क्रियां कुर्वन्तः (अङ्गिरसः) सर्वस्याः सृष्टेर्विद्याङ्गविदः (गाः) सुशिक्षिता वाचः (अविन्दन्) लम्भयेरन्॥१७॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा पदज्ञा नोऽस्मानर्चन्तोऽङ्गिरसः पूर्वे नः पितरो येन महे शवसानाय वश्चाऽऽङ्गूष्यं सामगाश्चाविन्दन् तेन तेभ्यो यूयं महि नमः प्रभरध्वम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या ! ये विद्वांसो युष्मान् विद्यासुशिक्षाभ्यां विपश्चितो धार्मिकान् कुर्युस्तानेव पूर्वाऽधीतविद्यान् पितॄन् विजानीत ॥१७॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (पदज्ञाः) जानने वा प्राप्त होने योग्य आत्मस्वरूप को जानने वाले (नः) हमारा (अर्चन्तः) सत्कार करते हुए (अङ्गिरसः) सब सृष्टि की विद्या के अवयवों को जानने वाले (पूर्वे) पूर्वज (पितरः) रक्षक ज्ञानी लोग

(येन) जिस से (महे) बड़े (शवसानाय) ब्रह्मचर्य और उत्तम शिक्षा से शरीर और आत्मा के बल से युक्त जन और (वः) तुम लोगों के अर्थ (आङ्गूष्यम्) सत्कार वा बल के लिये उपयोगी (साम) सामवेद और (गाः) सुशिक्षित वाणियों को (अविन्दन्) प्राप्त करावें उसी से उन के लिये तुम लोग (महि) महत्सत्कार के लिये (नमः) उत्तम कर्म वा अन्न को (प्र,भरध्वम्) धारण करो ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग तुम को विद्या और उत्तम शिक्षा से पण्डित धर्मात्मा करें उन्हीं प्रथमपठित लोगों को तुम पितर जानो ॥ १७ ॥

इच्छन्तीत्यस्य देवश्रवा देववातश्च भारतावृषी। इन्द्रो देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथाप्तलक्षणमाह ॥

अब आप्त का लक्षण कहते हैं ॥

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांꣳसि। तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥ १८ ॥

इच्छन्ति । त्वा । सोम्यासः । सखायः । सुन्वन्ति । सोमम् । दधति । प्रयांꣳसि । तितिक्षन्ते । अभिशस्तिमित्यभिऽशस्तिम् । जनानाम् । इन्द्र । त्वत् । आ । कः । चन । हि । प्रकेत इति प्रऽकेतः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(इच्छन्ति) (त्वा) त्वाम् (सोम्यासः) सोमेश्वर्यादिषु साधवः (सखायः) सुहृदः सन्तः (सुन्वन्ति)

निष्पादयन्ति (सोमम्) ऐश्वर्यादिकम् (दधति) धरन्ति (प्रयांसि) कमनीयानि विज्ञानादीनि (तितिक्षन्ते) सहन्ते (अभिशस्तिम्) दुर्वचनवादम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (इन्द्र) राजन् !(त्वत्) तव सकाशात् (आ) समन्तात् (कः) (चन) अपि (हि) यतः (प्रकेतः) प्रकृष्टा केता प्रज्ञा यस्य सः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! ये सोम्यासः सखायः सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति जनानामभिशस्तिमा तितिक्षन्ते च तांस्त्वं सततं सत्कुरु हि यतस्त्वत्प्रकेतः कश्चन नास्ति तस्मात्सर्वे त्वा त्वामिच्छन्ति ॥ १८ ॥

भावार्थः-ये मनुष्या इह निन्दास्तुतिहानिलाभादीन् तितिक्षवः पुरुषार्थिनः सर्वैः सह मैत्रीमाचरन्त आप्ताः स्युस्ते सर्वैः सेवनीयाः सत्कर्त्तव्याश्च त एव सर्वेषामध्यापका उपदेष्टारश्च स्युः ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सभाध्यक्ष राजन् ! जो (सोम्यासः) ऐश्वर्य होने में उत्तम स्वभाव वाले (सखायः) मित्र हुए (सोमम्) ऐश्वर्यादि को (सुन्वन्ति) सिद्ध करते (प्रयांसि) चाहने योग्य विज्ञानादि गुणों को (दधति) धारण करते और (जनानाम्) मनुष्यों के (अभिशस्तिम्) दुर्वचन वाद विवाद को (आ, तितिक्षन्ते ; अच्छे प्रकार सहते हैं उन का आप निरन्तर सत्कार कीजिये (हि) जिस कारण (त्वत्) आप से (प्रकेतः) उत्तम बुद्धिमान् (कः, चन) कोई भी नहीं है इस से (त्वा) आप को सब लोग (इच्छन्ति) चाहते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य इस संसार में निन्दा स्तुति और हानि लाभादि को सहने वाले पुरुषार्थी सब के साथ मित्रता का आचरण करते हुए आप्त हों वे सब को सेवने और सत्कार करने योग्य हैं तथा वे ही सब के अध्यापक और उपदेशक होवें ॥१८॥

न त इत्यस्य देवश्रवा देववातश्च भारतावृषी । इन्द्रो देवता । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः सभाध्यक्षः किं कुर्य्यादित्याह ॥

फिर सभाध्यक्ष राजा क्या करे इस वि० ॥

न ते दूरे प॑र॒मा चि॒द्रजा॑ᳬसि॒ आ तु प्र या॑हि हरिवो॒ हरि॑भ्याम् । स्थि॒राय॑ वृष्णे॒ सव॑ना कृ॒ते॒मा यु॒क्ता ग्रावा॑णः समि॒धाने॑ अ॒ग्नौ ॥ १९ ॥

न । ते । दूरे । प॒र॒मा । चि॒त् । रजा॑ᳬसि । आ । तु । प्र । या॒हि॒ । ह॒रि॒व॒ऽइति॑ हरिऽवः । हरि॑भ्या॒मिति॒ हरि॑ऽभ्याम् । स्थि॒राय॑ । वृष्णे॑ । सव॑ना । कृ॒ता । इ॒मा । यु॒क्ताः । ग्रावा॑णः । स॒मि॒धा॒न॒ऽइति॑ स॒म्ऽइ॒धाने॑ । अ॒ग्नौ ॥ १९ ॥

पदार्थः—(न) निषेधे (ते) तव सकाशात् (दूरे) विप्रकृष्टे (परमा) परमाणि दूरस्थानि (चित्) अपि (रजांसि) स्थानानि (आ) (तु) हेतौ (प्र) (याहि) गच्छ (हरिवः) प्रशस्तौ हरी विद्येते यस्य तत्सम्बुद्धौ (हरिभ्याम्) धारणाकर्षणावेगगुणैर्युक्ताभ्यां तुरङ्गाभ्यां जलाऽग्निभ्यां वा (स्थिराय) (वृष्णे) सुखसेचकाय पदार्थाय (सवना) प्रातःसवनादीनि कर्माणि (कृता) कृतानि (इमा) इमानि (युक्ताः) एकीभूताः (ग्रावाणः) गर्जनाकर्त्तारो मेघाः । ग्रावेति मेघना० निघं० १ । १० (समिधाने) समिध्यमाने । अत्र यको लुक् (अग्नौ) ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे हरिवो राजन् ! यथा समिधानेऽग्नौ इमा सवना कृता तु ग्रावाणो युक्ता भूत्वाऽऽगच्छन्ति तथा स्थिराय वृष्णे हरिभ्यामा प्रयाहि । एवं कृते परमा चिद्रजांसि ते दूरे न भवन्ति ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे विद्वांसो ! यथा पावकेनोत्पादिता वर्षिता मेघाः पृथिव्याः समीपे भवन्त्याकर्षणेन दूरमपि गच्छन्ति तथाऽग्न्यादियानैर्गमने कृते कोपि देशो दूरे न भवति । एवं पुरुषार्थं कृत्वाऽलमैश्वर्याणि जनयत ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे (हरिवः) प्रशस्त घोड़ों वाले राजन् ! जैसे (समिधाने) प्रदीप्त किये हुए (अग्नौ) अग्नि में (इमाः, सवना) ये प्रातःसवनादि यज्ञ कर्म (कृता) किये जाते हैं (तु) इसी हेतु से (ग्रावाणः) गर्जना करने वाले मेघ (युक्ताः) इकट्ठे होके आते हैं वैसे (स्थिराय) दृढ़ (वृष्णे) सुखदायी विवादि पदार्थ के लिये (हरिभ्याम्) धारण और आकर्षण के वेगरूप गुणों से युक्त घोड़ों वा जल और अग्नि से (आ, प्र, याहि) अच्छे प्रकार आइये । इस प्रकार करने से (परमा) दूरस्थ (चित्) भी (रजांसि) स्थान (ते) आप के (दूरे) दूर (न) नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे विद्वान् लोगो ! जैसे अग्नि से उत्पन्न किये हुए वर्षा के मेघ पृथिवी के समीप होते आकर्षण से दूर भी जाते हैं वैसे अग्नि के यानों से गमन करने में कोई देश दूर नहीं होता इस प्रकार पुरुषार्थ करके सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को उत्पन्न करो ॥ १९ ॥

अषाढमित्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।

निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म वि० ॥

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिंᳯ स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम् । भरेषुजाᳯ सुक्षितिᳯ सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम ॥ २० ॥

अषांढम् । युत्स्विति युत्ऽसु । पृतंनासु । पप्रिम् । स्वर्षाम् । स्वःसामिति स्वःऽसाम् । अप्साम् । वृजनस्य । गोपाम् । भरेषुजामिति भरेषुऽजाम् । सुक्षितिमिति सुऽक्षितिम् । सुश्रवसमिति सुऽश्रवसम् । जयन्तम् । त्वाम् । अनु । मदेम । सोम ॥ २० ॥

पदार्थः—(अषाढम्) सोढुमर्हम् (युत्सु) युद्धेषु (पृतनासु) मनुष्यसेनासु (पप्रिम्) पूर्णबलविद्यं पालकं वा (स्वर्षाम्) यः स्वः सुखं सनति सम्भजति तम् (अप्साम्)योऽपो जलानि प्राणान् सनोति ददाति तम् (वृजनस्य) बलस्य (गोपाम्) रक्षकम् (भरेषुजाम्) भरेषु भरणीयेषु सङ्ग्रामेषु जेतारम् (सुक्षितिम्) शोभना क्षितिः पृथिवीराज्यं यस्य तम् । क्षितिरिति पृथिवी ना० निघं० । १ । १ (सुश्रवसम्) शोभनानि श्रवांस्यन्नानि यशांसि वा यस्य तम् (जयन्तम्) शत्रूणां विजेतारम् (त्वाम्) (अनु) पश्चात् (मदेम) (सोम) सकलैश्वर्यसम्पन्न ! ॥ २० ॥

अन्वयः—हे सोम राजन् सेनापते ! वा वयं यं युत्स्वषाढं पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपां भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम ॥२०॥

भावार्थः—यस्य राज्ञः सेनापतेर्वोत्तमस्त्रमानेन राजसेनाः प्रजाजनाः प्रीताः स्युस्तेषु प्रीतेषु राजा प्रीतः स्यात्तत्र ध्रुवो विजयो निश्चलं परमैश्वर्यं पुष्कला प्रतिष्ठा च भवति ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (सोम) समस्त ऐश्वर्य से युक्त राजन् वा सेनापते ! हम लोग जिन (युत्सु) युद्धों में (अषाढम्) असह्य (पृतनासु) मनुष्य की सेनाओं

में (पप्रिम्) पूर्ण बल विद्या युक्त वा रक्षक (स्वर्षाम्) सुख का सेवन करने वा (अप्सा-म्) जलों वा प्राणों को देने वाले (वृजनस्य) बल के (गोपाम्) रक्षक (भरेषुजाम्) धारण करने योग्य संग्रामों में जीतने वाले (सुक्षितिम्) पृथिवी के सुन्दर राज्य वाले (सुश्रवसम्) सुन्दर अन्न वा कीर्त्तियों से युक्त (जयन्तम्) शत्रुओं को जीतने वाले (त्वाम्) आप को (अनु, मदेम) अनुमोदित करें ॥ २० ॥

भावार्थः—जिस राजा वा सेनापति के उत्तम स्वभाव से राजपुरुष सेना जन और प्रजा पुरुष प्रसन्न रहें और जिन की प्रसन्नता में राजा प्रसन्न हो वहां दृढ़ विजय उत्तम निश्चल ऐश्वर्य और अच्छी प्रतिष्ठा होती है ॥ २० ॥

सोम इत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।
भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

सोमो॑ धे॒नुꣳ सोमो॒ अर्व॑न्तमा॒शुꣳ सोमो॑ वी॒रं क॑र्म॒ण्यं ददाति । सा॒द॒न्यं वि॑द॒थ्यꣳ स॒भेयं॑ पितृ॒श्रव॑णं॒ यो ददा॑शदस्मै ॥ २१ ॥

सोमः॑ । धे॒नुम् । सोमः॑ । अर्व॑न्तम् । आ॒शुम् । सोमः॑ । वी॒रम् । क॒र्म॒ण्यम् । ददा॑ति । सा॒द॒न्यम् । स॒द॒न्य॒मिति॑ सद॒न्यम् । वि॒द॒थ्यम् । स॒भेय॑म् । पि॒तृ॒श्र॒वण॒मिति॑ पितृ॒ऽश्रव॑णम् । यः । ददा॑शत् । अ॒स्मै ॥ २१ ॥

पदार्थः—(सोमः) ऐश्वर्यवान् (धेनुम्) विद्याधारां वा-चम् (सोमः) सत्याचारे प्रेरकः (अर्वन्तम्) वेगेन गच्छ-

न्तमश्वम् (आशुम्) मार्गान् सद्योऽश्नुवन्तम् (सोमः) शरीरात्मबलम् (वीरम्) शत्रुबलानि व्याप्नुवन्तम् (कर्मण्यम्) कर्मणा सम्पन्नम् (ददाति) (सादन्यम्) सादनेषु स्थापनेषु साधुं (विदथ्यम्) विदथे यज्ञे साधुम् (सभेयम्) सभायां साधुम् (पितृश्रवणम्) पितुः सकाशाच्छ्रवणं यस्य तम् (यः) (ददाशत्) ददाति (अस्मै) सोमाय राज्ञेऽध्यापकायोपदेशकाय वा ॥ २१ ॥

अन्वयः—यो मनुष्योऽस्मै सोमायोचितं ददाशत्तस्मै सोमो धेनुं ददाति सोमोऽर्वन्तमाशु ददाति सोमः कर्मण्यं सादन्यं विदथ्यं पितृश्रवणं सभेयं वीरं च ददाति ॥ २१ ॥

भावार्थः—येऽध्यापकोपदेशका राजपुरुषा वा सुशिक्षितां वाचमग्न्यादितत्त्वविद्यां पुरुषज्ञानं सभ्यतां च सर्वेभ्यः प्रदद्युस्ते सर्वैः सत्कर्त्तव्याः स्युः ॥ २१ ॥

पदार्थः—जो प्रजास्थ मनुष्य (अस्मै) इस धर्मिष्ठ राजा वा अध्यापक वा उपदेशक के लिये उचित पदार्थ (ददाशत्) देता है उस के लिये (सोमः) ऐश्वर्य्ययुक्त उत्तम पुरुष (धेनुम्) विद्या की आधाररूप वाणी को (ददाति) देता (सोमः) सत्याचरण में प्रेरणा करने हारा राजादि जन (अर्वन्तम्) वेग से चलने वाले तथा (आशुम्) मार्ग को शीघ्र व्याप्त होने वाले घोड़े को देता और (सोमः) शरीर तथा आत्मा के बल से युक्त राजादि (कर्मण्यम्) कर्मों से युक्त पुरुषार्थी (सादन्यम्) बैठाने आदि में प्रवीण (विदथ्यम्) यज्ञ करने में कुशल (पितृश्रवणम्) आचार्य पिता से विद्या पढ़ने वाले (सभेयम्) सभा में बैठने योग्य (वीरम्) शत्रुओं के बलों को व्याप्त होने वाले शूरवीर पुरुष को देता है ॥ २१ ॥

भावार्थः—जो अध्यापक उपदेशक वा राजपुरुष सुशिक्षित वाणी, अग्नि आदि की तत्त्वविद्या पुरुष का ज्ञान और सभ्यता सब के लिये देवें वे सब को सत्कार करने योग्य हों ॥ २१ ॥

त्वमित्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः । त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ २२ ॥

त्वम् । इमाः । ओषधीः । सोम । विश्वाः । त्वम् । अपः । अजनयः । त्वम् । गाः । त्वम् । आ । ततन्थ । उरु । अन्तरिक्षम् । त्वम् । ज्योतिषा । वि । तमः । ववर्थ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (इमाः) (ओषधीः) सोमाद्याः (सोम) सोमवल्लीवत्सर्वरोगविनाशक! (विश्वाः) सर्वाः (त्वम्) (अपः) जलानि कर्म वा (अजनयः) जनयेः (त्वम्) (गाः) पृथिवीर्धेनूः वा (त्वम्) (आ) (ततन्थ) तनोषि (उरु) बहु (अन्तरिक्षम्) जलमाकाशं वा (त्वम्) (ज्योतिषा) प्रकाशेन (वि) (तमः) अन्धकारं रात्रिम् (ववर्थ) वृणोषि ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे सोम राजन्! यस्त्वं विश्वा इमा ओषधीस्त्वं सूर्यइवाऽपस्त्वं गाश्चाऽजनयस्त्वं सूर्य्य उर्वन्तरिक्षमा ततन्थ सविता ज्योतिषा तम इव न्यायेनाऽन्यायं विववर्थ स त्वमस्माभिर्माननीयोऽसि ॥ २२ ॥

भावार्थः— ये जना ओषध्यो रोगानिव दुःखानि हरन्ति प्राणाइव बलं जनयन्ति ये राजजनाः सूर्य्यो रात्रिमिवाऽधर्माऽविद्याऽन्धकारं निवर्त्तयन्ति ते जगत्पूज्याः कुतो न स्युः ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (सोम) उत्तम सोमवल्ली ओषधियों के तुल्य रोगनाशक राजन्! (त्वम्) आप (इमाः) इन (विश्वाः) सब (ओषधीः) सोम आदि ओषधियों को (त्वम्) आप सूर्य्य के तुल्य (अपः) जलों वा कर्म को और (त्वम्) आप (गाः) पृथिवी वा गौओं को (अजनयः) उत्पन्न वा प्रकट कीजिये (त्वम्) आप सूर्य्य के समान (उरु) बहुत अवकाश को (आ, ततन्थ) विस्तृत करते तथा (त्वम्) आप सूर्य्य जैसे (ज्योतिषा) प्रकाश से (तमः) अन्धकार को दबाता वैसे न्याय से अन्याय को (वि, ववर्थ) आच्छादित वा निवृत्त कीजिये, सो आप हम को माननीय हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य जैसे ओषधि रोगों को वैसे दुःखों को हर लेते हैं प्राणों के तुल्य बलों को प्रकट करते तथा जो राजपुरुष सूर्य्य रात्रि को जैसे वैसे अधर्म और अविद्या के अन्धकार को निवृत्त करते हैं वे जगत् को पूज्य क्यों नहीं हो ? ॥ २२ ॥

देवेनेत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।

निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि०

देवेन॑ नो॒ मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गꣳ स॑ह॒सावन्न॒भि यु॑ध्य । मा त्वा त॑न॒दीशि॑षे वी॒र्य॑स्यो॒भये॑भ्यः॒ प्र चि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ ॥ २३ ॥

दे॒वेन॑ । नः॒ । मन॑सा । दे॒व॒ । सो॒म॒ । रा॒यः । भा॒गम् । स॒ह॒सा॒व॒न्निति॑ सहसाऽवन् । अ॒भि । यु॒ध्य॒ । मा । त्वा॒ ।

आ । तनत् । ईशिषे । वीर्यस्य । उभयेभ्यः । प्र । चिकित्स । गविष्टाविति गोऽइष्टौ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(देवेन) दिव्यगुणकर्मस्वभावयुक्तेन (नः) अस्मभ्यम् (मनसा) (देव) दिव्यगुणसम्पन्न (सोम) अखिलैश्वर्यप्रापक ! (रायः) धनस्य (भागम्) सेवनीयमंशम् (सहसावन्) सहोऽधिकं बलं विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ । अत्र प्रथमार्थे तृतीयाया अलुक् (अभि) (आभिमुख्ये) (युध्य) योधय गमय । अत्र अन्तर्भावितण्यर्थः युध्यतिर्गतिकर्मा निघं० २। १४ (मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (आ) (तनत्) सङ्कुचेत् । अत्रोपसर्गाद्दैर्घ्यइत्याद्यृषीयपाठात्तनुधातोः भ्वगणे लेट् प्रयोगः समर्थो भवति (वीर्यस्य) वीरकर्मणः । अत्राधीगर्थदयेशां कर्मणि । २। ३ । ५२ इति कर्मणि षष्ठी (उभयेभ्यः) ऐहिकपारमार्थिकसुखेभ्यः (प्र) (चिकित्स) रोगनिवारणायेव विघ्ननिवारणोपायं कुरु । अत्र संहितायामिति दीर्घः (गविष्टौ) गोः स्वर्गस्य सुखविशेषस्येष्टाविच्छायां सत्याम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे सहसावन्त्सोम देव राजन् यस्त्वं देवेन मनसा रायो भागं नोऽभियुध्य यतस्त्वं वीर्यस्येशिषे त्वा कश्चिन्मा आ तनत् स त्वं गविष्टावुभयेभ्यः प्रचिकित्स ॥ २३ ॥

भावार्थः—राजादिविद्वद्भिः कपटादिदोषान् विहाय शुद्धेन भावेन सर्वेभ्यः सुखमभिलष्य वीर्यं वर्द्धनीयं येन दुःखनिवृत्तिःसुखवृद्धिरिहामुत्र च स्यात्तत्र सततं प्रवर्त्तितव्यम् ॥ २३ ॥

पदार्थः--हे (सहस्वन्) अधिकतर सेनादि बल वाले (सोम) संपूर्ण ऐश्वर्य के प्रापक (देव) दिव्य गुणों से युक्त राजन् ! जो आप (देवेन) उत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त (मनसा) मन से (रायः) धन के (भागम्) अंश को (नः) हमारे लिये (अभि, युध्य) सब ओर से प्राप्त कीजिये जिस से आप (वीर्य्यस्य) वीर कर्म करने को (ईशिषे) समर्थ होते हो इस से (त्वा) आप को कोई (मा) न (आ, तनत्) दबावे सो आप (गविष्टौ) सुख विशेष की इच्छा के होते (उभयेभ्यः) दोनों इस लोक परलोक के सुखों के लिये (प्र, चिकित्स) रोग निवारण के तुल्य विघ्न निवृत्ति के उपाय को किया कीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थः--राजादि विद्वानों को चाहिये कि कपटादि दोषों को छोड़ शुद्ध भाव से सब के लिये सुख की चाहना करके पराक्रम बढ़ावें और जिस कर्म से दुःख की निवृत्ति तथा सुख की वृद्धि इस लोक परलोक में हो उस के करने में निरन्तर प्रयत्न करें ॥ २३ ॥

अष्टावित्यस्याऽऽङ्गिरसो हिरण्यस्तूपऋषिः । सविता देवता । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ सूर्यः किं करोतीत्याह ॥

अब सूर्य क्या करता है इस वि० ॥

अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत्क॒कुभः॑ पृथि॒व्यास्त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न् । हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒व आगा॒द्दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्य्या॑णि ॥ २४ ॥

अ॒ष्टौ । वि । अ॒ख्य॒त् । क॒कुभः॑ । पृ॒थि॒व्याः । त्री । धन्व॑ । योज॑ना । स॒प्त । सिन्धू॑न् । हि॒र॒ण्या॒क्ष इति॑ हिरण्यऽअक्षः । स॒वि॒ता । दे॒वः । आ । अ॒गा॒त् । दध॑त् । रत्ना॑ । दा॒शुषे॑ । वार्य्या॑णि ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अष्टौ) (वि) (अख्यत्) विख्यापयति (ककुभः) सर्वा दिशः ककुभ इति दिङ्नाम० निघं० १।६ (पृथिव्याः) भूमेः सम्बन्धिनीः (त्री) त्रीणि (धन्व) धन्वेत्यन्तरिक्षनाम० निघं० १।३ (योजना) योजनानि (सप्त) (सिन्धून्) भौमसमुद्रमारभ्य मेघादूर्ध्वाऽवयवपर्यन्तान् सागरान् (हिरण्याक्षः) हिरण्यानि ज्योतींषि अक्षीणीव यस्य सः (सविता) सूर्यः (देवः) द्योतकः (आ) (अगात्) आगच्छति (दधत्) दधानः सन् (रत्ना) रमणीयानि पृथिवीस्थानि (दाशुषे) दानशीलाय जीवाय (वार्याणि) वर्तुं स्वीकर्तुं योग्यानि ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यथा हिरण्याक्षो देवः सविता दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत् त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् पृथिव्या अष्टौ ककुभो व्यख्यदागाच्च तथैव यूयं भवत ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यथा सूर्येण पृथिवीमारभ्य द्वादशक्रोशपर्यन्तगुरुत्वलघुत्वयुतानां सप्तविधानामपामवयवाः सर्वा दिशश्च विभज्यन्ते वर्षादिना सर्वेभ्यः सुखं दीयते तथा शुभगुणकर्मस्वभावैर्दिगन्तां कीर्तिं सम्पाद्य विविधमैश्वर्यदानेन मनुष्यादीन् प्राणिनः संततं सुखयत ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (हिरण्याक्षः) नेत्र के समानरूप दर्शाने वाली ज्योतियों वाला (देवः) प्रेरक (सविता) सूर्य (दाशुषे) दानशील प्राणियों के लिये (वार्याणि) स्वीकार करने योग्य (रत्ना) पृथिवी के उत्तम पदार्थों को (दधत्) धारण करता हुआ (त्री) तीन (धन्व) अवकाशरूप (योजना) अर्थात् बारह कोश और (सप्त) सात (सिन्धून्) पृथिवी के समुद्र से लेके

मेघ के ऊपरले अवयवों पर्यन्त समुद्रों को तथा (पृथिव्याः) पृथिवी सम्बन्धिनी (अष्टौ) आठ (ककुभः) दिशाओं को (वि, अख्यत्) प्रसिद्ध प्रकाशित करता है वैसे ही तुम लोग होओ ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य्य से पृथिवी तक १२ कोश पर्यन्त हल के आरीपन से युक्त सात प्रकार के जल के अवयव और दिशा विभक्त होतीं तथा वर्षादि से सब को सुख दिया जाता वैसे शुभ गुण कर्म और स्वभावों से दिशाओं में कीर्त्ति फैला के अनेक प्रकार के ऐश्वर्य को देने से मनुष्यादि प्राणियों को निरन्तर सुखी करो ॥ २४ ॥

हिरण्यपाणिरित्यस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । सविता देवता ।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते । अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ २५ ॥

हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽपाणिः । सविता । विचर्षणिरिति विऽचर्षणिः । उभेऽइत्युभे । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । अन्तरिति । ईयते । अप । अमीवाम् । बाधते । वेति । सूर्यम् । अभि । कृष्णेन । रजसा । द्याम् । ऋणोति ॥ २५ ॥

पदार्थः—(हिरण्यपाणिः) हिरण्यं ज्योतिः पाणिरिव यस्य सः (सविता) ऐश्वर्यप्रदः (विचर्षणिः) विशेषेण दर्शकः (उभे) (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी (अन्तः) मध्ये (ईयते)

प्राप्य गच्छति (अप) दूरीकरणे (अमीवाम्) व्याधिरूपमन्धकारम् (बाधते) दूरीकरोति (वेति) अस्तमेति (सूर्य्यम्) सवितृलोकः अत्र विभक्तिव्यत्ययः (अभि) सर्वतः (कृष्णेन) कृष्णवर्णेन (रजसा) अन्धकारलक्षणेन (द्याम्) (ऋणोति) गच्छति प्राप्नोति । ऋणोतीति गतिकर्मा० निघं०२ । १४ ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो हिरण्यपाणिर्विचर्षणिः सविता सूर्य्यं यदोभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते तदाऽमीवामपबाधते यदा च वेति तदा कृष्णेन रजसा द्यामभि ऋणोति तं यूयं विजानीत ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यथा सूर्य्यः सन्निहिताँल्लोकानाकृष्य धरति तथैवाऽनेकलोकाऽलंकृतं सूर्य्यादिकं सर्वं जगदभिव्याप्याऽऽकृष्येश्वरो दधातीति यूयं विजानीत नहीश्वरमन्तरेण सर्वस्य विधाता धर्त्ता अन्यः कश्चित्सम्भवितुमर्हति ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (हिरण्यपाणिः) हाथों के तुल्य जलादि के ग्राहक प्रकाशरूप किरणों से युक्त (विचर्षणिः) विशेष कर सब को दिखाने वाला (सविता) सब पदार्थों की उत्पत्ति का हेतु (सूर्य्यम्) सूर्य्य लोक जब (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) आकाश भूमि के (अन्तः) बीच (ईयते) उदय हो कर घूमता है तब (अमीवाम्) व्याधिरूप अन्धकार को (अप, बाधते) दूर करता और जब (वेति) अस्त समय को प्राप्त होता तब (कृष्णेन) (रजसा) काले अन्धकाररूप से (द्याम्) आकाश को (अभि, ऋणोति) सब ओर से व्याप्त होता है उस सूर्य्य को तुम लोग जानो ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य्य अपने समीपवर्त्ती लोकों का आकर्षण कर धारण करता है वैसे ही अनेक लोकों से शोभायमान सूर्य्यादि सब जगत् को सब ओर से व्याप्त

हो और आकर्षण करके ईश्वर धारण करता है ऐसा जानो क्योंकि ईश्वर के विना सब का स्रष्टा तथा धर्त्ता अन्य कोई भी नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

हिरण्यहस्त इत्यस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । सविता देवता । विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेवविषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् । अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥२६ ॥

हिरण्यहस्तऽइति हिरण्यऽहस्तः । असुरः । सुनीथऽइति सुऽनीथः । सुमृडीकऽइति सुऽमृडीकः । स्ववानिति स्वऽवान् । यातु । अर्वाङ् । अपसेधन्नित्यपऽसेधन् । रक्षसः । यातुधानानिति यातुऽधानान् । अस्थात् । देवः । प्रतिदोषमिति प्रतिऽदोषम् । गृणानः ॥ २६ ॥

पदार्थः—(हिरण्यहस्तः) हिरण्यानि ज्योतींषि हस्तवद्यस्य सः (असुरः) प्रक्षेप्ता (सुनीथः) यः सुष्ठु नयति सः (सुमृडीकः) सुष्ठु सुखकरः (स्ववान्) स्वे स्वकीयाः प्रकाशादयो गुणा विद्यान्ते यस्मिन् सः । अत्र दीर्घादटि समानपादे । अ० ८ । ३ । ९ इति रुत्वे भोभगो० इत्यनेन यादेशे च हलिसर्वेषामिति लोपः (यातु) प्राप्नोतु (अर्वाङ्) योऽर्वाचीनान् अञ्चति प्राप्नोति सः

(अपसेधन्) दूरीकुर्वन् (रक्षसः) दस्युचोरादीन् (यातुधानान्) अन्यायेन परपदार्थधारकान् (अस्थात्) उत्तिष्ठति उदेति (देवः) प्रकाशकः (प्रतिदोषम्) प्रतिजनं यो दोषस्तम् । अत्रोत्तरपदलोपः (गृणानः) उच्चारयन् प्रकटयन् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यो हिरण्यहस्तः सुनीथोऽसुरः सुमृडीकः स्ववान् देवो रक्षसो यातुधानानपसेधन् प्रतिदोषं गृणानोऽस्थात्सोऽर्वाङस्मत्सुखाय यातु तद्वद्यूयं भवत ॥ २६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! सदैवौदार्येण याचमानेभ्यो हिरण्यादिकं दत्वा दुष्टाचारान् तिरस्कृत्य धार्मिकेभ्यः सुखं प्रदायाऽहर्निशं सूर्यवत्प्रशंसिता भवत ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (हिरण्यहस्तः) हाथों के तुल्य प्रकाशों वाला (सुनीथः) सुन्दर प्रकार प्राप्ति कराने (असुरः) जलादि को फेंकने वाला (सुमृडीकः) सुन्दर सुखकारी (स्ववान्) अपने प्रकाशादिक गुणों से युक्त (देवः) प्रकाशक सूर्यलोक (यातुधानान्) अन्याय से दूसरों के पदार्थों के धारण करने वाले (रक्षसः) डाकू चोर आदि को (अपसेधन्) निवृत्त करता अर्थात् डाकू चोर आदि सूर्योदय होने पर अपना काम नहीं बना सकते किन्तु प्रायः रात्रि को ही अपना काम बनाते हैं और (प्रतिदोषम्) मनुष्यों के प्रति जो दोष उस को (गृणानः) प्रकट करता हुआ (अस्थात्) उदित होता है वह (अर्वाङ्) अपने समीपवर्ती पदार्थों को प्राप्त होने वाला हमारे सुख के अर्थ (यातु) प्राप्त होवे वैसे तुम होओ ॥ २६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! मांगने वालों के लिये उदारता से सुवर्णादि दे तथा दुष्टाचारियों का तिरस्कार कर और धार्मिक जनों को सुख देके प्रतिदिन सूर्य के तुल्य प्रशंसित होओ ॥ २६ ॥

ये त इत्यस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । सविता देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथाध्यापकोपदेशकविषयमाह ॥
अब अध्यापक और उपदेशक वि० ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे । तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ २७ ॥

ये । ते । पन्थाः । सवितरिति सवितः । पूर्व्यासः । अरेणवः । सुकृताऽइति सुऽकृताः । अन्तरिक्षे । तेभिः । नः । अद्य । पथिभिरिति पथिऽभिः । सुगेभिरिति सुऽगेभिः । रक्ष । च । नः । अधि । च । ब्रूहि । देव ॥ २७ ॥

पदार्थः—(ये) (ते) तव (पन्थाः) मार्गाः । अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम् (सवितः) सवितृवदैश्वर्यप्रद(पूर्व्यासः) पूर्वैराप्तैः सेविताः (अरेणवः) अविद्यमाना रेणवो येषु ते (सुकृताः) सुष्ठुनिष्पादिताः (अन्तरिक्षे) आकाशे (तेभिः) तैः (नः) अस्मान् (अद्य) इदानीम् (पथिभिः) मार्गैः (सुगेभिः) सुखेन गमनाऽधिकरणैः (रक्षः) अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (च) (नः) अस्मान् (अधि) उपरिभावे (च) (ब्रूहि) उपदिश (देव) सुखविद्ययोर्दातः॥२७॥

अन्वयः—हे सवितर्देवाऽऽप्तविद्वन् ! यस्य ते सूर्यस्यान्तरिक्ष इव ये पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताः पन्थाः सन्ति तेभिस्सुगेभिः पथिभिरद्य नो नय तत्र गच्छतो नो रक्ष च नोऽस्मांश्चाधि ब्रूहि । एवं सर्वान् प्रति बोधय ॥ २७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे विद्वांसो! युष्माभिर्यथा सूर्यस्याऽन्तरिक्षे निर्मलाः मार्गाः सन्ति तथैवोपदेशाध्यापनाभ्यां विद्याधर्मसुशीलप्रदाः पन्थानः प्रचारणीयाः २७ ॥

पदार्थः—हे (सवितः) सूर्य के तुल्य ऐश्वर्य देने वाले (देव) विद्या और सुख के दाता आप्त विद्वान् पुरुष ! जिस (ते) आप के जैसे सूर्य के (अन्तरिक्षे) आकाश में गमन के शुद्ध मार्ग हैं वैसे (ये) जो (पूर्व्यासः) पूर्वज आप्तजनों ने सेवन किये (अरेणवः) धूलि आदि रहित (सुकृताः) सुन्दर सिद्ध किये (पन्थाः) मार्ग हैं (तेभिः) उन (सुगेभिः) सुखपूर्वक जिन में चलें ऐसे (पथिभिः) मार्गों से (अद्य) आज (नः) हम लोगों को चलाइये उन मार्गों से चलते हुए हमारी (रक्ष) रक्षा (च) भी कीजिये (च) तथा (नः) हम को (अधि ब्रूहि) अधिकतर उपदेश कीजिये इसी प्रकार सब को चेतन कीजिये । २७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे विद्वानो ! तुम को चाहिये कि जैसे सूर्य के आकाश में निर्मल मार्ग हैं वैसे ही उपदेश और अध्यापन से विद्या धर्म और सुशीलता के दाता मार्गों का प्रचार करें ॥ २७ ॥

उभेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम् ।
अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ २८ ॥

उभा । पिबतम् । अश्विना । उभा । नः । शर्म । यच्छतम् । अविद्रियाभिः । ऊतिभिरित्यूतिऽभिः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(उभा) द्वौ (पिबतम्)(अश्विना)सूर्याचन्द्र मसाविवाऽध्यापकोपदेशकौ ! (उभा) द्वौ (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) श्रेष्ठं शरणं सुखं वा (यच्छतम्)दद्यातम् (अविद्रियाभिः) अच्छिद्राभिः (ऊतिभिः) रक्षणादिभिः ॥ २८ ॥

अन्वयः— हे अश्विना उभा युवां यत्रोत्तमं रसं पिबतं तच्छर्मोभा युवामविद्रियाभिरूतिभीरक्षितं गृहं नो यच्छतम् ॥ २८ ॥

भावार्थः—अध्यापकोपदेशकैः सदोत्तमगृहरचननिवासोपदेशान् कृत्वा यत्र पूर्णा रक्षा स्यात्तत्र सर्वे प्रेरणीयाः ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे (अश्विना) सूर्यचन्द्रमा के तुल्य अध्यापक उपदेशको! (उभा) दोनों तुम लोग जिस जगह पर उत्तम रस को (पिबतम्) पियो उस (शर्म) उत्तम आश्रय स्थान वा सुख को (उभा) दोनों तुम(अविद्रियाभिः) छिद्ररहित (ऊतिभिः)रक्षणादि क्रियाओं से रक्षित घरको(नः) हमारे लिये(यच्छतम्)देओ ॥२८॥

भावार्थः—अध्यापक और उपदेशक लोगों को चाहिये कि सदा उत्तम घर बनाने के और निवास के उपदेशों को कर जहां पूर्ण रक्षा हो उस विषय में सब को प्रेरणा करें ॥ २८ ॥

अप्नस्वतीमित्यस्य कुत्स ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम् ।अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ २९ ॥

अप्नंस्वतीम् । अश्विना । वाचम् । अस्मेऽइत्यस्मे । कृतम् । नः । दस्रा । वृषणा । मनीषाम् । अद्यूत्ये । अवसे । नि । ह्वये । वाम् । वृधे । च । नः । भवतम् । वाजसाताविति वाजऽसातौ ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अप्नस्वतीम्) प्रशस्तान्यप्नांसि कर्माणि विद्यन्ते यस्यास्ताम् (अश्विना) सकलविद्याव्यापिनावध्यापकोपदेशकौ ! (वाचम्) वाणीम् (अस्मे) अस्माकम् (कृतम्) कुरुतम् (नः) अस्माकम् (दस्रा) दुःखोपक्षयितारौ (वृषणा) सुखस्य वर्षयितारौ (मनीषाम्) उत्तमां प्रज्ञाम् (अद्यूत्ये) अविद्यमानानि द्यूतानि यस्मिंस्तस्मिन्भवे (अवसे) रक्षणाय (नि ह्वये) नितरां स्तौमि (वाम्) युवाम् (वृधे) वर्द्धनाय (च) (नः) अस्माकम् (भवतम्) (वाजसातौ) वाजस्य धनस्य विभाजके सङ्ग्रामे ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे दस्रा वृषणाऽश्विना ! युवामस्मे वाचं मनीषा चाप्नस्वतीं कृतं नोऽद्यूत्येऽवसे स्थापयतम् । वाजसातौ नो वृधे च भवतं यौ वामहं निह्वये तौ मामुन्नयतम् ॥ २९ ॥

भावार्थः— ये मनुष्या निष्कपटानाप्तान्दयालून् विदुषः सततं सेवन्ते ते प्रगल्भा धार्मिका विद्वांसो भूत्वा सर्वतो वर्द्धमाना विजयिनः सन्तः सर्वेभ्यः सुखदा भवन्ति ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे (दस्रा) दुःख के नाशक (वृषणा) सुख के वर्षाने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्याप्त अध्यापक और उपदेशक लोगो ! तुम दोनों (अस्मे) हमारी (वाचम्) वाणी (च) और (मनीषाम्) बुद्धि को (अप्नस्वतीम्) प्रशस्त कर्मों वाली (कृतम्) करो (नः) हमारे (अद्यूत्ये) द्यूत रहित स्थान में

हुए कर्म में (अवसे) रक्षा के लिये स्थिन करो (वाजसातौ) धन का विभाग करने हारे सङ्ग्राम में (नः) हमारी (वृधे) वृद्धि के लिये (भवतम्) उद्यत होओ जिन (वाम्) तुम्हारी (नि, ह्वये) निरन्तर स्तुति करता हूं वे दोनों आप मेरी उन्नति करो ॥ २९ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य निष्कपट आप्त दयालु विद्वानों का निरन्तर सेवन करते हैं वे प्रगल्भ धार्मिक विद्वान् होके सब ओर से बढ़ते और विजयी होते हुए सब के लिये सुखदायी होते हैं ॥ २९ ॥ ॥

द्युभिरित्यस्य कुत्स ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ सभासेनाधिपौ किं कुर्यातामित्याह ॥
अब सभासेनाधीश क्या करें इस वि० ॥

द्युभि॑र॒क्तुभि॒: परि॑ पातम॒स्मानरि॑ष्टेभिरश्वि॒ना सौभ॑गेभिः । तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धु॑: पृथि॒वी उ॒त द्यौः ॥ ३० ॥

द्युभि॒रिति॒ द्युऽभि॑ः । अ॒क्तुभि॒रित्य॒क्तुऽभि॑ः । परि॑ । पा॒त॒म् । अ॒स्मान् । अरि॑ष्टेभिः । अ॒श्वि॒ना । सौभ॑गेभिः । तत् । नः॒ । मि॒त्रः । वरु॑णः । म॒म॒ह॒न्ता॒म् । अदि॑तिः । सिन्धु॑ः । पृ॒थि॒वी । उ॒त । द्यौः ॥ ३० ॥

पदार्थः-(द्युभिः) दिवसैः (अक्तुभिः) रात्रिभिः (परि) सर्वतः (पातम्) रक्षतम् (अस्मान्) (अरिष्टेभिः) अहिंसितैः (अश्विना) सभासेनेशौ ! (सौभगेभिः) श्रेष्ठानां धनानां भावैः (तत्) तान् (नः) अस्मान् (मित्रः) सखा (वरुणः) दुष्टानां बन्धकः (मामहन्ताम्) सत्कुर्वन्तु (अदितिः) पृथिवी

(सिन्धुः) सप्तविधः समुद्रः (पृथिवी) अन्तरिक्षम् (उत) अपि (द्यौः) प्रकाशः ॥ ३० ॥

अन्वयः— हे अश्विना ! यथाऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौस्तन्नो मामहन्तां तथा मित्रो वरुणश्च युवां द्युभिरक्तुभिररिष्टेभिः सौभगेभिरस्मान् परिपातम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे सभाधीशादिविद्वांसो यथा पृथिव्यादीनि तत्वानि सर्वान् प्राणिनो रक्षन्ति तथैव वर्द्धमानैरैश्वर्यैरहर्निशं सर्वान् मनुष्यान् वर्द्धयन्तु ॥ ३० ॥

पदार्थः— हे (अश्विना) सभासेनाधीशो ! जैसे (अदितिः) पृथिवी (सिन्धुः) सात प्रकार का समुद्र (पृथिवी) आकाश (उत) और (द्यौः) प्रकाश (तत्) वे (नः) हमारा (मामहन्ताम्) सत्कार करें वैसे (मित्रः) मित्र तथा (वरुणः) दुष्टों को बांधने वा रोकने वाले तुम दोनों (द्युभिः) दिन (अक्तुभिः) रात्रि (अरिष्टेभिः) अहिंसित (सौभगेभिः) श्रेष्ठ धनों के होने से (अस्मान्) हमारी (परि, पातम्) सब ओर से रक्षा करो ॥ ३० ॥

भावार्थः–इस मन्त्र में वाचकलु०—सभाधीश आदि विद्वान् लोग जैसे पृथिवी आदितत्व सब प्राणियों की रक्षा करते हैं वैसे ही बढ़े हुए ऐश्वर्यों से दिन रात सब मनुष्यों को बढ़ावें ॥ ३० ॥

आकृष्णेनेत्यस्य हिरण्यस्तूप ऋषिः । सूर्यो देवता ।

विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ विद्युता किं साध्यमित्याह ॥

अब विद्युत् से क्या सिद्ध करना चाहिये इस वि० ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ३१ ॥

आ । कृष्णेन । रजसा । वर्त्तमानः । निवेशयन्निति निऽवेशयन् । अमृतम् । मर्त्यम् । च । हिरण्ययेन । सविता । रथेन । आ । देवः । याति । भुवनानि । पश्यन् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (कृष्णेन) कर्षितेन (रजसा) लोकसमूहेन सह (वर्त्तमानः) (निवेशयन्) नित्यं प्रवेशयन् (अमृतम्) नाशरहितं कारणम् (मर्त्यम्) नाशसहितं कार्य्यम् (च) (हिरण्ययेन) तेजोमयेन (सविता) ऐश्वर्यप्रदः (रथेन) रमणीयेन स्वरूपेण (आ) (देवः) देदीप्यमानः (याति) प्राप्नोति (भुवनानि) भवनाधिकरणानि वस्तूनि (पश्यन्) संप्रेक्षमाणः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं य आकृष्णेन रजसा सह वर्त्तमानः सततममृतं मर्त्यञ्च निवेशयन् हिरण्ययेन रथेन सविता देवो विद्युद्भुवनानि याति तं पश्यन् सन् सम्प्रयुङ्ग्धि ॥ ३१ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! या विद्युत्कार्य्यं कारणं सम्प्रकाश्य सर्वत्राऽभिव्याप्ता तेजोमयी सद्योगामिनी सर्वाकर्षिका वर्त्तते तां प्रेक्षमाणाः सन्तः संप्रयुज्याऽभीष्टानि सद्यो यात ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् आप जो (आ, कृष्णेन) आकर्षित हुए (रजसा) लोक समूह के साथ (वर्त्तमानः) वर्त्तमान निरन्तर (अमृतम्) नाशरहित कारण (च) और (मर्त्यम्) नाश सहित कार्य्य को (निवेशयन्) अपनी २ कक्षा में स्थित करता हुआ (हिरण्ययेन) तेजःस्वरूप (रथेन) रमणीयस्वरूप के सहित (सविता) ऐश्वर्य्य का दाता (देवः) देदीप्यमान विद्युत्‌रूप अग्नि (भुवनानि) संसारस्थ वस्तुओं को (याति) प्राप्त होता है उस को (पश्यन्) देखते हुए सम्यक् प्रयुक्त कीजिये ॥ ३१ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो बिजली कार्य और कारणको सम्यक् प्रकाशित कर सर्वत्र अभिव्याप्त तेजस्वरूप शीघ्रगामिनी सब का आकर्षण करने वाली है उसको देखते हुए सम्प्रयोग में अभीष्ट स्थानों को शीघ्र जाया करो ॥ ३१ ॥

आ रात्रीत्यस्य कुत्स ऋषिः । रात्रिर्देवता ।
पथ्या बृहती छन्दः । मध्यम स्वरः ॥
अथ रात्रिवर्णनमाह ॥

अब रात्रि का वर्णन अ० ॥

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः । दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः ॥ ३२ ॥

आ । रात्रि । पार्थिवम् । रजः । पितुः । अप्रायि । धामभिरिति धामऽभिः । दिवः । सदाꣳसि । बृहती । वि । तिष्ठसे । आ । त्वेषम् । वर्त्तते । तमः ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (आ) समन्तात् (रात्रि) रात्रिः । अत्र लिङ्गव्यत्ययः (पार्थिवम्) पृथिव्याः सम्बन्धि (रजः) लोकः (पितुः) मध्यलोकस्य (अप्रायि) पूर्य्यन्ते (धामभिः) सर्वैः स्थानैः (दिवः) प्रकाशस्य (सदांसि) सीदन्ति येषु तान्याधिकरणानि (बृहती) महती (वि) (तिष्ठसे) तिष्ठते, आक्रमते व्याप्नोति (आ) (त्वेषम्) स्वकान्त्या प्रकृष्टम् (वर्त्तते) (तमः) अन्धकारः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या या बृहती रात्रिर्दिवः सदांसि वितिष्ठसे यया पितुर्धामभिः पार्थिवं रज आ अप्रायि यस्याश्च त्वेषं तम आ वर्त्तते तां युक्त्या सेवध्वम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! या पृथिव्यादेश्छाया रात्रौ प्रकाशं निरोधयति सर्वमावृणोति तां यथावत्सेवध्वम् ॥ ३२ ॥

पदार्थः- हे मनुष्यो! जो (बृहती) बड़ी (रात्रि) रात (दिवः) प्रकाश के (सदांसि) स्थानों को (वि, तिष्ठसे) व्याप्त होती है, जिस रात्रि ने (पितुः) अपने तथा सूर्य के मध्यस्थ लोक के (धामभिः) सब स्थानों के साथ (पार्थिवम्) पृथिवी सम्बन्धी (रजः) लोक को (आ, अप्रायि) अच्छे प्रकार पूर्ण किया है और जिसका (त्वेषम्) अपनी कान्ति से बढ़ा हुआ (तमः) अन्धकार (आ)(वर्त्तते) आता जाता है उसका युक्ति के साथ सेवन करो॥३२॥

भावार्थः-हे मनुष्यो ! जो पृथिव्यादि की छाया रात्रि में प्रकाशको रोकती अर्थात् सब का आवरण करती है उस का आप लोग यथावत् सेवन करें ॥ ३२॥

उष इत्यस्य गोतम ऋषिः । उषर्देवता । निचृत्परोष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनरुषोवर्णनमुपदिश्यते॥

फिर उषःकाल का वर्णन अ० ॥

उष॒स्तच्चि॒त्रमा भ॑रा॒स्मभ्यं॑ वाजिनीवति ।
येन॑ तो॒कं च॒ तन॑यं च॒ धाम॑हे ॥ ३३ ॥

उषः॑ । तत् । चि॒त्रम् । आ । भ॒र॒ । अ॒स्मभ्य॑म् । वा॒जि॒नी॒व॒तीति॑ वाजिनीऽवति । येन॑ । तो॒कम् । च॒ । तन॑यम् । च॒ । धाम॑हे ॥ ३३ ॥

पदार्थः-(उषः) उषोवद्वर्त्तमाने (तत) (चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम् (आ) (भर) पोषय (अस्मभ्यम्) (वाजनीवति) बह्वन्नाद्यैश्वर्य्ययुक्ते (येन) (तोकम्) सद्योजातमपत्यम् (च) (तनयम्) प्राप्तकुमारावस्थम् (च) (धामहे) धरेम ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे वाजिनीवत्युषर्ॼद्दत्तमाने स्त्रि यथा वाजिनीवत्युषा यादृशं चित्रं स्वरूपं धरति तत्तादृशमस्मभ्यं त्वमाभर येन वयं तोकं च तनयं च धामहे ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सर्वशोभायुक्ता मङ्गलप्रदा प्रभातवेला सर्वव्यवहारधारिका वर्त्तते तथाभूताः स्त्रियो यदि स्युस्तर्हि ताः सदा स्वं स्वं पतिं प्रसाद्य पुत्रपौत्रादिना आनन्दं लभेरन् ॥ ३३ ॥

पदार्थः-हे (वाजिनीवति) बहुत अन्नादि ऐश्वर्यों से युक्त (उषः) प्रातः समय की वेला के तुल्य कान्ति सहित वर्त्तमान स्त्री! जैसे अधिकतर अन्नादि ऐश्वर्य की हेतु प्रातः काल की वेला जिस प्रकार के (चित्रम्) आश्चर्य स्वरूप को धारण करती (तत्) वैसे रूप को तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ, भर) अच्छे प्रकार पुष्ट कर (येन) जिस से हम लोग (तोकम्) शीघ्र उत्पन्न हुए बालक (च) और (तनयम्) कुमारावस्था के लड़के को (च) भी (धामहे) धारण करें ॥३३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सब शोभा से युक्त मंगल देने वाली प्रभात समय की वेला सब व्यवहारों का धारण करने वाली है यदि वैसी स्त्रियां हों तो वे सदा अपने २ पति को प्रसन्न कर पुत्रपौत्रादि के साथ आनन्द को प्राप्त होवें॥३३॥

प्रातरित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अग्न्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः ।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्र॑ᳯ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्राव॑रु॒णा प्रा॒तर॒श्विना॑ । प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रᳯ हु॑वेम ॥ ३४ ॥

प्रातः । अग्निम् । प्रातः । इन्द्रम् । हवामहे । प्रातः । मित्रावरुणा । प्रातः । अश्विना । प्रातः । भगम् । पूषणम् । ब्रह्मणः । पतिम् । प्रातरिति प्रातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हुवेम ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(प्रातः) प्रभाते (अग्निम्) पवित्रं स्वप्रकाशं परमात्मानं पावकमग्निं वा (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्यम् (हवामहे) आदद्यामाह्वयेम वा (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राणोदानौ (प्रातः) (अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ (प्रातः) (भगम्) भजनीयं भोगम् (पूषणम्) पुष्टिकरं भोगम् (ब्रह्मणः) धनस्य वेदस्य (पतिम्) स्वामिनं पालकम् (प्रातः) (सोमम्) ओषधिगणम् (उत) अपि (रुद्रम्) जीवम् (हुवेम) गृह्णीयाम ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा वयं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना हवामहे प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रञ्च हुवेम तथा यूयमप्याचरत ॥ ३४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः ! प्रातः परमेश्वरोपासनमग्निहोत्रमैश्वर्योन्नत्युपायं प्राणापानपुष्टिकरणमध्यापकोपदेशकान् विदुष ओषधिसेवनं जीवं च प्राप्तुं ज्ञातुं च प्रयतन्ते ते सर्वैः सुखैरलङ्कृताः स्युः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (प्रातः) प्रातः काल (अग्निम्) पवित्र वा स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा वा अग्नि को (प्रातः) प्रातः समय (इन्द्रम्) उत्तम ऐश्वर्य को (प्रातः) प्रभात समय (मित्रावरुणा) प्राण उदानको और (प्रातः) प्रभात समय (अश्विना) अध्यापक तथा उपदेशक को (हवामहे) ग्रहण करें

वा बुलावें (प्रातः) प्रातः समय (भगम्) सेवन करने योग्य भाग (पूषणम्) पुष्टिकारक भोग (ब्रह्मणस्पतिम्) धनको वा वेद के रक्षक को (प्रातः) प्रभात समय (सोमम्) सोमादि ओषधिगण (उत) और (रुद्रम्) जीव को (हुवेम) ग्रहण वा स्वीकृत करें वैसे तुम लोग भी आचरण करो ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रातःकाल परमेश्वर की उपासना, अग्निहोत्र, ऐश्वर्य की उन्नति का उपाय, प्राण और अपान की पुष्टि करना, अध्यापक उपदेशक विद्वानों तथा ओषधि का सेवन और जीवात्मा को प्राप्त होने वा जानने को प्रयत्न करते हैं वे सब सुखों से सुशोभित होते हैं ॥ ३४ ॥

प्रातर्जितमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगो देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
मनुष्या ऐश्वर्य्यं सम्पादयेयुरित्याह ॥
मनुष्य लोग ऐश्वर्य्य का सम्पादन करें इस वि० ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳहुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता । आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

प्रातर्जितमिति प्रातःऽजितम् । भगम् । उग्रम् । हुवेम । वयम् । पुत्रम् । अदितेः । यः । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । आध्रः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः । चित् । राजा । चित् । यम् । भगम् । भक्षि । इति आह ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(प्रातः) प्रभाते (जितम्) स्वपुरुषार्थेन लब्धम् (भगम्)ऐश्वर्य्यम् (उग्रम्) अत्युत्कृष्टम् (हुवेम)

गृह्णीयाम (वयम्) (पुत्रम्) (अदितेः) अविनाशिनः कारणस्येव मातुः (यः) (विधर्त्ता)यो विविधान् पदार्थान् धरति सः (आध्रः) अपुत्रस्य पुत्रः (चित्) अपि (यम्) (मन्यमानः) विजानन् (तुरः) त्वरमाणः (चित्) अपि (राजा) राजमानः (चित्) (यम्) (भगम्) ऐश्वर्यम् (भक्षि) सेवस्व (इति) अनेन प्रकारेण (आह) परमेश्वर उपदिशति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा वयं प्रातर्यो विधर्त्ता आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजाऽस्ति यं भगं चिद्भक्षीत्याह तमदितेः पुत्रं जितमुग्रं भागं हुवेम तथा यूयमपि स्वीकुरुत ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या युष्माभिः सदा प्रातरारभ्य शयनपर्यन्तं यथाशक्ति सामर्थ्येन विद्यया पुरुषार्थेनैश्वर्योन्नतिं विधायाऽऽनन्दो भोक्तव्यो दरिद्रेभ्यः सुखं देयमित्याहेश्वरः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (वयम्) हम लोग (प्रातः) प्रभात समय (यः) जो (विधर्त्ता) विविध पदार्थों को धारण करने हारा (आध्रः) न्यायादि में तृप्ति न करने वाले का पुत्र (चित्) भी (यम्)जिस ऐश्वर्य को (मन्यमानः) विशेष कर जानता हुआ (तुरः) शीघ्रकारी (चित्) भी (राजा) शोभायुक्त राजा है (यम्) जिस (भगम्) ऐश्वर्य को (चित्) भी (भक्षि, इति, आह) तू सेवन कर इस प्रकार ईश्वर उपदेश करता है उस (अदितेः) अविनाशी कारण के समान माता के (पुत्रम्) पुत्र रक्षक (जितम्) अपने पुरुषार्थ से प्राप्त (उग्रम्) उत्कृष्ट (भगम्) ऐश्वर्य को (हुवेम) ग्रहण करें वैसे तुम लोग स्वीकार करो ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो! तुम लोगों को सदा प्रातःकाल से लेकर सोते समय तक यथाशक्ति सामर्थ्य से विद्या और पुरुषार्थ से ऐश्वर्य की उन्नति कर आनन्द भोगना और दरिद्रों के लिये सुख देना चाहिये यह ईश्वर ने कहा है ॥ ३५ ॥

भग इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगवान् देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथेश्वरप्रार्थनादिकविषयमाह ॥
अब ईश्वर की प्रार्थना आदि वि० ॥

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः । भग॒ प्र णो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम ॥ ३६ ॥

भग॑ । प्रणे॑त॒रिति॑ प्रऽने॑तः । भग॑ । सत्य॑राध॒ इति॒ सत्य॑ऽराधः । भग॑ । इ॒माम् । धिय॑म् । उत् । अ॒व॒ । दद॑त् । नः॒ । भग॑ । प्र । नः॒ । ज॒न॒य॒ । गोभिः॑ । अश्वैः॑ । भग॑ । प्र । नृभि॒रिति॒ नृऽभिः॑ । नृ॒वन्त॒ इति॑ नृ॒ऽवन्तः॑ । स्या॒म॒ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(भग) ऐश्वर्ययुक्त ! (प्रणेतः) पुरुषार्थं प्रतिप्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (सत्यराधः) सत्सु साधूनि राधांसि धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (भग) भजनीय ! (इमाम्) वर्त्तमानाम् (धियम्) प्रज्ञाम् (उत्) (अव) रक्ष । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (ददत्) ददानः (नः) अस्माकम् (भग) विद्यैश्वर्यप्रद ! (प्र) (नः) अस्मान् (जनय) प्रकटय (गोभिः) धेन्वादिभिः (अश्वैः) अश्वादिभिः (भग)भजमान ! (प्र) (नृभिः) नायकैः (नृवन्तः) (स्याम) भवेम ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग त्वं नोऽस्माकमिमां धियं ददत्सदुदव । हे भग त्वं गोभिरश्वैर्नृभिस्सह नोऽस्मान् प्रजनय । हे भग येन वयं नृवन्तः प्रस्याम तथा विधेहि ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यदा यदेश्वरस्य प्रार्थना विदुषां सङ्गः क्रियेत तदा प्रज्ञैव याचनीयोतापि सन्तः पुरुषाः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (भग) ऐश्वर्ययुक्त ! (प्रणेतः) पुरुषार्थ के प्रति प्रेरक ईश्वर वा हे (भग) ऐश्वर्य के दाता ! (सत्यराधः) विद्यमान पदार्थों में उत्तम धनों वाले (भग) सेवने योग्य विद्वान् आप (नः) हमारी (इमाम्) इस वर्त्तमान (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देते हुए (उत, अव) उत्कृष्टता से रक्षा कीजिये । हे (भग) विद्यारूप ऐश्वर्य के दाता ईश्वर वा विद्वान् ! आप (गोभिः) गौ आदि पशुओं (अश्वैः) घोड़े आदि सवारियों और (नृभिः) नायक कुल निर्वाहक मनुष्यों के साथ (नः) हम को (प्र, जनय) प्रकट कीजिये । हे (भग) सेवा करते हुए विद्वान जिस से हम लोग (नृवन्तः) प्रशस्त मनुष्यों वाले (प्रस्याम) अच्छे प्रकार हों वैसे कीजिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जब २ ईश्वर की प्रार्थना तथा विद्वानों का संग करें तब२ बुद्धि की ही प्रार्थना वा श्रेष्ठ पुरुषों की चाहना किया करें ॥ ३६ ॥

उतेदानीमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगो देवता ।
पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथैश्वर्योन्नतिविषयमाह ॥
अब ऐश्वर्य की उन्नति का वि०॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन्त्सूर्य्यस्य वयं देवानाᳬं सुमतौ स्याम ॥ ३७ ॥

उत । इदानीम् । भगऽवन्तऽ इति भगऽवन्तः । स्याम । उत । प्रपित्वऽ इति प्रऽपित्वे । उत । मध्ये । अह्नाम् । उत । उदितेत्युत्ऽइता । मघवन्निति मघऽवन् । सूर्य्यस्य । वयम् । देवानाम् । सुमताविति सुऽमतौ । स्याम ॥ ३७ ॥

पदार्थः— (उत) अपि (इदानीम्) वर्त्तमानसमये (भगवन्तः) सकलैश्वर्ययुक्ताः (स्याम) (उत) अपि (प्रपित्वे) पदार्थानां प्रापणे (उत) (मध्ये) (अह्नाम्) दिवसानाम् (उत) (उदिता) उदयसमये (मघवन्) परमपूजितधनयुक्त! (सूर्यस्य) (वयम्) (देवानाम्) विदुषाम् (सुमतौ) (स्याम) ॥ ३७ ॥

अन्वयः— हे मघवन्! वयमिदानीमुत प्रपित्वे उत भविष्यति उताह्नां मध्ये भगवन्तः स्याम। उत सूर्यस्योदिता देवानां सुमतौ भगवन्तः स्याम॥३७॥

भावार्थः- मनुष्यैर्वर्त्तमाने भविष्यति च योगैश्वर्यस्योन्नतेलौकिकस्य व्यवहारस्य वर्द्धने प्रशंसायाञ्च सततं प्रयतितव्यम् ॥ ३७ ॥

पदार्थः-हे (मघवन्) उत्तम धनयुक्त ईश्वर वा विद्वन् !(वयम्) हमलोग (इदानीम्) वर्त्तमान समय में (उत) और (प्रपित्वे) पदार्थों की प्राप्ति में (उत) और भविष्यत् काल में (उत) और (अह्नाम्) दिनों में (मध्ये) बीच (भगवन्तः) (स्याम) समस्त ऐश्वर्य से युक्त हों (उत) और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) उदय समय तथा (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) उत्तम बुद्धि में समस्त ऐश्वर्य युक्त (स्याम) हों ॥ ३७ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को चाहिये कि वर्त्तमान और भविष्यत् काल में योग के ऐश्वर्य की उन्नति से लौकिक व्यवहार के बढ़ाने और प्रशंसा में निरन्तर प्रयत्न करें ॥ ३७ ॥

भग इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगवान् देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेवविषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

भगं एव भगवाँ२॥ऽअस्तु देवास्तेनं वयं भगंवन्तः स्याम । तं त्वां भग सर्व इज्जोहवीति स नों भग पुरएता भवेह ॥ ३८ ॥

भगः । एव । भगवानिति भगंऽवान् । अस्तु । देवाः । तेनं । वयम् । भगंवन्त इति भगंऽवन्तः । स्याम । तम् । त्वा । भग । सर्वः । इत् । जोहवीति । सः । नः । भग । पुरऽएतेति पुरःऽएता । भव । इह ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(भगः) भजनीयः सेवनीयः (एव) (भगवान्) प्रशस्तैश्वर्ययुक्तः (अस्तु) भवतु (देवाः) विद्वांसः (तेन) भगस्वरूपेण भगवता परमेश्वरेण सह (वयम्) (भगवन्तः) सकलशोभायुक्ताः (स्याम) भवेम (तम्) (त्वा) त्वाम् (भग) अखिलशोभायुक्त ! (सर्वः) अखिलो जनः (इत्) एव (जोहवीति) भृशमाहूयति (सः) (नः) अस्माकम् (भग) सकलैश्वर्यप्रद ! (पुरएता) यः पुरस्तादेति सः (भव) (इह) ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे देवाः! यो भग एव भगवानस्तु तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग! तं त्वा सर्व इज्जोहवीति । भग! स त्वमिह नः पुरएता भव ॥ ३८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यूयं यः सकलैश्वर्यसम्पन्नः परमेश्वरस्तेन ये वास्योपासका विद्वांसस्तैस्सह सिद्धाः श्रीमन्तश्च भवत यो जगदीश्वरो मातापितृवदस्मासु कृपयति तद्भक्तिपुरःसरेणेह मनुष्यानैश्वर्यवतः सततं कुरुत॥३८॥

पदार्थः—हे (देवाः) विद्वान् लोगो! जो (भगः, एव) सेवनीय ही (भगवान्) प्रशस्त ऐश्वर्ययुक्त (अस्तु) होवे (तेन) उस ऐश्वर्यरूप ऐश्वर्य वाले परमेश्वर के साथ (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) समग्र शोभायुक्त (स्याम) होवें। हे (भग) संपूर्ण शोभायुक्त ईश्वर! (तम्, त्वा) उन आप को (सर्व, इत्) समस्त ही जन (जोहवीति) शीघ्र पुकारता है। हे (भग) सकल ऐश्वर्य के दाता! (सः) सो आप (इह) इस जगत् में (नः) हमारे (पुर,एता) अग्रगामी (भव) हूजिये॥३८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग जो समस्त ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर है उस के और जो उस के उपासक विद्वान् हैं उन के साथ सिद्ध तथा श्रीमान् होओ, जो जगदीश्वर माता पिता के समान हम पर कृपा करता है उस की भक्ति पूर्वक इस संसार में मनुष्यों को ऐश्वर्य वाले निरन्तर किया करो॥ ३८ ॥

समध्वरायेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। भगो देवता।

त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि० ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय। अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥ ३९॥

सम्। अ॒ध्व॒राय॑। उ॒षसः॑। न॒म॒न्त॒। द॒धि॒क्रा॒वे॒वेति॑ दधि॒ऽक्रा॒वाऽइ॑व। शुच॑ये। प॒दाय॑। अ॒र्वा॒ची॒नम्। व॒सु॒विद॒मिति॑ वसु॒ऽविद॑म्। भग॑म्। नः॒। रथ॑मि॒वेति॒ रथ॑म्ऽइव। अश्वाः॑। वा॒जिनः॑। आ। व॒ह॒न्तु॒ ॥३९॥

पदार्थः-(सम्) (अध्वराय) अहिंसामयाय व्यवहाराय (उषसः) प्रभाताः (नमन्त) नमन्ति (दधिक्रावेव) यथा धारकः क्रमितोऽश्वस्तथा (शुचये) पवित्राय (पदाय) प्रापणीयाय (अर्वाचीनम्) इदानीन्तनम् (वसुविदम्) येन वसूनि विविधानि धनानि विन्दति तम् (भगम्) ऐश्वर्ययुक्तम् (नः) अस्मान् (रथमिव) रमणीयं यानमिव (अश्वाः) आशुगामिनः (वाजिनः) तुरङ्गाः (आ) (वहन्तु) गमयन्तु ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! उषसो दधिक्रावेव शुचये पदायाऽध्वराय सन्नमन्त वाजिनोऽश्वा रथमिव नोऽर्वाचीनं वसुविदं भगं प्रापयन्ति तथैतौ भवन्त आ वहन्तु ॥ ३९ ॥

भावार्थः-अत्रोपमालङ्कारौ—ये मनुष्या उषर्वद्विद्याधर्मौ प्रकाशयन्ति अश्ववत्सद्यः समग्रमैश्वर्यं सर्वान् प्रापयन्ति ते शुचयो विद्वांसो विज्ञेयाः ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (उषसः) प्रभात समय (दधिक्रावेव) अच्छे चलाये धारण करने वाले घोड़े के तुल्य (शुचये) पवित्र (पदाय) प्राप्त होने योग्य (अध्वराय) हिंसा रूप अधर्म रहित व्यवहार के लिये (सम्, नमन्त) सम्यक् नमते अर्थात् प्रातः समय सत्व गुण की अधिकता से सब प्राणियों के चित्त शुद्धनम्र

होते हैं (अश्वा) शीघ्रगामी (वाजिनः) घोड़े जैसे (रथमिव) रमणीय यान को वैसे (नः) हम को (अर्वाचीनम्) इस समय के (वसुविदम्) अनेक प्रकार के धन प्राप्ति के हेतु (भगम्) ऐश्वर्ययुक्त जन को प्राप्त कर वैसे इन को आप लोग (आ,वहन्तु) अच्छे प्रकार चलावें ॥ ३९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं०—जो मनुष्य प्रभात वेला के तुल्य विद्या और धर्म का प्रकाश करते और जैसे घोड़े यानों को वैसे शीघ्र समस्त ऐश्वर्य को पहुंचाते हैं वे पवित्र विद्वान् जानने योग्य हैं ॥ ३९ ॥

अश्वावतीरित्यस्य वासिष्ठ ऋषिः । उषा देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
विदुष्यः किं कुर्युरित्याह ॥

अब विदुषी स्त्रियां क्या करें इस वि० ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः। घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४० ॥

अश्वावतीः । अश्वंवतीरित्यश्वंऽवतीः । गोमतीरिति गोऽमतीः । नः । उषासः । उषसऽइत्युषसः । वीरवतीरिति वीरऽवतीः । सदम् । उच्छन्तु । भद्राः । घृतम् । दुहानाः । विश्वतः । प्रपीताऽइति प्रऽपीताः । यूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(अश्वावतीः) प्रशस्तान्यश्वानि व्याप्तिशीलान्युदकानि विद्यन्ते यासु ताः (गोमतीः) बहवो गावः

किरणा विद्यन्ते यासु ताः (नः) अस्माकम् (उषासः) प्रभाताः (वीरवतीः) बहवो वीराः सन्ति यासु ताः (सदम्) सीदन्ति यस्मिँस्तत् (उच्छन्तु) विवसन्तु (भद्राः) भन्दनीयाः कल्याणकर्य्यः (घृतम्) शुद्धं प्रदीप्तमुदकम् घृतमित्युदकना० निघं० १। १२ (दुहाना) प्रपूरयन्त्यः (विश्वतः) सर्वतः (प्रपीताः) प्रकर्षेण पीता वृद्धाः (यूयम्) (पात) रक्षत (स्वस्तिभिः) स्वास्थ्यप्रदैः सुखैः (सदा) (नः) अस्मान् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे विदुष्यः स्त्रियो ! यथाऽश्वावतीर्गोमतीर्वीरवतीर्भद्रा घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता उषासोऽस्माकं सदं प्राप्नुवन्ति तथाऽस्माकं सदं भवन्त्य उच्छन्तु नोऽस्मान् यूयं स्वस्तिभिः सदा पात ॥ ४० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा प्रभातवेला जाग्रतां मनुष्याणां सौख्यप्रदा भवन्ति तथा विदुष्यः स्त्रियः कुमारीणां विद्यार्थिनीनां कन्यानां विद्यासुशिक्षासौभाग्यं वर्द्धयित्वा सदैता आनन्दयन्तु ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे विदुषी स्त्रियो ! जैसे (अश्वावतीः) प्रशस्त व्याप्ति शील जलों वाली (गोमतीः) बहुत किरणों से युक्त (वीरवतीः) बहुत वीर पुरुषों से संयुक्त (भद्राः) कल्याणकारिणी (घृतम्) शुद्ध जल को (दुहानाः) पूर्ण करती हुई (विश्वतः) सब ओर से (प्रपीताः) प्रकर्षता से बढ़ी हुई (उषासः) प्रभात वेला हमारी (सदम्) सभा को प्राप्त होतीं अर्थात् प्रकाशित वा प्रवृत्त करतीं हैं वैसे हमारी सभा को आप लोग (उच्छन्तु) समाप्त करो और (नः) हमारी (यूयम्) तुम लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्थता देने वाले सुखों से (सदा) सदा (पात) रक्षा करो ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे प्रभात वेला जागते हुए मनुष्यों को सुख देने वाली होती हैं वैसे विदुषी स्त्रियां कुमारी विद्यार्थिनी कन्याओं के विद्या सुशिक्षा और सौभाग्य को बढ़ा के सदैव इन कन्याओं को आनन्दित किया करें ॥ ४० ॥

पूषन्नित्यस्य सुहोत्र ऋषिः । पूषा देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
अथेश्वराप्तसेविनः कीदृशा भवन्तीत्याह ॥
अब ईश्वर और आप्तजन के सेवक कैसे होते हैं इस वि० ॥

पूषन्तवं व्रते वयं न रिष्येम कदा चन । स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४१ ॥

पूषन् । तव । व्रते । वयम् । न । रिष्येम । कदा । चन । स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(पूषन्) पुष्टिकारक ! (तव) (व्रते) शीले नियमे वा (वयम्) (न) निषेधे (रिष्येम) (कदा) (चन) कदाचिदपि (स्तोतारः) स्तुतिकर्त्तारः (ते) तव (इह) (स्मसि) स्मः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे पूषन् परमेश्वर आप्तविद्वन् वा वयं तव व्रते तस्माद्वर्त्तेमहि यतो न कदा चन रिष्येम । इह ते स्तोतारः सन्तो वयं सुखिनः स्मसि॥४१॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वरस्याप्तस्य वा गुणकर्मस्वभावानुकूला वर्त्तन्ते ते कदाचिन्नष्टसुखा न जायन्ते ॥ ४१ ॥

पदार्थः--हे (पूषन्) पुष्टिकारक परमेश्वर वा आप्तविद्वन् ! (वयम्) हम लोग (तव) आप के (व्रते) स्वभाव वा नियम में इस से वर्त्तें कि जिस से (कदा, चन) कभी भी (न) न (रिष्येम) चित्त बिगाड़ें (इह) इस जगत् में (ते) आप के (स्तोतारः) स्तुति करने वाले हुए हम सुखी (स्मसि) होते हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थः--जो मनुष्य परमेश्वर के वा आप्त विद्वान् के गुणकर्मस्वभाव के अनुकूल वर्त्तते हैं वे कभी नष्ट सुख वाले नहीं होते ॥ ४१ ॥

पथस्पथइत्यस्य ऋजिश्व ऋषिः । पूषा देवता ।

विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडुर्कम् । स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियꣳसीषधाति प्र पूषा ॥ ४२ ॥

पथस्पथः । पथःपथऽ इति पथःऽपथः । परिपतिमिति परिऽपतिम् । वचस्या । कामेन । कृतः । अभि । आनट् । अर्कम् । सः । नः । रासत् । शुरुधः । चन्द्राग्राऽ इति चन्द्रऽअग्राः । धियंधियमिति धियम्ऽधियम् । सीषधाति । सीसधातीति सीसधाति । प्र । पूषा ॥ ४२ ॥

पदार्थः-(पथस्पथः)मार्गस्य मार्गस्य (परिपतिम्)स्वामिनम् (वचस्या)वचसा वचनेन । अत्र सुपांसुलुगितिसूत्रेण

विभक्तेर्यादेशः (कामेन) (कृतः) निष्पन्नः (अभि) अभितः (आनट्) व्याप्नोति (अर्कम्) अर्चनीयम् (सः) (नः) अस्मभ्यम् (रासत्) ददातु (शुरुधः) याः शुरुधो दुःखानि रुन्धन्ति ताः (चन्द्राग्राः) चन्द्रमाह्लादनमग्रं मुख्यं यासान्ताः (धियंधियम्) प्रज्ञांप्रज्ञां कर्म कर्म वा (सीषधाति) साध्नुयात् (प्र) (पूषा) पुष्टिकर्त्ता ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो वचस्या कामेन कृतः पूषा जगदीश्वर आप्तो वा शुरुधः चन्द्राग्राः साधनानि नो रासद्धियंधियं प्रसीषधाति स शुभगुणकर्मस्वभावानभ्यानट् तमर्कं पथस्पथः परिपतिं वयं स्तुयाम ॥ ४२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यो जगदीश्वरः सर्वेषां सुखाय वेदप्रकाशं कारयत आप्तोऽध्यापयितुमिच्छति यौ सर्वेभ्यः श्रेष्ठां प्रज्ञां सत्कर्मशिक्षां च प्रदत्तस्तौ सर्वसन्मार्गस्वामिनौ सदा सत्कर्त्तव्यौ ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (वचस्या) वचन और (कामेन) कामना करके (कृतः) सिद्ध (पूषा) पुष्टिकर्त्ता जगदीश्वर वा आप्त जन (शुरुधः) शीघ्र दुःखों को रोकने वाले (चन्द्राग्राः) प्रथम से ही आनन्दकारी साधनों को (नः) हमारे लिये (रासत्) देवे (धियंधियम्) प्रत्येक बुद्धि वा कर्म को (प्रसीषधाति) प्रकर्षता से सिद्ध करे (सः) वह शुभ गुण कर्म स्वभावों को (अभि, आनट्) सब ओर से व्याप्त होता उस (अर्कम्) पूजनीय (पथस्पथः) प्रत्येक मार्ग के (परिपतिम्) स्वामी की हम लोग स्तुति करें ॥४२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो जगदीश्वर सब के सुख के लिये वेद के प्रकाश को और आप्त पुरुष पढ़ाने की इच्छा करता जो सब के लिये श्रेष्ठ बुद्धि उत्तम कर्म और शिक्षा को देते हैं उन सब श्रेष्ठ मार्गों के स्वामियों का सदा सत्कार करना चाहिये ॥ ४२ ॥

त्रीणीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर के वि० ॥

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः ।
अदाभ्यः । अतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ४३ ॥

पदार्थः–(त्रीणि) (पदा) पदानि ज्ञातुं प्रापयितुं वा योग्यानि कारणसूक्ष्मस्थूलरूपाणि (वि) (चक्रमे) विक्रामति (विष्णुः) वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत्स परमेश्वरः (गोपाः) रक्षकः (अदाभ्यः) अहिंसकत्वाद्दयालुः (अतः) अस्मात् (धर्माणि) धर्मान् धारकाणि पृथिव्यादीनि वा (धारयन्) ॥ ४३ ॥

अन्वयः–हे मनुष्या योऽदाभ्यो गोपा विष्णुर्धर्माणि धारयन्नतस्त्रीणि पदा विचक्रमे स एवाऽस्माकं पूजनीयोऽस्ति ॥ ४३ ॥

भावार्थः–हे मनुष्या येन परमेश्वरेण भूम्यन्तरिक्षसूर्यरूपेण त्रिविधं जगन्निर्मितं सर्वं ध्रियते रक्ष्यते च स एवोपासनीय इष्टदेवोऽस्ति ॥ ४३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (अदाभ्यः) अहिंसा धर्म वाला होने से दयालु (गोपाः) रक्षक (विष्णुः) चराचर जगत् में व्याप्त परमेश्वर (धर्माणि) पुण्यरूप कर्मों वा धारक पृथिव्यादि को (धारयन्) धारण करता हुआ

(अतः) इस कारण से (त्रीणि) तीन (पदा) जानने वा प्राप्त होने योग्य कारण सूक्ष्म और स्थूलरूप जगत् का (वि, चक्रमे) आक्रमण करता है वही हम लोगों को पूजनीय है ॥ ४३ ॥

भावार्थः-हे मनुष्यो ! जिस परमेश्वर ने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यरूप करके तीन प्रकार के जगत् को बनाया, सब को धारण किया और रक्षित किया है वही उपासना के योग्य इष्टदेव है ॥ ४३ ॥

तद्विप्रास इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वाᳪं᳭सः समि॑न्धते । विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒दम् ॥ ४४ ॥

तत् । विप्रा॑सः । वि॒प॒न्यवः॑ । जा॒गृ॒वाᳪं᳭स॒ऽइति॑ जागृ॒ऽवाᳪं᳭सः । सम् । इ॒न्ध॒ते॒ । विष्णोः॑ । यत् । प॒र॒मम् । प॒दम् ॥ ४४ ॥

पदार्थः-(तत्) (विप्रासः) मेधाविनो योगिनः (विपन्यवः) विशेषेण स्तोतुमर्हा ईश्वरस्य वा स्तावकाः (जागृवांसः) अविद्यानिद्रात उत्थाय जागरूकाः (सम्)(इन्धते) प्रकाशयन्ति (विष्णोः) सर्वत्राऽभिव्यापकस्य (यत्) (परमम्) प्रकृष्टम् (पदम्) प्रापणीयंमोक्षप्रदं स्वरूपम् ॥४४॥

अन्वयः-हे मनुष्या! ये जागृवांसो विपन्यवो विप्रासो विष्णोर्यत्परमं पदमस्ति तत्समिन्धते तत्सङ्गेन यूयमपि तादृशा भवत ॥४४॥

भावार्थः–ये योगाभ्यासादिना शुद्धान्तःकरणात्मानो धार्मिकाः पुरुषार्थिनो जनाः सन्ति त एव व्यापकस्य परमेश्वरस्य स्वरूपं ज्ञातुं लब्धुं चार्हन्ति नेतरे ॥ ४४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (जागृवांसः) अविद्यारूप निद्रा से उठ के चेतन हुए (विपन्यवः) विशेष कर स्तुति करने योग्य वा ईश्वर की स्तुति करने हारे (विप्रासः) बुद्धिमान् योगी लोग (विष्णोः) सर्वत्र अभिव्यापक परमात्मा का (यत्) जो (परमम्) उत्तम (पदम्) प्राप्त होने योग्य मोक्षदायीस्वरूप है (तत्) उस को (सम्, इन्धते) सम्यक् प्रकाशित करते हैं उन के सत्संग से तुम लोग भी वैसे होओ ॥ ४४ ॥

भावार्थः–जो योगाभ्यासादि सत्कर्मों करके शुद्धान्तःकरण और आत्मा वाले धार्मिक पुरुषार्थी जन हैं वे ही व्यापक परमेश्वर के स्वरूप को जानने और उस को प्राप्त होने योग्य होते हैं अन्य नहीं ॥ ४४ ॥

घृतवतीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ देवते ।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा । द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥ ४५ ॥

घृतवतीऽइति घृतऽवती । भुवनानाम् । अभिश्रियेत्यभिऽश्रिया । उर्वीऽइत्युर्वी । पृथ्वीऽइति पृथ्वी । मधुदुघेऽ

इति मधुऽदुघे । सुपेशसेति सुऽपेशसा । द्यावापृथिवीऽइतिद्यावापृथिवी । वरुणस्य । धर्मणा । विस्कभितेऽइति विऽस्कभिते । अजरेऽइत्यजरे । भूरिरेतसेति भूरिऽरेतसा ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(घृतवती) घृतमुदकं बहु विद्यते ययोस्ते (भुवनानाम्) लोकलोकान्तराणाम् (अभिश्रिया) अभितः सर्वतः श्रीः शोभा लक्ष्मीर्याभ्यान्ते (उर्वी) बहुपदार्थयुक्ते (पृथ्वी) विस्तीर्णे (मधुदुघे) ये मधूदकं प्रपूरयतस्ते (सुपेशसा) शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (वरुणस्य) सर्वेभ्यो वरस्य श्रेष्ठस्य जगदीश्वरस्य (धर्मणा) धारणसामर्थ्येन (विष्कभिते) विशेषेण धृते दृढीकृते (अजरे) स्वस्वरूपेण जरानाशरहिते (भूरिरेतसा) भूरि बहु रेत उदकं ययोर्वा भूरीणि बहूनि रेतांसि वीर्याणि याभ्यान्ते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्य वरुणस्य परमेश्वरस्य धर्मणा मधुदुघे सुपेशसा पृथ्वी उर्वी घृतवती अजरे भूरिरेतसा भुवनानामभिश्रिया द्यावा पृथिवी विष्कभिते तमेवोपास्यं यूयं विजानीत ॥४५॥

भावार्थः—मनुष्यैर्येन परमेश्वरेण प्रकाशाऽप्रकाशात्मकं द्विविधं जगन्निर्माय धृत्वा पाल्यते स एव सर्वदोपासनीयोऽस्ति ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जिस (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ जगदीश्वर के (धर्मणा) धारण करने रूप सामर्थ्य से (मधुदुघे) जल को पूर्ण करने वाली (सुपेशसा) सुन्दर रूप युक्त (पृथ्वी) विस्तार युक्त (उर्वी) बहुत पदार्थों वाली (घृत-

वती) बहुत जल के परिवर्त्तन से युक्त (अजरे) अपने स्वरूप से नाशरहित (भूरिरेतसा) बहुत जलों से युक्त वा अनेक वीर्य वा पराक्रमों की हेतु (भुवनानाम्) लोक लोकान्तरों की (अभिश्रिया) सब ओर से शोभा करने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (विष्कभिते) विशेष कर धारण वा दृढ किये हैं उसी को उपासना के योग्य तुम लोग जानो ॥ ४५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जिस परमेश्वर ने प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप दो प्रकार के जगत् को बना और धारण करके पालित किया है वही सर्वदा उपासना के योग्य है॥४५॥

येन इत्यस्य विहव्य ऋषिः । लिङ्गोक्ता देवताः ।
भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राजधर्म विषयमाह ॥

अब राजधर्म वि० ॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् । वसवो रुद्रा आदित्याउपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥ ४६ ॥

ये । नः । सपत्ना इति सऽपत्नाः । अप । ते । भवन्तु । इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्निऽभ्याम् । अव । बाधामहे । तान् । वसवः । रुद्राः । आदित्याः । उपरिस्पृशमित्युपरिऽस्पृशम् । मा । उग्रम् । चेत्तारम् । अधिराजमित्यधिऽराजम् । अक्रन् ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(ये) (नः) अस्माकम् (सपत्नाः) शत्रवः (अप) दूरीकरणे (ते) (भवन्तु) (इन्द्राग्निभ्याम्) वायुविद्युदस्त्राभ्याम्

(अव) (बाधामहे) (तान्) (वसवः) पृथिव्यादयः (रुद्राः) दश प्राणा एकादश आत्मा च (आदित्याः) संवत्सरस्य मासाः (उपरिस्पृशम्) य उपरि स्पृशति तम् (मा) माम् (उग्रम्) तीव्रस्वभावम् (चेत्तारम्) सत्यासत्ययोर्यथावद्विज्ञातारम् (अधिराजम्) सर्वेषामुपरि राजानम् (अक्रन्) कुर्वन्तु ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! ये नः सपत्नाः स्युस्तेऽपभवन्तु यथा तान्वयमिन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे यथा च वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशमुग्रं चेत्तारं मामामधिराजमक्रन् तथा तान् यूयं निवारयत मां च सत्कुरुत ॥४६॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० । यस्याऽधिकारे पृथिव्यादयः पदार्थाः स्युस्स एव सर्वेषामुपरि राजा स्यात् । यो राजा भवेत्स शस्त्रास्त्रैः शत्रून्निवार्य निष्कण्टकं राज्यं कुर्यात् ॥ ४६ ॥

पदार्थः- हे मनुष्यो ! (ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु लोग हों (ते) वे (अप, भवन्तु) दूर हों अर्थात् पराजय को प्राप्त हों जैसे (तान्) उन शत्रुओं को हम (इन्द्राग्निभ्याम्) वायु और विद्युत् के शस्त्रों से (अव, बाधामहे) पीड़ित करें और जैसे (वसवः) पृथिवी आदि वसु (रुद्राः) दश प्राण ग्यारहवां आत्मा और (आदित्याः) बारह महीने (उपरिस्पृशम्) उच्च स्थान पर बैठने (उग्रम्) तेजस्वभाव और (चेत्तारम्) सत्यासत्य को यथावत् जानने वाले (मा) मुझ को (अधिराजम्) अधिपति स्वामी समर्थ (अक्रन्) करें वैसे उन शत्रुओं का तुम लोग निवारण और मेरा सत्कार करो ॥ ४६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जिस के अधिकार में पृथिवी आदि पदार्थ हों वही सब के ऊपर राजा होवे । जो राजा होवे वह शस्त्र अस्त्रों से शत्रुओं का निवारण कर निष्कण्टक राज्य करे ॥ ४६ ॥

आ नासत्येत्यस्य हिरण्यस्तूप ऋषि । अश्विनौ देवते । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ के जगद्धितैषिण इत्याह ॥

अब कौन जगत् के हितैषी हों इस वि० ॥

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना । प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा ॥ ४७ ॥

आ । नासत्या । त्रिभिरिति त्रिऽभिः । एकादशैः । इह । देवेभिः । यातम् । मधुपेयमिति मधुऽपेयम् । अश्विना । प्र । आयुः । तारिष्टम् । निः । रपांसि । मृक्षतम् । सेधतम् । द्वेषः । भवतम् । सचाभुवेति सचाऽभुवा ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (नासत्या) अविद्यमानाऽसत्याचरणौ (त्रिभिः) (एकादशैः) त्रयस्त्रिंशता इह (देवेभिः) दिव्यैः पृथिव्यादिभिः सह (यातम्) प्राप्नुतम् (मधुपेयम्) मधुरैर्गुणैर्युक्तं पातुं योग्यम् (अश्विना) विद्वांसौ राजप्रजाजनौ (प्र) (आयुः) जीवनम् (तारिष्टम्) वर्धयतम् (निः) नितराम् (रपांसि) पापानि (मृक्षतम्) मार्जयतम् (सेधतम्) गमयतम् (द्वेषः) द्वेषादिदोषयुक्तान् प्राणिनः (भवतम्) (सचाभुवा) यौ सत्येन पुरुषार्थेन सह भवतस्तौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे नासत्याऽश्विना ! यथा युवामिह त्रिभिरेकादशैर्देवेभिः सह मधुपेयमायातं रपांसि मृक्षतं द्वेषो निःसेधतं सचाभुवा भवतमायुः प्रतारिष्टं तथा वयमपि भवेम ॥ ४७ ॥

भावार्थः—स एव जगद्धितैषिणो ये पृथिव्यादिसृष्टिविद्यां विज्ञायाऽन्यान् ग्राहयेयुर्दोषान् दूरीकुर्युश्चिरंजीवनस्य विधानं च प्रचारयेयुः ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे (नासत्या) असत्य आचरण से रहित (अश्विना) राज्य और प्रजा के विद्वानो ! जैसे तुम (इह) इस जगत् में (त्रिभिः) (एकादशैः) तेंतीस (देवेभिः) उत्तम पृथिवी आदि (आठ वसु, प्राणादि ग्यारह रुद्र, बारह महीनों तथा बिजुली और यज्ञ) तेंतीस देवताओं के साथ (मधुपेयम्) गुणों से युक्त पीने योग्य ओषधियों के रस को (आ, यातम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होओ वा उस के लिये आया करो (रपांसि) पापों को (मृक्षतम्) शुद्ध किया करो (द्वेषः) द्वेषादि दोषयुक्त प्राणियों का (निः, सेधतम्) खण्डन वा निवारण किया करो (सचाभुवा) सत्य पुरुषार्थ के साथ कार्यों में संयुक्त (भवतम्) होओ और (आयुः) जीवन को (प्र, तारिष्टम्) अच्छे प्रकार बढ़ाओ वैसे हम लोग होवें ॥ ४७ ॥

भावार्थः—वे ही लोग जगत् के हितैषी हैं जो पृथिवी आदि सृष्टि की विद्या को जान के दूसरों को ग्रहण करावें दोषों को दूर करें और अधिक काल जीवन के विधान का प्रचार किया करें ॥ ४७ ॥

एष व इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । मरुतो देवताः ।

पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः किंकुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य लोग क्या करें इस वि० ॥

एष वः स्तोमो मरुत इयङ्गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः । एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ४८ ॥

एषः । वः । स्तोमः । मरुतः । इयम् । गीः । मान्दार्यस्य । मान्यस्य । कारोः । आ । इषा । यासीष्ट । तन्वे । वयाम् । विद्याम । इषम् । वृजनम् । जीरदानुमिति जीरऽदानुम् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(एषः) (वः) युष्मभ्यम् (स्तोमः) प्रशंसा (मरुतः) मरणधर्माणो मनुष्याः (इयम्) (गीः) सुशिक्षिता वाक् (मान्दार्यस्य) प्रशस्तकारुकस्य शिल्पिन (आ) (इषा) इच्छयाऽन्नेन वा निमित्तेन (यासीष्ट) प्राप्नुयात् (तन्वे) शरीरादिरक्षणार्थम् (वयाम्) वयसामवस्थावतां प्राणिनाम् । अत्राऽऽमि टिलोपश्छान्दसः (विद्याम) लभेमहि (इषम्) विज्ञानमन्नं वा (वृजनम्) वर्जन्ति दुःखानि येन तद्बलम् (जीरदानुम्) जीवयतीति जीरदानुस्तम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे मरुतो मनुष्या ! मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोरेष स्तोम इयं च गीर्वोऽस्तु यूयमिषा वयां तन्वे आजीरदानुमिषं वृजनं च विद्याम ॥ ४८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैस्सदैव प्रशंसनीयानि कर्माणि सेवित्वा शिल्पविद्याविदः सत्कृत्य जीवनं बलमैश्वर्यं च प्राप्तव्यम् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे (मरुतः) मरण धर्म वाले मनुष्यो ! (मान्दार्यस्य) प्रशस्त कर्मों के सेवक उदार चित्त वाले (मान्यस्य) सत्कार के योग्य (कारोः) पुरुषार्थी कारीगर का (एषः) यह (स्तोमः) प्रशंसा और (इयम्) यह (गीः) वाणी (वः) तुम्हारे लिये उपयोगी होवे तुम लोग (इषा) इच्छा

वा अन्न के निमित्त से (वयाम्) अवस्था वाले प्राणियों के (तन्वे) शरीरादि की रक्षा के लिये (आ, यासीष्ट) अच्छे प्रकार प्राप्त हुआ करे और हम लोग (जीवातुम्) जीवन के हेतु (इषम्) विज्ञान वा अन्न तथा (वृजनम्) दुःखों के वर्जने वाले बल को (विद्याम) प्राप्त हों ॥ ४८ ॥

भावार्थः– मनुष्यों को चाहिये कि सदैव प्रशंसनीय कर्मों का सेवन और शिल्पविद्या के विद्वानों का सत्कार करके जीवन बल और ऐश्वर्य को प्राप्त होवें ॥४८॥

सहस्तोमा इत्यस्य प्राजापत्यो यज्ञ ऋषिः । ऋषयो देवताः ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ के ऋषयो भवन्तीत्याह ॥
अब ऋषि कौन होते हैं इस वि० ॥

सहस्तोमाः सहछन्दसऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयः सप्त दैव्याः । पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीराऽअन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥ ४९ ॥

सहस्तोमाऽइति सहऽस्तोमाः । सहछन्दसऽइति सहऽछन्दसः । आवृतऽइत्याऽवृतः । सहप्रमाऽइति सहऽप्रमाः । ऋषयः । सप्त । दैव्याः । पूर्वेषाम् । पन्थाम् । अनुदृश्येत्यनुऽदृश्य । धीराः । अन्वालेभिरऽइत्यनुऽआलेभिरे । रथ्यः । न । रश्मीन् ॥ ४९ ॥

पदार्थः–(सहस्तोमाः) स्तोमैः श्लाघाभिस्सह वर्त्तमाना यद्वा सहस्तोमाः शास्त्रस्तुतयो येषान्ते (सहछन्दसः) सह छन्दांसि वेदाऽध्ययनं स्वातन्त्र्यं सुखभोगो

वा येषान्ते (आवृतः) ब्रह्मचर्य्येण सकला विद्या अधीत्य गुरुकुलान्निवृत्य गृहमागताः (सहप्रमाः) सहैव प्रमा यथार्थं प्रज्ञानं येषान्ते (ऋषयः) वेदादिशास्त्रार्थविदः (सप्त) पंचज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणमात्मा च (दैव्याः) देवेषु गुणकर्मस्वभावेषु कुशलाः (पूर्वेषाम्) अतीतानां विदुषाम् (पन्थाम्) पन्थानं मार्गम् (अनुदृश्य) आनुकूल्येन दृष्ट्वा (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (अन्वालेभिरे) अनुलभन्ते (रथ्यः) रथे साधु रथ्यः सारथिः (न) इव (रश्मीन्) रज्जून् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा सहस्तोमाः सहछन्दस आवृताः सहप्रमाः सप्त दैव्या धीरा ऋषयो रथ्यो रश्मीन्निव पूर्वेषां पन्थामनुदृश्यान्वालेभिरे तथा भूत्वा यूयमप्यास्मार्गमन्वालभध्वम् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अत्रोपमा वाचकलु०—ये रागद्वेषादिदोषान् दूरतस्त्यक्त्वा परस्परस्मिन् प्रीतिमन्तो भूत्वा ब्रह्मचर्येण धर्माऽनुष्ठानपुरःसरमखिलान् वेदान् विज्ञाय सत्याऽसत्ये विविच्य सत्यं लब्ध्वाऽसत्यं विहायाप्तभावेन वर्त्तन्तेते सुशिक्षिताः सारथयइवाऽभीष्टं धर्म्यं मार्गं गन्तुमर्हन्ति त एवर्षिसंज्ञां लभन्ते ॥ ४९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (सहस्तोमाः) प्रशंसाओं के साथ वर्त्तमान वा जिन की प्रशंसा स्तुति एक साथ हों (सहछन्दसः) वेदादि का अध्ययन वा स्वतन्त्र सुख भोग जिन का साथ हो (आवृताः) ब्रह्मचर्य्य के साथ समस्त विद्या पढ़ और गुरुकुल से निवृत्त होके घर आये (सहप्रमाः)साथ ही जिन का प्रमाणादि यथार्थ ज्ञान हो (सप्त) पांच ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण और आत्मा ये सात (दैव्याः) उत्तम गुण कर्म स्वभावों में प्रवीण ध्यान वाले योगी (ऋषयः) वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता लोग (रथ्यः) सारथि (न जैसे

(रश्मीन्) लगाम की रस्सी को ग्रहण करता वैसे (पूर्वपाम्) पूर्वज विद्वानों के (पन्थाम्) मार्ग को (अनु, दृश्य) अनुकूलता से देख के (अन्वालेभिरे) पश्चात् प्राप्त होते हैं। वैसे होकर तुम लोग भी आप्तों के मार्ग को प्राप्त होओ ॥ ४९ ॥

भावार्थः-- इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—जो रागद्वेषादि दोषों को दूर से छोड़ आपस में प्रीति रखने वाले हों, ब्रह्मचर्य से धर्म के अनुष्ठान पूर्वक समस्त वेदों को जान के सत्य असत्य का निश्चय कर सत्य को प्राप्त हो और असत्य को छोड़ के आप्तों के भाव से वर्त्तते हैं वे सुशिक्षित सारथियों के समान अभीष्ट धर्म युक्त मार्ग में जाने को समर्थ होते और वे ही ऋषि संज्ञक होते हैं ॥ ४९ ॥

आयुष्यमित्यस्य दक्ष ऋषिः । हिरण्यन्तेजो देवता ।
भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
अथैश्वर्यजयादिसंपादनविषयमाह ॥
अब ऐश्वर्य और जय आदि सम्पादन वि० ॥

आयुष्यं वर्च्चस्यꣳरायस्पोषमौद्भिदम् । इदꣳ हिरण्यं वर्च्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम् ॥ ५० ॥

आयुष्यम् । वर्च्चस्यम् । रायः । पोषम् । औद्भिदम् । इदम् । हिरण्यम् । वर्च्चस्वत् । जैत्राय । आ । विशतात् । ऊँ इत्यूँ । माम् ॥ ५० ॥

पदार्थः—(आयुष्यम्) आयुषे जीवनाय हितम् (वर्च्चस्यम्) वर्चसेऽध्ययनाय हितम् (रायः) (पोषम्) धनस्य पोषकम् (औद्भिदम्) उद्भिनत्ति दुःखानि येन तदेव (इदम्) (हिरण्यम्) तेजोमयं सुवर्णादिकम् (वर्चस्वत्) प्रशस्तानि वर्चांस्यन्नानि यस्मात्तत् (जैत्राय) जयाय (आ) (विशतात्) समन्तात् विशतु तिष्ठतु (उ) एव (माम्) ॥ ५० ॥

अन्वयः–हे मनुष्या! यदौद्भिदमायुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषं वर्चस्वद्धिरण्यं जैत्राय मामाविशतात्तदु युष्मानप्याविशत् ॥ ५० ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः स्वात्मवत्सर्वान् जानन्ति विद्वद्भिः सह परामृश्य सत्याऽसत्ये निर्णयन्ति ते दीर्घमायुः पूर्णविद्या समग्रैश्वर्यविजयं च प्राप्नुवन्ति ॥ ५० ॥

पदार्थः– हे मनुष्यो ! जो (औद्भिदम्) दुःखों के नाशक (आयुष्यम्) जीवन के लिये हितकारी (वर्चस्यम्) अध्ययन के उपयोगी (रायः,पोषम्) धन की पुष्टि करने हारे (वर्चस्वत्) प्रशस्त अन्नों के हेतु (हिरण्यम्) तेजःस्वरूप सुवर्णादि ऐश्वर्य (जैत्राय) जय होने के लिये (माम्) मुझ को (आ, विशतात्) आवेश करे अर्थात् मेरे निकट स्थिर रहे वह तुम लोगों के निकट भी स्थिर होवे ॥ ५० ॥

भावार्थः-जो मनुष्य अपने तुल्य सब को जानते और विद्वानों के साथ विचार कर सत्यासत्य का निर्णय करते हैं वे दीर्घ अवस्था पूर्ण विद्याओं समग्र ऐश्वर्य और विजय को प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

न तदित्यस्य दक्ष ऋषिः । हिरण्यन्तेजो देवता ।
भुरिक् शक्वरी छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ ब्रह्मचर्य प्रशंसा विषयमाह ॥
अब ब्रह्मचर्य की प्रशंसा का वि० ॥

न तद्रक्षाᳫंसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳫं ह्येतत् । यो बिभर्त्ति दाक्षायणᳫं हिरण्यᳫं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ ५१ ॥

न । तत् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । तरन्ति । देवानाम् । ओजः । प्रथमजमिति प्रथमऽजम् । हि । एतत् । यः । बिभर्त्ति । दाक्षायणम् । हिरण्यम् । सः । देवेषु । कृणुते । दीर्घम् । आयुः । सः । मनुष्येषु । कृणुते । दीर्घम् । आयुः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(न) (तत्) अध्ययनं विद्याप्रापणम् (रक्षांसि) अन्यान् प्रपीड्य स्वात्मानमेव ये रक्षन्ति ते (पिशाचाः) ये प्राणिनां पेशितं रुधिरादिकमाचामन्ति भक्षयन्ति ते हिंसका म्लेच्छाचारिणो दुष्टाः (तरन्ति) उल्लंघन्ते (देवानाम्) विदुषाम् (ओजः) बलपराक्रमं (प्रथमजम्) प्रथमे वयसि ब्रह्मचर्याश्रमे वा जातम् (हि) खलु (एतत्) (यः) (बिभर्त्ति) (दाक्षायणम्) दक्षेण चतुरेणाऽयनं प्रापणीयं तदेव स्वार्थेऽण् (हिरण्यम्) ज्योतिर्मयम् (सः) (देवेषु) विद्वत्सु (कृणुते) (दीर्घम्) लम्बमानम् (आयुः) जीवनम् (सः) (मनुष्येषु) मननशीलेषु (कृणुते) करोति (दीर्घम्) (आयुः) ॥५१॥

अन्वयः-हे मनुष्या ! यद्देवानां प्रथमजमोजोऽस्ति न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति यो ह्येतद्दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्त्ति स देवेषु दीर्घमायुः कृणुते स मनुष्येषु दीर्घमायुः कृणुते ॥ ५१ ॥

भावार्थः—ये प्रथमे वयसि दीर्घेण धर्म्येण ब्रह्मचर्येण पूर्णां विद्यामधीयते न तेषां केचिच्चोरा न दायभागिनो न तेषां भारो भवति य एवं विद्वांसो धर्म्येण वर्त्तन्ते ते विद्वत्सु मनुष्येषु च दीर्घमायुर्लब्ध्वा सततमानन्दन्त्यन्यानानन्दयन्ति च ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथम अवस्था वा ब्रह्मचर्य्य आश्रम में उत्पन्न हुआ (ओजः) बल पराक्रम है (तत्) उसको (न, रक्षांसि) न अन्यों को पीड़ा विशेष दे कर अपनी ही रक्षा करने हारे और (न,पिशाचाः) न प्राणियों के रुधिरादि को खाने वाले हिंसक म्लेच्छाचारी दुष्ट जन (तरन्ति) उल्लंघन करते (यः) जो मनुष्य (एतत्) इस (दाक्षायणम्) चतुर को प्राप्त होने योग्य (हिरण्यम्) तेजःस्वरूप ब्रह्मचर्य्य को (बिभर्त्ति) धारण वा पोषण करता है (सः) वह (देवेषु) विद्वानों में दीर्घम्, आयुः) अधिक अवस्था को (कृणुते) प्राप्त होता और सः) वह (मनुष्येषु) मननशील जनों में (दीर्घम्, आयुः) बड़ी अवस्था को (कृणुते) प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

भावार्थः—जो प्रथम अवस्था में बड़े धर्मयुक्त ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्या पढ़ते हैं उनको न कोई चोर न दायभागी और न उनको भार होता है जो विद्वान् इस प्रकार धर्म युक्त कर्म के साथ वर्त्तते हैं वे विद्वानों और मनुष्यों में बड़ी अवस्था को प्राप्त हो के निरन्तर आनन्दित होते और दूसरों को आनन्दित करते हैं ॥ ५१ ॥

यदेत्यस्य दक्ष ऋषिः । हिरण्यन्तेजो देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः । तन्म आ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥५२॥

यत् । आ । अबध्नन् । दाक्षायणाः । हिरण्यम् । शतानीकायेति शतऽअनीकाय । सुमनस्यमानाऽइति सुऽमनस्यमानाः । तत् । मे । आ ।

बध्नामि। शतशारदायेति शतऽशारदाय। आयुष्मान्। जरदष्टिरिति जरत्ऽअष्टिः। यथा। असम्॥ ५२॥

पदार्थः—(यत्) (आ) (अबध्नन्) बध्नीयुः (दाक्षायणाः) चातुर्य्यविज्ञानयुक्ताः (हिरण्यम्) सत्यासत्यप्रकाशं विज्ञानम् (शतानीकाय) शतान्यनीकानि सैनिकानि यस्य तस्मै (सुमनस्यमानाः) सुष्ठु विचारयन्तः सज्जनाः (तत्) (मे) मह्यम् (आ) (बध्नामि) (शतशारदाय) शतं शरदो जीवनाय (युष्मान्) (जरदष्टिः) जरं पूर्णमायुर्व्याप्तो यः सः (यथा) (असम्) भवेयम् ॥५२॥

अन्वयः—ये दाक्षायणाः सुमनस्यमानाः शतानीकाय मे यद्धिरण्यमाऽबध्नन् तदहं शतशारदायाऽऽबध्नामि। हे विद्वांसो! यथाऽहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिरसं तथा यूयं मां प्रत्युपदिशत॥ ५२॥

भावार्थः—एकत्र शतशः सेना एकात्रैका विद्या विजयप्रदा भवति ये दीर्घेण ब्रह्मचर्येण विद्वद्भ्यो विद्यां सुशिक्षां च गृहीत्वा तदनुकूला वर्त्तन्ते तेऽल्पाऽऽयुषः कदाचिन्न जायन्ते॥ ५२॥

पदार्थः—जो (दाक्षायणाः) चतुराई और विज्ञान से युक्त (सुमनस्यमानाः) सुन्दर विचार करते हुए सज्जन लोग (शतानीकाय) सैकड़ों सेना वाले (मे) मेरे लिये (यत्) जिस (हिरण्यम्) सत्याऽसत्य प्रकाशक विज्ञान का (आ, अबध्नन्) निबन्धन करें (तत्) उस को मैं (शतशारदाय) सौ वर्ष तक जीवन के लिये (आ, बध्नामि) नियत करता हूं। हे विद्वान् लोगो! जैसे मैं (युष्मान्) तुम लोगों को प्राप्त होके (जरदष्टिः) पूर्ण अवस्था को व्याप्त होने वाला (असम्) होऊं वैसे तुम लोग मेरे प्रति उपदेश करो॥ ५२॥

भावार्थः-एक ओर सैकड़ों सेना और दूसरी ओर एक विद्या ही विजय देनेवाली होती है। जो लोग बहुत काल तक ब्रह्मचर्य्य धारण करके विद्वानों से विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण कर उस के अनुकूल वर्त्तते हैं वे थोड़ी अवस्था वाले कभी नहीं होते॥५२॥

उत न इत्यस्य ऋजिष्व ऋषिः। लिङ्गोक्ता देवताः।
भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥
अथ के सर्वरक्षकाः सन्तीत्याह॥
अब कौन सब के रक्षक होते हैं इस वि० ॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः। विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥ ५३ ॥

उत। नः। अहिः। बुध्न्यः। शृणोतु। अजः। एकपादित्येकऽपात्। पृथिवी। समुद्रः। विश्वे। देवाः। ऋतावृधः। ऋतवृधऽइत्यृतऽवृधः। हुवानाः। स्तुताः। मन्त्राः। कविशस्ताऽइति कविऽशस्ताः। अवन्तु॥५३॥

पदार्थः-(उत) अपि (नः) अस्माकं वचांसि (अहिः) मेघः (बुध्न्यः) बुध्न्येऽन्तरिक्षे भवः (शृणोतु) (अजः) यो न जायते सः (एकपात्) एकः पादोबोधो यस्य सः (पृथिवी) (समुद्रः) अन्तरिक्षम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (ऋतावृधः) सत्यस्य वर्द्धकाः (हुवानाः) स्पर्द्धमानाः (स्तुताः) स्तुतिप्रकाशकाः (मन्त्राः) विचारसाधकाः (कविशस्ताः) कविभिर्मेधाविभिः शस्ताः प्रशंसिताः (अवन्तु)॥ ५३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! बुध्न्योऽहिरिव पृथिवी समुद्रश्चैवैकपादजो नः शृणोतु ऋतावृधो हुवाना विश्वे देवा उतापि कविशस्ताः स्तुता मन्त्रा अस्मानवन्तु॥५३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-हे मनुष्या! यथा पृथिव्यादयः पदार्था मेघः परमेश्वरश्च सर्वान् रक्षन्ति तथैव विद्या विद्वांसश्च सर्वान् पालयन्ति॥५३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (बुध्न्यः) अन्तरिक्ष में होने वाला (अहिः) मेघ के तुल्य और (पृथिवी) तथा (समुद्रः) अन्तरिक्ष के तुल्य (एकपात्) एक प्रकार के निश्चल अव्यभिचारी बोध वाला (अजः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता वह परमेश्वर (नः) हमारे वचनों को (शृणोतु) सुने तथा (ऋतावृधः) सत्य के बढ़ाने वाले (हुवानाः) स्पर्द्धा करते हुए (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उत) और (कविशस्ताः) बुद्धिमानों से प्रशंसा किये हुए (स्तुताः) स्तुति के प्रकाशक (मन्त्राः) विचार के साधक मन्त्र हमारी (अवन्तु) रक्षा करें॥५३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो! जैसे पृथिवी आदि पदार्थ, मेघ और परमेश्वर सब की रक्षा करते हैं वैसे ही विद्या और विद्वान् लोग सबको पालते हैं॥५३॥

इमां गिरमित्यस्य कूर्मगार्त्समद ऋषिः। आदित्या देवताः।
त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ वाग् विषयमाह॥

अब वाणी का वि०॥

इमा गिरं आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि। शृणोतु मित्रो अर्य्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥५४॥

इमाः । गिरः । आदित्येभ्यः । घृतस्नूरिति घृतऽस्नूः । सनात् । राजभ्यऽइति राजऽभ्यः । जुह्वा । जुहोमि । शृणोतु । मित्रः । अर्य्यमा । भगः । नः । तुविजातऽइति तुविऽजातः । वरुणः । दक्षः । अंशः ॥ ५४ ॥

पदार्थः--(इमाः) सत्याः (गिरः) वाचः (आदित्येभ्यः) तेजस्विभ्यः (घृतस्नूः) घृतमुदकमिव प्रदीप्तं व्यवहारं स्नान्ति शोधयन्ति ताः (सनात्) नित्यम् (राजभ्यः) नृपेभ्यः (जुह्वा) ग्रहणसाधनेन (जुहोमि) आददामि (शृणोतु) (मित्रः) सखा (अर्य्यमा) न्यायकारी (भगः) ऐश्वर्य्यवान् (नः) अस्माकम् (तुविजातः) बहुषु प्रसिद्धः (वरुणः) श्रेष्ठः (दक्षः) चतुरः (अंशः) विभाजकः ॥ ५४ ॥

अन्वयः--अहमादित्येभ्यो राजभ्यो या इमा गिरो जुह्वा सनाज्जुहोमि ता घृतस्नूर्नो गिरो मित्रोऽर्य्यमा भगस्तुविजातो दक्षोंऽशो वरुणश्च शृणोतु ॥ ५४ ॥

भावार्थः--विद्यार्थिभिर्या आचार्येभ्यः सुशिक्षिता वाचो गृहीतास्ता अन्य आप्ताः श्रुत्वा सुपरीक्ष्य शिक्षयन्तु ॥ ५४ ॥

पदार्थः--मैं (आदित्येभ्यः) तेजस्वी (राजभ्यः) राजाओं से जिन (इमाः) इन सत्य (गिरः) वाणियों को (जुह्वा) ग्रहण के साधन से (सनात्) नित्य (जुहोमि) ग्रहण स्वीकार करता हूं उन (घृतस्नूः) जल के तुल्य अच्छे व्यवहार को शोधने वाली (नः) हम लोगों की वाणियों को (मित्रः) मित्र (दक्षः) चतुर (अंशः) विभागकर्त्ता और (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष (शृणोतु) सुने ॥ ५४ ॥

भावार्थः—विद्यार्थी लोगों ने आचार्य्यों से जिन सुशिक्षित वाणियों को ग्रहण किया उन को अन्य आप्त लोग सुन और अच्छे प्रकार परीक्षा करके शिक्षा करें ॥ ५४ ॥

सप्तेत्यस्य कण्व ऋषिः। अध्यात्मं प्राणा देवताः।
भुरिग्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥
अथ शरीरेन्द्रियविषयमाह ॥
अब शरीर और इन्द्रियों का वि० ॥

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ ५५ ॥

सप्त। ऋषयः। प्रतिहिता इति प्रतिऽहिताः। शरीरे। सप्त। रक्षन्ति। सदम्। अप्रमादमित्यप्रऽमादम्। सप्त। आपः। स्वपतः। लोकम्। ईयुः। तत्र। जागृतः। अस्वप्रजावित्यस्वप्नऽजौ। सत्रसदाविति सत्रऽसदौ। च। देवौ ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(सप्त) पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च (ऋषयः) विषयप्रापकाः (प्रतिहिताः) प्रतीत्या धृताः (शरीरे) (सप्त) (रक्षन्ति) (सदम्) सीदन्ति यस्मिंस्तत् (अप्रमादम्) (सप्त) (आपः) आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति शरीरमित्यापः (स्वपतः) शयनं प्राप्तस्य (लोकम्) जीवात्मानम् (ईयुः) यन्ति (तत्र) लोकगमनकाले (जागृतः)

(अस्वप्नजौ) स्वप्नो न जायते ययोस्तौ (सत्रसदौ) सतां जीवात्मनां त्राणं सत्रं तत्र सीदतस्तौ (च) (देवौ) दिव्यस्वरूपौ प्राणापानौ ॥ ५५ ॥

अन्वयः–ये सप्तर्षयः शरीरे प्रतिहितास्त एव सप्ताप्रमादं यथा स्यात्तथा सदं रक्षन्ति ते स्वपतः सप्ताप्यः लोकमीयुस्तत्राऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ जागृतः ॥ ५५ ॥

भावार्थः–अस्मिञ्छरीरे स्थिराणि व्यापकानि विषयबोधकानि सान्तःकरणानि ज्ञानेन्द्रियाण्येव सातत्येन शरीरं रक्षन्ति यदा च जीवः स्वपिति तदा तमेवाश्रित्य तमोबलेनान्तर्मुखानि तिष्ठन्ति बाह्यविषयं न बोधयन्ति स्वप्नावस्थायां च जीवात्मरक्षणतत्परौ तमोगुणानभिभूतौ प्राणापानौ जागरणं कुर्वाते अन्यथा यद्यनयोरपि स्वप्नः स्यात्तदा तु मरणमेव सम्भाव्यमितिः॥५५॥

पदार्थः–जो (सप्त, ऋषयः) विषयों अर्थात् शब्दादि को प्राप्त कराने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि ये सात ऋषि इस (शरीरे) शरीर में (प्रतिहिताः) प्रतीति के साथ स्थिर हुए हैं वे ही (सप्त) सात (अप्रमादम्) जैसे प्रमाद अर्थात् भूल न हो वैसे (सदम्)ठहरने के आधार शरीर को (रक्षन्ति रक्षा करते वे (स्वपतः)सोते हुए जन के (आपः) शरीर को व्याप्त होने वाला उक्त (सप्त) सात (लोकम्) जीवात्मा को (ईयुः) प्राप्त होते हैं (तत्र) उस लोक प्राप्ति समय में (अस्वप्नजौ) जिन को स्वप्न कभी नहीं होता (सत्रसदौ) जीवात्माओं की रक्षा करने वाले (च) और (देवौ स्थिर उत्तम गुणों वाले प्राण और अपान (जागृतः) जागते हैं॥ ५५ ॥

भावार्थः–इस शरीर में स्थिर व्यापक विषयों के जानने वाले अन्तःकरण के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय ही निरन्तर शरीर की रक्षा करते और जब जीव सोता है तब उसी को आश्रय कर तमोगुण के बल से भीतर को स्थिर होते किन्तु बाह्य विषय का बोध नहीं कराते और स्वप्नावस्था में जीवात्मा की रक्षा में तत्पर तमोगुण से न दबे हुए प्राण और अपान जगाते हैं अन्यथा यदि प्राण अपान भी सो जावें तो मरण का ही सम्भव करना चाहिये ॥ ५५ ॥

उत्तिष्ठेत्यस्य कण्व ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । निचृद्बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥ विद्वान् किं कुर्यादित्याह ॥
विद्वन् पुरुष क्या करे इस वि० ॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे । उप प्र-
यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥५६॥

उत् । तिष्ठ । ब्रह्मणः । पते । देवयन्त इति देव-
ऽयन्तः । त्वा । ईमहे । उप । प्र । यन्तु । मरुतः । सुदा-
नव इति सुऽदानवः । इन्द्र । प्राशूः । भव । सचा ॥५६॥

पदार्थः—(उत) (तिष्ठ) (ब्रह्मणः) धनस्य (पते) पालक ! (देवयन्तः) देवान् कामयमानाः (त्वा) त्वाम् (ईमहे) याचामहे (उप) (प्र) (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (मरुतः) मनुष्याः (सुदानवः) शोभनदानाः (इन्द्र) ऐश्वर्यकारक ! (प्राशूः) यः प्राश्नाति सः (भव) अत्राद्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (सचा) सत्य समवायेन ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते इन्द्र ! देवयन्तो वयं यन्त्वेमहे यन्त्वा सुदानवो मरुत उप प्रयन्तु स त्वमुत्तिष्ठ सचा प्राशूर्भव ॥ ५६ ॥

भावार्थः—हे विद्वन् ! ये विद्यां कामयमानास्त्वामुपतिष्ठेयुस्तेभ्यो विद्या-दानाय भवानुत्तिष्ठतूद्युक्तो भवतु ॥ ५६ ॥

पदार्थः—हे (ब्रह्मणः) धनके (पते) रक्षक (इन्द्र) ऐश्वर्यकारक विद्वन् ! (देवयन्तः) दिव्य विद्वानों की कामना करते हुए हम लोग जिस (त्वा) आप की (ईमहे) याचना करते हैं जिस आप को (सुदानवः) सुन्दर दान

देने वाले (मरुतः) मनुष्य (उप, प्र, यन्तु) समीप से प्रयत्न के साथ प्राप्त हों सो आप (उत्, तिष्ठ) उठिये और (सचा) सत्य के सम्बन्ध से (प्राशूः) उत्तम भोग करने हारे (भव, हूजिये ॥ ५६ ॥

भावार्थः—हे विद्वन् ! जो लोग विद्या की कामना करते हुए आप का आश्रय लेवें उन के अर्थ विद्या देने के लिये आप उद्यत हूजिये॥ ५६ ॥

प्रनूनमित्यस्य कण्व ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता ।
विराड् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ।
अथेश्वरविषयमाह ॥
अब ईश्वर के वि० ॥

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् । यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ५७ ॥

प्र । नूनम् । ब्रह्मणः । पतिः । मन्त्रम् । वदति । उक्थ्यम् । यस्मिन् । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । देवाः । ओकांसि । चक्रिरे ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(प्र) (नूनम्) निश्चितम् (ब्रह्मणः) वेदविद्यायाः (पतिः) पालकः (मन्त्रम्) (वदति) (उक्थ्यम्) उक्थेषु प्रशंसनीयेषु साधुम् (यस्मिन्) (इन्द्रः) विद्युत्सूर्य्यो वा (वरुणः) जलं चन्द्रो वा (मित्रः) प्राणोऽन्ये वायवश्च (अर्य्यमा) सूत्रात्मा (देवाः) दिव्यगुणाः (ओकांसि) निवासान् (चक्रिरे) कृतवन्तः सन्ति ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽर्यमा देवा ओकांसि च-क्रिरे स ब्रह्मणस्पतिः परमात्मोक्थ्यं मन्त्रं वेदाख्यं नूनं प्रवदतीति वि-जानीत ॥ ५७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यस्मिन् परमात्मनि सर्वं जगत्कारणं कार्यं जीवा-श्च वसन्ति यश्च सर्वेषां जीवानां हितसाधकं वेदोपदेशं कृतवानस्ति तमेव यूयं भजत ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यस्मिन्) जिस परमात्मा में (इन्द्रः) बिजुली वा सू-र्य (वरुणः) जल वा चन्द्रमा (मित्रः) प्राण वा अन्य अपानादि वायु (अर्य-मा) सूत्रात्मा वायु (देवाः) ये सब उत्तम गुण वाले (ओकांसि) निवासों को (चक्रिरे) किये हुए हैं वह (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः) रक्षक जगदीश्वर (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय पदार्थों में श्रेष्ठ (मन्त्रम्) वेदरूप मन्त्र भाग को (नूनम्) नि-श्चय कर (प्र,वदति) अच्छे प्रकार कहता है ऐसा तुम जानो ॥ ५७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस परमात्मा में कार्यकारणरूप सब जगत् जीव वसते हैं तथा जो सब जीवों के हितसाधक वेद का उपदेश करता हुआ उसी की तुम लोग भ-क्ति, सेवा, उपासना करो ॥ ५७ ॥

ब्रह्मणस्पत इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि त-नयं च जिन्व । विश्वन्तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृ-

इदं वदेम विदथे सुवीराः ॥*य इमा विश्वा । विश्वकर्म्मा । यो नः पिता । अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥ ५८ ॥

ब्रह्मणः । पते । त्वम् । अस्य । यन्ता । सूक्तस्येति सुऽउक्तस्यं । बोधि । तनयम् । च । जिन्व । विश्वम् । तत् । भद्रम् । यत् । अवन्ति । देवाः । बृहत् । वदेम । विदथे । सुवीरा इति सुऽवीराः ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(ब्रह्मणः) ब्रह्माण्डस्य (पते) रक्षक! (त्वम्) (अस्य) (यन्ता) नियन्ता (सूक्तस्य) सुष्ठु वक्तुमर्हस्य (बोधि) बोधय (तनयम्) विद्यापुत्रम् (च) (जिन्व) प्रीणीहि (विश्वम्) सर्वम् (तत्) (भद्रम्) कल्याणकरम् (यत्) (अवन्ति) रक्षन्त्युपदिशन्ति (देवाः) विद्वांसः (बृहत्) महत् (वदेम) उपदिशेम (विदथे) विज्ञापनीये व्यवहारे (सुवीराः) शोभनाश्च ते वीराश्च सुवीराः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते ! देवा विदथे यदवन्ति यत् सुवीरा वयं बृहद्वदेम तस्यास्य सूक्तस्य त्वं यन्ता भव तनयं च बोधि तद्भद्रं विश्वं जिन्व ॥५८॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! भवानस्माकं विद्यायाः सत्यस्य व्यवहारस्य च नियन्ता भवत्वस्माकमपत्यानि विद्यावन्ति करोतु सर्वं जगद्यथावद्रक्षतु सर्वत्र न्यायं धर्मं सुशिक्षां परस्परं प्रीतिं च जनयत्विति ॥ ५८ ॥

* अत्र पूर्वोक्तमन्त्राणां चत्वारि प्रतीकानि, य इमा विश्वा १७ । १७ विश्वकर्मा १२ । २६ यो नः पिता १७ । २७ अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि । ११ । ८३ । विशेष कर्म्मणि कार्य्यार्थं धृतानि ॥

अस्मिन्नध्याये मनसो लक्षणं, शिक्षा, विद्येच्छा, विद्वत्सङ्गः, कन्याप्रबोधो, विद्वल्लक्षणं, रक्षायाचनं, बलैश्वर्येच्छा, सोमौषधिलक्षणं, शुभेच्छा, परमेश्वरसूर्यो वर्णनं, स्वरक्षा, प्रातरुत्थानं, पुरुषार्थेनर्द्धिसिद्धिप्रापणमीश्वरस्य जगन्निर्माणं, महाराजवर्णनमश्विगुणकथनमायुर्वर्द्धनं, विद्वत्प्राणलक्षणमीश्वरकृत्यं, चोक्तमतोऽस्याऽध्यायार्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥ ५८ ॥

पदार्थः- हे (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पते) रक्षक ईश्वर ! (देवाः) विद्वान् लोग (विदथे) प्रकट करने योग्य व्यवहार में (यत्) जिस की रक्षा वा उपदेश करते हैं और जिस को (सुवीराः) सुन्दर उत्तम वीर पुरुष हम लोग (बृहत्) बड़ा श्रेष्ठ (वदेम) कहें उस (अस्य) इस (सूक्तस्य) अच्छे प्रकार कहने योग्य वचन के (त्वम्) आप (यन्ता) नियम कर्त्ता हूजिये (च) और (तनयम्) विद्या का शुद्ध विचार करने हारे पुत्रवत् प्रियपुरुष को (बोधि) बोध कराइये तथा (तत्) उस (भद्रम्) कल्याणकारी (विश्वम्) सब जीव मात्र को (जिन्व) तृप्त कीजिये ॥ ५८ ॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! आप हमारी विद्या और सत्य व्यवहार के नियम करने वाले हूजिये हमारे सन्तानों को विद्यायुक्त कीजिये सब जगत् की यथावत् रक्षा, न्याययुक्त धर्म, उत्तम शिक्षा और परस्पर प्रीति उत्पन्न कीजिये ॥ ५८ ॥

इस अध्याय में मन का लक्षण, शिक्षा, विद्या की इच्छा, विद्वानों का सङ्ग, कन्याओं का प्रबोध, चेतनता, विद्वानों का लक्षण, रक्षा की प्रार्थना, बल, ऐश्वर्य की इच्छा, सोम ओषधि का लक्षण, शुभ कर्म की इच्छा, परमेश्वर और सूर्य का वर्णन, अपनी रक्षा, प्रातःकाल का उठना, पुरुषार्थ से ऋद्धि और सिद्धि पाना, ईश्वर के जगत् का रचना, महाराजाओं का वर्णन, ईश्वर के गुणों का कथन, अवस्था का बढ़ाना, विद्वान् और प्राणों का लक्षण और ईश्वर का कर्त्तव्य कहा है। इस से इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतपरमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तिमगमत् ॥
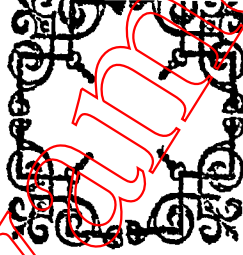
ओ३म्

अथ पञ्चत्रिंशाध्यायारम्भः ॥

ओ३म् । विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

अपेत्यस्य आदित्या देवा वा ऋषयः । पितरो देवताः । पूर्वस्य पिपीलिकामध्यागायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । द्युभिरित्युत्तरस्य प्राजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ व्यवहारजीवयोर्गतिमाह ॥

अब व्यवहार और जीव की गति वि० ॥

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः । अस्य लोकः सुतावतः । द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ १ ॥

अप । इतः । यन्तु । पणयः । असुम्ना । देवपीयवऽइति देवऽपीयवः । अस्य । लोकः । सुतावतः । सुतवतऽइति सुतऽवतः । द्युभिरिति द्युभिः । अहोभिरित्यहःऽभिः । अक्तुभिरित्यक्तुऽभिः । व्यक्तमिति विऽअक्तम् । यमः । ददातु । अवसानमित्यवऽसानम् । अस्मै ॥ १ ॥

पदार्थः—(अप) दूरीकरणे (इतः) अस्मात् (यन्तु) गच्छन्तु (पणयः) व्यवहारिणः (असुम्ना) असुखानि दुःखानि ।

सुम्नमिति सुखना० निघं० ३।६ (देवपीयवः) ये देवानां विदुषां द्वेष्टारः (अस्य) (लोकः) दर्शनीयः (सुतावतः) प्रशस्तानि सुतानि वेदविद्वत्प्रेरितानि कर्माणि यस्य त-स्य (द्युभिः) प्रकाशमानैः (अहोभिः) दिनैः (अक्तुभिः) रात्रिभिः (व्यक्तम्) प्रसिद्धम् (यमः) यन्ता (दद्रातु) (अ-वसानम्) अवकाशम् (अस्मै) ॥ १ ॥

अन्वयः-ये देवपीयवः पणयोऽसुम्नान्यन्येभ्यो ददति त इतोऽपयन्तु । लोको यमो द्युभिरहोभिरक्तुभिरस्य सुतावतो जनस्य सम्बन्धिनेऽस्मै व्यक्त-मवसानं ददातु ॥ १ ॥

भावार्थः-य आप्तान्विदुषो द्विषन्ति ते मद्यो दुःखमाप्नुवन्ति । ये जीवाः शरीरं त्यक्त्वा गच्छन्ति तेभ्यो यथायोग्यमवकाशं दत्वा परमेश्वरस्तेषां क-र्मानुसारेण सुखदुःखानि ददाति ॥ १ ॥

पदार्थः-जो (देवपीयवः) विद्वानों के द्वेषी (पणयः) व्यवहारी लोग दूसरों के लिये (असुम्ना) दुखों को देते हैं वे (इतः) यहां से (अप, यन्तु) दूर जावें (लोकः) देखने योग्य (यमः) सब का नियन्ता परमात्मा (द्युभिः) प्रकाशमान (अहोभिः) दिन (अक्तुभिः) और रात्रियों के साथ (अस्य) इस (सुतावतः) वेद वा विद्वानों से प्रेरित प्रशस्त कर्मों वाले जनों के सम्बन्धी (अस्मै) इस मनुष्य के लिये (व्यक्तम्) प्रसिद्ध (अवसानम्) अवकाश को (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थः-जो लोग आप्त सत्यवादी धर्मात्मा विद्वानों से द्वेष करते वे शीघ्र ही दुःख को प्राप्त होते हैं, जो जीव शरीर छोड़ के जाते हैं उन के लिये यथायोग्य अव-काश देकर उन के कर्मानुसार परमेश्वर सुख दुःख फल देता है ॥ १ ॥

सविता तवित्यस्य आदित्या देवा ऋषयः । सविता देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरीश्वरकर्त्तव्यविषयमाह ॥
फिर ईश्वर के कर्त्तव्य वि० ॥

सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु । तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः ॥ २ ॥

सविता । ते । शरीरेभ्यः । पृथिव्याम् । लोकम् । इच्छतु । तस्मै । युज्यन्ताम् । उस्रियाः ॥ २ ॥

पदार्थः—(सविता) परमात्मा (ते) तव (शरीरेभ्यः)देहेभ्यः (पृथिव्याम्) अन्तरिक्षे भूमौ वा (लोकम्) कर्मानुकूलं सुखदुःखप्रापकम् (इच्छतु) (तस्मै)(युज्यन्ताम्)(उस्रियाः)किरणाः । उस्रा इति रश्मिना० निघं० १। ५ ॥ २ ॥

अन्वयः-हे जीव ! सविता यस्य ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु तस्मै तुभ्यमुस्रिया युज्यन्ताम् ॥ २ ॥

भावार्थः—हे जीवा ! यो जगदीश्वरो युष्मभ्यं सुखमिच्छति किरणद्वारा लोकलोकान्तरं प्रापयति स एव युष्माभिर्न्यायकारी मन्तव्यः ॥ २ ॥

पदार्थः—हे जीव ! (सविता) परमात्मा जिस (ते) तेरे (शरीरेभ्यः) जन्मजन्मान्तरों के शरीरों के लिये (पृथिव्याम्) अन्तरिक्ष वा भूमि में (लोकम्) कर्मों के अनुकूल सुख दुःख के साधन प्रापक स्थान को (इच्छतु) चाहे (तस्मै) उस तेरे लिये (उस्रियाः) प्रकाशरूप किरण (युज्यन्ताम्) अर्थात् उपयोगी हों ॥ २ ॥

भावार्थः—हे जीवो ! जो जगदीश्वर तुम्हारे लिये सुख चाहता है और किरणों के द्वारा लोकलोकान्तर को पहुंचाता है वही तुम लोगों को न्यायकारी मानना चाहिये ॥ २ ॥

वायुरित्यस्य आदित्या देवा वा ऋषयः । सविता देवता । उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

जीवानां कर्मगतिविषयमाह ॥
जीवों की कर्मगति का वि० ॥

वायुः पुनातु सविता पुंनात्वग्नेर्भ्राजंसा सूर्य्यस्य वर्चसा । विमुच्यन्तामुस्रियाः ॥ ३ ॥

वायुः । पुनातु । सविता । पुनातु । अग्नेः । भ्राजंसा । सूर्य्यस्य । वर्चसा । वि । मुच्यन्ताम् । उस्रियाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(वायुः) (पुनातु) पवित्रयतु (सविता) सूर्यः (पुनातु) (अग्नेः) विद्युतः (भ्राजसा) दीप्त्या (सूर्यस्य) (वर्चसा) प्रकाशेन (वि) (मुच्यन्ताम्) त्यज्यन्ताम् (उस्रियाः) किरणाः ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! वायुरग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा यामस्मान् पुनातु सविता पुनातु उस्रिया विमुच्यन्ताम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—यदा जीवाः शरीराणि त्यक्त्वा विद्युतं सूर्यप्रकाशं वाय्वादीनि च प्राप्य गच्छन्ति गर्भं प्रविशन्ति तदा किरणास्तान् त्यजन्ति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (वायुः) पवन (अग्नेः) बिजुली की (भ्राजसा) दीप्ति से (सूर्यस्य) सूर्य के (वर्चसा) तेज से जिन हम लोगों को (पुनातु) पवित्र करे (सविता) सूर्य (पुनातु) पवित्र करे (उस्रियाः) किरण (मुच्यन्ताम्) छोड़ें ॥३॥

भावार्थः—जब जीव शरीरों को छोड़ के विद्युत् सूर्य के प्रकाश और वायु आदि को प्राप्त होकर जाते हैं और गर्भ में प्रवेश करते हैं तब किरण उनको छोड़ देती हैं ॥ ३ ॥

अश्वत्थ इत्यस्य आदित्या देवा ऋषयः । वायुः सविता देवते । अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥४॥

अश्वत्थे । वः । निषदनम् । निसदनमिति निऽसदनम् । पर्णे । वः । वसतिः । कृता । गोभाजऽइति गोऽभाजः । इत् । किल । असथ । यत् । सनवथ । पूरुषम् । पुरुषमिति पुरुषम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अश्वत्थे) श्वः स्थास्यति न स्थास्यति वा तस्मिन्ननित्ये संसारे (वः) युष्माकम् (निषदनम्) स्थापनम् (पर्णे) पर्णवच्चंचले जीवने (वः) युष्माकम् (वसतिः) निवसति : (कृता) (गोभाजः) ये गाः पृथिवीं वाचमिन्द्रियाणि किरणान् वा भजन्ति ते (इत्)

एथ (किल) (असथ) भवथ (यत्) (सनवथ) से-व्यम् (पूरुषम्) सर्वत्र पूर्णं परमात्मानम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे जीवा ! येन जगदीश्वरेणाऽश्वत्थे वो निषदनं कृतं पर्णे वो वसतिः कृता यत्पूरुषं किल सनवथ तेन सह गोभाज इद्यूयं प्रयत्नेन धर्मेऽसथ ॥४॥

भावार्थः—मनुष्यैरनित्ये संसारेऽनित्यानि शरीराणि पदार्थांश्च प्राप्य क्षणभङ्गुरे जीवने धर्माचरणेन नित्यं परमात्मानमुपास्याऽऽत्मपरमात्मसंयोगजं नित्यं सुखं प्रापणीयम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे जीवो ! जिस जगदीश्वर ने (अश्वत्थे) कल ठहरेगा वा नहीं ऐसे अनित्य संसार में (वः) तुम लोगों की (निषदनम्) स्थिति की (पर्णे) पत्ते के तुल्य चञ्चल जीवन में (वः) तुम्हारा (वसतिः) निवास (कृता) किया (यत्) जिस (पुरुषम्) सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा को (किल) ही (सनवथ) सेवन करो उसके साथ (गोभाजः) पृथिवी वाणी इन्द्रिय वा किरणों का सेवन करने वाले (इत्) ही तुम लोग प्रयत्न के साथ धर्म में स्थिर (असथ) होओ ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अनित्य संसार में अनित्य शरीरों और पदार्थों को प्राप्त होके क्षणभंगुर जीवन में धर्माचरण के साथ नित्य परमात्मा की उपासना कर आत्मा और परमात्मा के संयोग से उत्पन्न हुए नित्य सुख को प्राप्त हों ॥ ४ ॥

सवितेत्यस्यादित्या देवा वा ऋषयः । वायुसवितारौ देवते ।

अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कन्या किं कुर्यादित्याह ॥

कन्या क्या करे इस वि० ॥

सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आ वपतु । तस्मै पृथिवि शं भव ॥ ५ ॥

सविता । ते । शरीराणि । मातुः । उपस्थऽइत्युपऽस्थे । आ । वपतु । तस्मै । पृथिवि । शम् । भव ॥ ५ ॥

पदार्थः—(सविता) उत्पत्तिकर्त्ता पिता (ते) तव (शरीराणि) आश्रयान् (मातुः) जननीवन्मान्यप्रदायाः पृथिव्याः (उपस्थे) समीपे (आ) (वपतु) स्थापयतु (तस्मै) (पृथिवि) भूमिवद्वर्त्तमाने कन्ये (शम्) सुखकारिणी (भव) ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे पृथिवि ! त्वं यस्यास्ते शरीराणि मातुरुपस्थे स पिता आ वपतु सा त्वं तस्मै पित्रे शम्भव ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे कन्ये ! युष्माभिर्विवाहानन्तरमपि जनकस्य जनन्याश्च मध्ये प्रीतिर्नैव त्याज्या कुतस्ताभ्यामेव युष्माकं शरीराणि निर्मितानि पालितानि च सन्त्यतः ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे (पृथिवि) भूमि के तुल्य सहनशील कन्या तू जिस (ते) तेरे (शरीराणि) आश्रयों को (मातुः) माता के तुल्य मान्य देने वाली पृथिवी के (उपस्थे) समीप में (सविता) उत्पत्ति करने वाला पिता (आ, वपतु) स्थापित करे सो तू (तस्मै) उस पिता के लिये (शम्) सुखकारिणी (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे कन्याओ ! तुम को उचित है कि विवाह के पश्चात् भी माता और पिता में प्रीति न छोड़ो क्योंकि उन्हीं दोनों से तुह्मारे शरीर उत्पन्न हुए और पाले गये हैं इस से ॥ ५ ॥

प्रजापतावित्यस्यादित्या देवा ऋषयः । प्रजापतिर्देवता । उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

ईश्वरोपासनविषयमाह ॥

ईश्वर की उपासना का वि० ॥

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ । अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

प्रजापताविति प्रजाऽपतौ । त्वा । देवतायाम् । उपोदकऽइत्युपऽउदके । लोके । नि । दधामि । असौ । अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(प्रजापतौ) प्रजायाः पालके परमेश्वरे (त्वा) त्वाम् (देवतायाम्) पूजनीयायाम् (उपोदके) उपगतान्युदकानि यस्मिंस्तस्मिन् (लोके) दर्शनीये (नि) (दधामि) (असौ) (अप) (नः) अस्माकम् (शोशुचत्) भृशं शोषयतु (अघम्) पापम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे जीव ! योऽसौ नोऽघमपशोशुचत्तस्यां प्रजापतौ देवतायामुपोदके लोके च त्वा निदधामि ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यो जगदीश्वर उपासितः सन् पापाचरणात् पृथक् कारयति तस्मिन्नेव भक्तिकरणाय युष्मानहं स्थिरीकरोमि येन सदैव यूयं श्रेष्ठं सुखदर्शनं प्राप्नुयात ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे जीव ! जो (असौ) यह लोक (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप, शोशुचत्) शीघ्र सुखा देवे उस (प्रजापतौ) प्रजा के रक्षक (देवतायाम्) पूजनीय परमेश्वर में तथा (उपोदके) उपगत समीपस्थ उदक जिस में हो (लोके) दर्शनीय स्थान में (त्वा) आप को (निदधामि) निरन्तर धारण करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो जगदीश्वर उपासना किया हुआ पापाचरण से पृथक् कराता है उसी में भक्ति करने के लिये तुम को मैं स्थिर करता हूं जिस से सदैव तुम लोग श्रेष्ठ सुख के देखने को प्राप्त होओ ॥ ६ ॥

परमित्यस्य सङ्कसुक ऋषिः । यमो देवता ॥
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥
फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳬं रीरिषो मोत वीरान् ॥ ७ ॥

परम् । मृत्योऽइति मृत्यो । अनु । परा । इहि । पन्थाम् । यः । ते । अन्यः । इतरः । देवयानादिति देवऽयानात् । चक्षुष्मते । शृण्वते । ते । ब्रवीमि । मा । नः । प्रजामिति प्रऽजाम् । रीरिषः । रिरिषऽइति रिरिषः । मा । उत । वीरान् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(परम्) प्रकृष्टम् (मृत्यो) मृत्युः । अत्र व्यत्ययः (अनु) (परा) (इहि) दूरं गच्छतु (पन्थाम्) मार्गम् (यः) (ते) तव (अन्यः) (इतरः) भिन्नः (देवयानात्) देवा विद्वांसो यान्ति यस्मिँस्तस्मात् (चक्षुष्मते) प्रशस्तं चक्षुर्विद्यते यस्य तस्मै (शृण्वते) यः शृणोति तस्मै (ते) तुभ्यम् (ब्रवीमि) उपदिशामि (मा) (नः) अस्माकम् (प्रजाम्) (रीरिषः) हिंस्याः (मा) (उत) अपि (वीरान्) प्राप्तविद्यान् शरीरबलयुक्तान् ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यस्ते देवयानादितरोऽन्यो मार्गोऽस्ति तं पन्थानं मृत्यो परेहि मृत्युः परैतु यतस्त्वं परं देवयानमन्विहि अतएव चक्षुष्मते शृण्वतेऽहं ते

ब्रवीमि यथा मृत्युर्नः प्रजां न हिंस्यादुतापि वीरान्न हन्यात्तथा त्वं प्रजां मा रीरिष उतापि वीरान् मा रीरिषः ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यावज्जीवनं तावद्विद्वन्मार्गेण गत्वा परमायुर्लब्धव्यम् । कदाचिद्विना ब्रह्मचर्येण स्वयंवरं कृत्वाऽल्पायुषीः प्रजा नोत्पादनीया नचैतासां ब्रह्मचर्यानुष्ठानेन वियोगः कर्त्तव्यः ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य! (यः) जो (ते) तेरा (देवयानात्) जिस मार्ग से विद्वान् लोग चलते उससे (इतरः) भिन्न (अन्यः) और मार्ग है उस (पन्थाम्) मार्ग को (मृत्यो) मृत्यु (परा, इहि) दूर जावे जिस कारण तू (परम्) उत्तम देवमार्ग को (अनु) अनुकूलता से प्राप्त हो इसी से (चक्षुष्मते) उत्तम नेत्रवाले (शृण्वते) सुनते हुए (ते) तेरे लिये (ब्रवीमि) उपदेश करता हूं जैसे मृत्यु (नः) हमारी प्रजा को न मारे और वीर पुरुषों को भी न मारे वैसे तू (प्रजाम्) सन्तानादि को (मा, रीरिषः) मत मार वा विषयादि से नष्ट मत कर (उत) और (वीरान्) विद्या और शरीर के बल से युक्त वीर पुरुषों को (मा) मत नष्ट कर ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जीवन पर्यन्त विद्वानों के मार्ग से चल के उत्तम अवस्था को प्राप्त हों और ब्रह्मचर्य के विना स्वयंवर विवाह करके कभी न्यून अवस्था की प्रजा सन्तानों को न उत्पन्न करें और न इन सन्तानों को ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से अलग रक्खें ॥ ७ ॥

शं वात इत्यस्य आदित्या देवा वा ऋषयः । विश्वेदेवा देवताः । अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सृष्टिस्थाः पदार्थाः कथं मनुष्याणां सुखकारिणः स्युरित्याह ॥

सृष्टि के पदार्थ मनुष्यों को कैसे सुखकारी हों इस वि० ॥

शं वातः शꣳहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः । शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभिशूशुचन् ॥ ८ ॥

शम् । वार्तः । शम् । हि । ते । घृणिः । शम् । ते । भवन्तु । इष्टकाः । शम् । ते । भवन्तु । अग्नयः । पार्थिवासः । मा । त्वा । अभि । शूशुचन् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(शम्) सुखकरः (वातः) वायुः (शम्) (हि) यतः (ते) (घृणिः) रश्मिवान् सूर्य्यः (शम्) (ते) (भवन्तु) (इष्टकाः) वेद्यां चिताः (शम्) (ते) (भवन्तु) (अग्नयः) पावकाः (पार्थिवासः) पृथिव्यां विदिताः (मा) (त्वा) त्वाम् (अभि) (शूशुचन्) भृशं शोकं कुर्युः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे जीव ! ते वातः शं भवतु घृणिः शं हि भवतु इष्टकास्ते शं भवन्तु पार्थिवासोऽग्नयस्ते शं भवन्त्वेते त्वामभि शूशुचन् ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे जीवास्तथैव युष्माभिर्धर्म्ये व्यवहारे वर्त्तितव्यं यथा जीवतां मृतानां च युष्माकं सृष्टिस्था वाय्वादयः पदार्थाः सुखकराः स्युः ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे जीव ! (ते) तेरे लिये (वातः) वायु (शम्) सुखकारी हो (घृणिः) किरण युक्त सूर्य्य (शम् , हि) सुखकारी हो (इष्टकाः) वेदी में चयन की हुई ईंटें तेरे लिये (शम्)सुखदायिनी (भवन्तु) हों (पार्थिवासः) पृथिवी पर प्रसिद्ध (अग्नयः) विद्युत् आदि अग्नि (ते) तेरे लिये (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) होवें, ये सब (त्वा) तुझ को (मा, अभि, शूशुचन्) सब ओर से शीघ्र शोककारी न हों ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे जीवो ! वैसे ही तुमको धर्मयुक्त व्यवहार में वर्त्तना चाहिये जैसे जीने वा मरने बाद भी तुम को सृष्टि के वायु आदि पदार्थ सुखकारी हों ॥ ८ ॥

कल्पन्तामित्यस्यादित्या देवा ऋषयः। विश्वे देवा देवताः। विराट् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

कल्पन्तान्ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः। अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः ॥ ९ ॥

कल्पन्ताम्। ते। दिशः। तुभ्यम्। आपः। शिवतमा इति शिवऽतमाः। तुभ्यम्। भवन्तु। सिन्धवः। अन्तरिक्षम्। शिवम्। तुभ्यम्। कल्पन्ताम्। ते। दिशः। सर्वाः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(कल्पन्ताम्) समर्था भवन्तु (ते) तुभ्यम् (दिशः) पूर्वाद्याः (तुभ्यम्) (आपः) प्राणा जलानि वा (शिवतमाः) अतिशयेन सुखकराः (तुभ्यम्) (भवन्तु) (सिन्धवः) नद्यः समुद्रा वा (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (शिवम्) सुखकरम्। शिवमिति सुखना० निघं० ३। ६ (तुभ्यम्) (कल्पन्ताम्) (ते) तुभ्यम् (दिशः) ऐशान्याद्याः (सर्वाः) समग्राः॥९॥

अन्वयः—हे जीव! ते दिशश्शिवतमाः कल्पन्तां तुभ्यमापः शिवतमा भवन्तु तुभ्यं सिन्धवः शिवतमा भवन्तु तुभ्यं शिवमन्तरिक्षं भवतु ते सर्वा दिशः शिवतमाः कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—येऽधर्मं विहाय सर्वथा धर्ममाचरन्ति तेभ्यः पृथिव्यादयः सर्वे सृष्टिस्थाः पदार्था मङ्गलकारिणो भवन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे जीव (ते) तेरे लिये (दिशः) पूर्व आदि दिशा (शिवतमाः) अत्यन्त सुखकारिणी (कल्पन्ताम्) समर्थ हों (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) प्राण वा जल अतिसुखकारी हों (तुभ्यम्) तेरे लिये (सिन्धवः) नदियां वा समुद्र अति-सुखकारी (भवन्तु) होवें (तुभ्यम्) तेरे लिये (अन्तरिक्षम्) आकाश (शिवम्) कल्याणकारी हो और (ते) तेरे लिये (सर्वाः) सब (दिशः) ईशानादि विदिशा अत्यन्त कल्याणकारी (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो लोग अधर्म को छोड़ कर सब प्रकार से धर्म का आचरण करते हैं उन के लिये पृथिवी आदि सृष्टि के सब पदार्थ अत्यन्त मङ्गलकारी होते हैं ॥ ९ ॥

अश्मन्वतीत्यस्य सुचीक ऋषिः । विश्वे देवा देवताः ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
के दुःखात्तरन्तीत्याह ॥
कौन लोग दुःख के पार होते हैं इस वि० ॥

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः । अत्रा जहीमोऽशिवा ये असꣳञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ १० ॥

अश्मन्वतीत्यश्मन्ऽवती । रीयते । सम् । रभध्वम् । उत् । तिष्ठत । प्र । तरत । सखायः । अत्र । जहीमः । अशिवाः । ये । असन् । शिवान् । वयम् । उत् । तरेम । अभि । वाजान् ॥ १० ॥

पदार्थः—(अश्मन्वती) बहवोऽश्मानो मेघाः पाषाणा वा विद्यन्ते यस्यां सृष्टौ नद्यां वा सा (रीयते) गच्छति

(सम्) सम्यक् (रभध्वम्) प्रारम्भं कुरुत (उत) (तिष्ठत) उद्यता भवत (प्र) (तरत) दुःखान्युल्लङ्घयत । अत्र संहितायामिति दीर्घः (सखायः) सुहृदः सन्तः (अत्र) अस्मिन् संसारे समये वा । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (जहीमः) त्यजामः (अशिवाः) अकल्याणकराः (ये) (असन्) सन्ति (शिवान्) सुखकरान् (वयम्) (उत्) (तरेम) उल्लंघयेम (अभि) (वाजान्) अत्युत्तमानन्नादिभोगान् ॥ १० ॥

अन्वयः—हे सखायो ! याश्मन्वती रीयते तया वयं येऽत्राशिवा असँस्तान् जहीमः शिवान्वाजानभ्युत्तरेम तथा यूयं संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत च ॥ १० ॥

भावार्थः—ये मनुष्या बृहत्या नौकया समुद्रमिवाऽशुभाचरणानि दुष्टांश्च तीर्त्वा प्रयत्नेनोद्यमिनो भूत्वा मङ्गलान्याचरेयुस्ते दुःखसागरं सहजतः सन्तरेयुः ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (सखायः) मित्रो जो (अश्मन्वती) बहुत मेघों वा पत्थरों वाली सृष्टि वा नदी प्रवाह से (रीयते) चलती है उस के साथ जैसे (वयम्) हम लोग (ये) जो (अत्र) इस जगत् में वा समय में (अशिवाः) अकल्याणकारी (असन्) हैं उनको (जहीमः) छोड़ते हैं तथा (शिवान्) सुखकारी (वाजान्) अत्युत्तम अन्नादि के भागों को (अभि, उत्, तरेम) सब ओर से पार करें अर्थात् भोग चुकें वैसे तुम लोग (संरभध्वम्) सम्यक् आरंभ करो (उत्तिष्ठत) उद्यत होओ और (प्रतरत) दुःखों का उल्लंघन करो ॥ १० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य बड़ी नौका से समुद्र के जैसे पार हों वैसे अशुभ आचरणों और दुष्ट जनों के पार हो प्रयत्न के साथ उद्यमी होके मङ्गलकारी आचरण करें वे दुःखसागर के सहज से पार होवें ॥ १० ॥

अपाघमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । आपो देवताः । विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ के पवित्रकारका इत्याह ॥

अब कौन मनुष्य पवित्र करने वाले हैं इस वि० ॥

अपाघमप किल्विषमप कृत्यामपो रपः ।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव ॥ ११ ॥

अप । अघम् । अप । किल्विषम् । अप । कृत्याम् । अपोऽइत्यपो । रपः । अपामार्ग । अपमार्गेत्यपऽमार्ग । त्वम् । अस्मत् । अप । दुःष्वप्न्यम् । दुःष्वप्न्यमिति दुःऽस्वप्न्यम् । सुव ॥ ११ ॥

पदार्थः-(अप) दूरीकरणे (अघम्) पापम् (अप) (किल्विषम्) स्वान्तस्थं मलम् (अप) (कृत्याम्) दुष्क्रियाम् (अपो) दूरीकरणे (रपः) वाह्येन्द्रियचाञ्चल्यजन्यमपराधम् (अपामार्ग) रोगनिवारकोऽपामार्गओषधिरिव पापदूरीकर्त्तः (त्वम्) (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (अप) (दुःष्वप्न्यम्) दुष्टश्चासौ स्वप्नो निद्रा च तस्मिन् भवम् (सुव) प्रेरय ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे अपामार्ग ! त्वमस्मदघमपसुव किल्विषमपसुव कृत्यामपसुव रपोऽपोसुव दुःष्वप्न्यमपसुव ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथाऽपामार्गाद्योषधयो रोगान्निवार्य्य प्राणिनः सुखयन्ति तथा स्वयं सर्वेभ्यो दोषेभ्यः पृथग्भूत्वाऽन्यानशुभाचरणात्

पृथक् कृत्वा ये शुद्धा भवन्त्यन्यान् भावयन्ति च त एव मनुष्यादीनां पवित्रकराः सन्ति ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे (अपामार्ग) अपामार्ग ओषधि जैसे रोगों को दूर करती वैसे पापों को दूर करने वाले सज्जन पुरुष ! (त्वम्) आप (अस्मत्) हमारे निकट से (अघम्) पाप को (अप, सुव) दूर कीजिये (किल्बिषम्) मन की मलिनता को आप दूर कीजिये (कृत्याम्) दुष्क्रिया को (अप) दूर कीजिये (रपः) बाह्य इन्द्रियों के चंचलता रूप अपराध को (अपो) दूर कीजिये और (दुःष्वप्न्यम्) बुरे प्रकार की निद्रा में होने वाले बुरे विचार को (अप) दूर कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जो मनुष्य जैसे अपामार्ग आदि ओषधियां रोगों को निवृत्त कर प्राणियों को सुखी करती हैं वैसे आप सब दोषों से पृथक् होके अन्य मनुष्यों को अशुभ आचरण से अलग कर शुद्ध होते और दूसरों को करते हैं वे ही मनुष्यादि को पवित्र करने वाले हैं ॥ ११ ॥

सुमित्रियान इत्यस्यादित्या देवा ऋषयः । आपो देवताः ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १२ ॥

सुमित्रिया इति सुऽमित्रियाः । नः । आपः । ओषधयः । सन्तु । दुर्मित्रिया इति दुःऽमित्रियाः । तस्मै । सन्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः ॥ १२ ॥

पदार्थः–(सुमित्रियाः) शोभना मित्रा इव (नः) अस्मभ्यम् (आपः) प्राणा जलानि वा (ओषधयः) सोमाद्याः (सन्तु) (दुर्मित्रियाः) दुर्मित्राः शत्रव इव दुःखप्रदाः (तस्मै) (सन्तु) (यः) (अस्मान्) धर्मात्मनः (द्वेष्टि) अप्रसन्नयति (यम्) दुष्टाचारिणम् (च) (वयम्) (द्विष्मः) अप्रीतयामः ॥१२॥

अन्वयः–हे मनुष्या ! या आप ओषधयो नोऽस्मभ्यं सुमित्रियाः सन्तु ता युष्मभ्यमपि तादृश्यो भवन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मा एता दुर्मित्रियाः स ॥ १२ ॥

भावार्थः–ये रागद्वेषादिदोषान् विहाय सर्वेषु स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तेभ्यो धर्मात्मभ्यः सर्वे जलौषध्यादयः पदार्थाः सुखकरा भवन्ति ये च स्वात्मपोषकाः परद्वेषिणस्तेभ्योऽधर्मात्मभ्यः सर्व एते दुःखकरा भवन्ति मनुष्यैर्धर्मात्मभिः सह प्रीतिर्दुष्टात्मभिः सहाऽप्रीतिश्च सततं कार्या परन्तु तेषामप्यन्तःकरणेन कल्याणमेषणीयम् ॥१२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (आपः) प्राण वा जल तथा (ओषधयः) सोमादि ओषधियां (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) सुन्दर मित्रों के तुल्य हितकारिणी (सन्तु) होवें तुम्हारे लिये भी वैसी हों (यः) जो (अस्मान्) हम धर्मात्माओं से (द्वेष्टि) द्वेष करता (च) और (यम्) जिस दुष्टाचारी से (वयम्) हम लोग (द्विष्मः) अप्रीति करें (तस्मै) उस के लिये वे पदार्थ (दुर्मित्रियाः) शत्रुओं के तुल्य दुःखदायी (सन्तु) होवें ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो राग द्वेष आदि दोषों को छोड़ कर सब में अपने आत्मा के तुल्य वर्त्ताव करते हैं उन धर्मात्माओं के लिये सब जल ओषधि आदि पदार्थ सुखकारी होते और जो स्वार्थ में प्रीति तथा दूसरों से द्वेष करने वाले हैं उन अधर्मियों के लिये ये सब

उक्त पदार्थ दुःखदायी होते हैं मनुष्यों को चाहिये कि धर्मात्माओं के साथ प्रीति और दुष्टों के साथ निरन्तर अप्रीति करें परन्तु उन दुष्टों का भी चित्त से सदा कल्याण ही चाहें ॥ १२ ॥

अनड्वानित्यस्यादित्या देवा ऋषयः कृषीवला देवताः । स्वराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

के मनुष्याः कार्यं साद्धुं शक्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं इस वि० ॥

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳ स्वस्तये ।
स न इन्द्र इव देवेभ्यो वह्निः सन्तरणो भव ॥१३॥

अनड्वाहम् । अन्वारभामहऽइत्यनुआरभामहे । सौरभेयम् । स्वस्तये । सः । नः । इन्द्रऽइवेतीन्द्रःऽइव । देवेभ्यः । वह्निः । सन्तरणऽइति सम्ऽतरणः । भव ॥१३॥

पदार्थः—(अनड्वाहम्) योऽनांसि शकटानि वहति तद्वद्वर्त्तमानम् (अन्वारभामहे) यानानि रचयित्वा तत्र स्थापयेम (सौरभेयम्) सुरभ्या अपत्यम् (स्वस्तये) सुखाय (सः) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र इव) विद्युदिव (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (वह्निः) सद्यो वोढाग्निः (सन्तरणः) यः सम्यगध्वनस्तारयति पारं करोति सः (भव) भवतु ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यो वह्निर्देवेभ्यः सन्तरणो भवति तं सौरभेयमनड्वाहमिव वर्त्तमानमग्निं वयं स्वस्तयेऽन्वारभामहे । स तुभ्यं इन्द्र इव भव भवतु॥१३॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्युदाद्यग्निविद्यया यानादीनि कार्य्याणि कर्त्तुमारभन्ते ते बलिष्ठैर्वृषभैः कृषीवला इव स्वकार्य्याणि साद्धुं शक्नुवन्ति विद्युदिवे तस्ततो गन्तुञ्च ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जो (वह्निः) शीघ्र पहुंचाने वाला अग्नि (नः, देवेभ्यः) हम विद्वानों के लिये (सन्तरणः) सम्यक् मार्गों से पार करने वाला होता है उस (सौरभेयम्) सुरा गौ के सन्तान (अनड्वाहम्) गाड़ी आदि को खींचने वाले बैल के तुल्य वर्त्तमान अग्नि के हम लोग (स्वस्तये) सुख के लिये (अन्वारभामहे) यान बना के उन में प्राणियों को स्थिर करें (सः) वह आप के लिये (इन्द्र इव) विजुली के तुल्य (भव) होवें ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विजुली आदि अग्नि की विद्या से यान बनाने आदि कार्य्यों के करने का अभ्यास करते हैं वे अतिबली बैलों से खेती करने वालों के समान कार्य्यों को सिद्ध कर सकते और विद्युत् अग्नि के तुल्य शीघ्र इधर उधर जा सकते हैं ॥ १३ ॥

उद्वयन्तमित्यस्यादित्या देवा ऋषयः । सूर्य्यो देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

के मोक्षमधिगच्छन्तीत्याह ॥

कौन मोक्ष को पाते हैं इस वि० ॥

उद्वयन्तम॑स॒स्परि॒ स्वः पश्य॑न्त॒ उत्त॑रम् । दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ १४॥

उत् । व॒यम् । तम॑सः । परि॑ । स्व॒रिति॒ स्वः॑ । प॒श्य॑न्तः । उत्त॑र॒मित्युत्ऽत॑रम् । दे॒वम् । दे॒व॒त्रेति॑ दे॒व॒ऽत्रा । सूर्य॑म् । अग॑न्म । ज्योतिः॑ । उ॒त्त॒ममित्यु॑त्ऽत॒मम् ॥ १४ ॥

पदार्थः-(उत्) (वयम्) (तमसः) अन्धकारात् (परि) वर्जने (स्वः) स्वप्रकाशमादित्यम् (पश्यन्तः) प्रेक्षमाणाः (उत्तरम्) दुःखेभ्य उत्तारकं परत्र वर्त्तमानम् (देवम्) विजयादिलाभप्रदम् (देवत्रा) देवेषु विद्वत्सु प्रकाशमयेषु सूर्यादिषु वा (सूर्यम्) अन्तर्यामिरूपेण स्वव्याप्त्या चराऽचरात्मानं परमात्मानम् (अगन्म) विजानीयाम (ज्योतिः) स्वप्रकाशम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् ॥ १४ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या! वयं यं तमसस्परं स्वरिव वर्त्तमानं देवत्रा देवं ज्योतिरुत्तममुत्तरं सूर्यं पश्यन्तः सन्तः पर्य्युदगन्म तमेव यूयमपि सर्वतो विजानीत॥१४॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या! यथा सूर्यं पश्यन्तो दीर्घायुषो धर्मात्मानो जनाः सुखं लभन्ते तथैव धार्मिका योगिनो महादेवं सर्वप्रकाशकं जन्ममृत्युक्लेशादिभ्यः पृथग् वर्त्तमानं सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानं साक्षाद्विज्ञाय मोक्षमवाप्य सततमानन्दन्ति ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! हम लोग जिस (तमसः) अन्धकार से परे (स्वः) स्वयं प्रकाशरूप सूर्य्य के तुल्य वर्त्तमान (देवत्रा) विद्वानों वा प्रकाशमय सूर्य्यादि पदार्थों में (देवम्) विजयादि लाभ के देने वाले (ज्योतिः) स्वयं प्रकाशमयस्वरूप (उत्तमम्) सब से बड़े (उत्तरम्) दुःखों से पार करने वाले (सूर्य्यम्) अन्तर्यामी रूप से अपनी व्याप्ति कर सब चराचर के स्वामी परमात्मा को (पश्यन्तः) ज्ञान दृष्टि से देखते हुए (परि, उत्, अगन्म) सब ओर से उत्कृष्टता के साथ जानें उसी को तुम लोग भी जानो ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो! जैसे सूर्य्य को देखते हुए दीर्घावस्था वाले धर्मात्मा जन सुख को प्राप्त होते वैसे ही धर्मात्मा योगीजन

महादेव सब के प्रकाशक जन्ममृत्यु के क्लेश आदि से पृथक् वर्त्तमान सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को साक्षात् जान मोक्ष को पाकर निरन्तर आनन्दित होते हैं ॥ १४ ॥

इममित्यस्य सङ्कुसुक ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् । शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १५ ॥

इमम् । जीवेभ्यः । परिधिमिति परिऽधिम् । दधामि । मा । एषाम् । नु । गात् । अपरः । अर्थम् । एतम् । शतम् । जीवन्तु । शरदः । पुरूचीः । अन्तः । मृत्युम् । दधताम् पर्वतेन ॥ १५ ॥

पदार्थः–(इमम्) प्रत्यक्षम् (जीवेभ्यः) प्राणधारकेभ्यः स्थावरशरीरेभ्यश्च (परिधिम्) मर्यादाम् (दधामि) व्यवस्थापयामि (मा) (एषाम्) जीवानाम् (नु) सद्यः (अगात्) प्राप्नुयात् (अपरः) अन्यः (अर्थम्) द्रव्यम् (एतम्) प्राप्तम् (शतम्) (जीवन्तु) (शरदः) (पुरूचीः) याः पुरूणि बहूनि वर्षाण्यञ्चन्ति ताः (अन्तः) मध्ये (मृत्युम्) (दधताम्) धारयन्तु (पर्वतेन) ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा ॥ १५ ॥

अन्वयः—अहं परमेश्वर एषां जीवानामेतमर्थमपरो मा नु गादितीमं जीवेभ्यः

परिधिं दधाम्येवमाचरन्तो भवन्तः पुरूचीः शतं शरदो जीवन्तु पर्वतेन मृत्युमन्तर्दधताम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! ये परमेश्वरेण व्यवस्थापितं धर्माचरणं कार्य्यमधर्माचरणं त्याज्यमिति मर्यादां नोल्लङ्घन्तेऽन्यायेन परपदार्थान्न स्वीकुर्वन्ति तेऽरोगाः सन्तश्शतं वर्षाणि जीवितुं शक्नुवन्ति नेतर ईश्वराज्ञाभञ्जकाः । ये पूर्णेन ब्रह्मचर्येण विद्या अधीत्य धर्ममाचरन्ति तान्मृत्युर्मध्ये नाप्नोतीति ॥ १५ ॥

पदार्थः—मैं परमेश्वर (एषाम्) इन जीवों के (एतम्) परिश्रम से प्राप्त किये (अर्थम्) द्रव्य को (अपरः) अन्य कोई (मा) नहीं (नु) शीघ्र (गात्) प्राप्त कर लेवे इस प्रकार (इमम्) इस (जीवेभ्यः) जीवों के लिये (परिधिम्) मर्यादा को (दधामि) व्यवस्थित करता हूं इस प्रकार आचरण करते हुए आप लोग (पुरूचीः) बहुत वर्षों के सम्बन्धी (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं भर (जीवन्तु) जीवो (पर्वतेन) ज्ञान वा ब्रह्मचर्यादि से (मृत्युम्) मृत्यु को (अन्तः) (दधताम्) दबाओ अर्थात् दूर करो ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो लोग, परमेश्वर ने नियत किया कि धर्म का आचरण करना और अधर्म का आचरण छोड़ना चाहिये, इस मर्यादा को उल्लङ्घन नहीं करते अन्याय से दूसरे के पदार्थों को नहीं लेते वे नीरोग होकर सौ वर्ष तक जी सकते हैं और ईश्वराज्ञा विरोधी नहीं। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ कर धर्म का आचरण करते हैं उन को मृत्यु मध्य में नहीं दबाता ॥ १५ ॥

अग्न इत्यस्यादित्या देवा ऋषयः। अग्निर्देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
के जना दीर्घायुषो भवन्तीत्याह ॥
कौन मनुष्य दीर्घ अवस्था वाले होते हैं इस वि० ॥

अग्न आयूꣳषि पवस आ सुवोर्ज्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १६ ॥

अग्ने॑ । आयू॑ᳪषि । पव॒से । आ । सु॒व । ऊर्ज॑म् । इष॑म् । च॒ । नः॒ । आ॒रे । बा॒धस्व॒ । दु॒च्छुना॑म् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर विद्वन् वा (आयूंषि) अन्नादीनि जीवनानि वा । आयुरित्यन्नना० निघं० २ । १ (पवसे) पवित्री करोषि (आ) (सुव) जनय (ऊर्जम्) बलम् (इषम्) विज्ञानम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (आरे) दूरे निकटे वा (बाधस्व) (दुच्छुनाम्) दुष्टाः श्वान इव वर्त्तमानास्तान् हिंस्रान्प्राणिनः । अत्र कर्मणि षष्ठी ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वमायूंषि पवसे न ऊर्जमिषं चासुव दुच्छुनामारे बाधस्व ॥ १६ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या दुष्टाचरणदुष्टसङ्गौ विहाय परमेश्वराप्तयोः सेवां कुर्वन्ति ते धनधान्ययुक्ताः सन्तो दीर्घायुषो भवन्ति ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर वा विद्वन् आप (आयूंषि) अन्नादि पदार्थों वा अवस्थाओं को (पवसे) पवित्र करते (नः) हमारे लिये (ऊर्जम्) बल (च) और (इषम्) विज्ञान को (आ, सुव) अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिये तथा (दुच्छुनाम्) कुत्तों के तुल्य दुष्ट हिंसक प्राणियों को (आरे) दूर वा समीप में (बाधस्व) ताड़ना विशेष दीजिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य दुष्टों का आचरण और संग छोड़ के परमेश्वर और आप्त सत्यवादी विद्वान् की सेवा करते हैं वे धनधान्य से युक्त हुए दीर्घ अवस्था वाले होते हैं ॥ १६ ॥

आयुष्मानित्यस्य वैखानस ऋषिः । अग्निर्देवता ।
स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म वि० ॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि । घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा ॥ १७ ॥

आयुष्मान् । अग्ने । हविषा । वृधानः । घृतप्रतीक इति घृतऽप्रतीकः । घृतयोनिरिति घृतऽयोनिः । एधि । घृतम् । पीत्वा । मधु । चारु । गव्यम् । पितेवेति पिताऽइव । पुत्रम् । अभि । रक्षतात् । इमान् । स्वाहा ॥ १७ ॥

पदार्थः—(आयुष्मान्) बह्वायुर्विद्यते यस्य सः (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमान राजन् (हविषा) घृतादिना (वृधानः) वर्द्धमानः अत्र बहुलं छन्दसीति शानचि शपो लुक् । (घृतप्रतीकः) यो घृतमुदकं प्रत्याययति सः (घृतयोनिः) घृतं प्रदीप्तं तेजो योनिः कारणं गृहं वा यस्य सः (एधि) भव (घृतम्) (पीत्वा) (मधु) मधुरम् (चारु) सुन्दरम् (गव्यम्) गोर्विकारम् (पितेव) (पुत्रम्) (अभि) आभिमुख्ये (रक्षतात्) रक्ष (इमान्) (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥१७॥

अन्वयः—हे अग्ने! यथा हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरग्निर्वर्द्धते तथाऽऽयुष्माँस्त्वमेधि । मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा पुत्रं पितेव स्वाहेमानभि रक्षताव ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सूर्यादिरूपेणाग्निर्बाह्याभ्यन्तरः सन् सर्वान् रक्षति तथैव राजा पितृवद्वर्त्तमानः सन् पुत्रमिवेमाः प्रजाः सततं रक्षेत् ॥१७॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान तेजस्वी राजन्! जैसे (हविषा) घृतादि से (वृधानः) बढ़ा हुआ (घृतप्रतीकः) जल को प्रसिद्ध करने वाला (घृतयोनिः) प्रदीप्त तेज जिसका कारण वा घर है वह अग्नि बढ़ता है वैसे (आयुष्मान्) बहुत अवस्था वाले आप (एधि) हूजिये (मधु) मधुर (चारु) सुन्दर (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घी को (पीत्वा) पी के (पुत्रम्) पुत्र को (पितेव) पिता जैसे वैसे (स्वाहा) सत्य क्रिया से (इमान्) इन प्रजास्थ मनुष्यों की (अभि) प्रत्यक्ष (रक्षतात्) रक्षा कीजिये ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सूर्यादि रूप से अग्नि बाहर भीतर रह कर सब की रक्षा करता है वैसे ही राजा पिता के तुल्य वर्त्ताव करता हुआ पुत्र के समान इन प्रजाओं की निरन्तर रक्षा करे ॥ १७ ॥

परीम इत्यस्य भरद्वाजः शिरिम्बिठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

परी॒मे गाम॑नेषत॒ पर्य॒ग्निम॑हृषत । दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रवः॒ क इ॒माँ२॥ आ द॑धर्षति ॥ १८ ॥

परि॑ । इ॒मे । गाम् । अ॒ने॒ष॒त॒ । परि॑ । अ॒ग्निम् । अ॒हृ॒ष॒त॒ । दे॒वेषु॑ । अ॒क्र॒त॒ । श्रवः॑ । कः । इ॒मान् । आ । द॒ध॒र्ष॒ति॒ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः (इमे) (गाम्) वाणीं पृथिवीं वा (अनेषत) (परि) सर्वतः (अग्निम्) (अहृषत) हरत (देवेषु) विद्वत्सु (अक्रत) कुरुत । अत्र मंत्रेघसेति च्लेर्लुक् (श्रवः) अन्नम् (कः) (इमान्) (आ) (दधर्षति) धर्षयितुं शक्नोति । अत्र लेटि व्यत्ययेन श्लुः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे राजजनाः! य इमे यूयं गां पर्य्यनेषताऽग्निं पर्य्यहृषत । एषु देवेषु श्रवोऽक्रतैवं भूतानिमान्भवतः क आ दधर्षति ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये राजजनाः पृथिवीवद्धीरा अग्निवत्तेजस्विनोऽन्नवदायुष्कराः सन्तो धर्मेण प्रजा रक्षन्ति तेऽतुलां राजश्रियमाप्नुवन्ति ॥१८॥

पदार्थः—हे राज पुरुषो! जो (इमे) ये तुम लोग (गाम्) वाणी वा पृथिवी को (परि, अनेषत) स्वीकार करो (अग्निम्) अग्नि को (परि, अहृषत) सब ओर से हरो अर्थात् कार्य में लाओ । इन (देवेषु) विद्वानों में (श्रवः) अन्न को (अक्रत) करो इस प्रकार के आप लोगों को (कः) कौन (आ, दधर्षति) धमका सकता है ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो राज पुरुष पृथिवी के समान धीर अग्नि के तुल्य तेजस्वी अन्न के समान अवस्था वर्द्धक होते हुए धर्म से प्रजा की रक्षा करते हैं वे अतुल राजलक्ष्मी को पाते हैं ॥ १८ ॥

क्रव्यादमित्यस्य दमन ऋषिः । अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

क्रव्यादम॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्यं गच्छतु रिप्रवा॒हः । इ॒हैवायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥ १९ ॥

क्र॒व्या॒दमिति॑ क्रव्य॒ऽअद॑म् । अ॒ग्निम् । प्र । हि॒नो॒मि॒ । दू॒रम् । य॒म॒रा॒ज्य॒मिति॑ यमऽरा॒ज्य॑म् । ग॒च्छ॒तु॒ । रि॒प्र॒वा॒ह॒ऽइति॑ रिप्रऽवा॒हः । इ॒ह । ए॒व । अ॒यम् । इत॑रः । जा॒तवे॑दा॒ऽइति॑ जा॒तऽवे॑दाः । दे॒वेभ्य॒ऽः । ह॒व्यम् । व॒ह॒तु॒ । प्र॒जा॒नन्निति॑ प्रऽजा॒नन् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(क्रव्यादम्) यः क्रव्यं मांसमत्ति तम् (अग्निम्) अग्निमिवाऽन्यान् परितापकम् (प्र) (हिणोमि) गमयामि (दूरम्) (यमऽराज्यम्) यमस्य न्यायाधीशस्य स्थानम् (गच्छतु) (रिप्रवाहः) ये रिप्रं पापं वहन्ति तान् (इह) अस्मिन् संसारे (एव) (अयम्) (इतरः) भिन्नः (जातवेदाः) जातप्रज्ञानः (देवेभ्यः) धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः (हव्यम्) आदातुमर्हं विज्ञानम् (वहतु) प्राप्नोतु (प्रजानन्) प्रकर्षेण जानन् सन् ॥ १९ ॥

अन्वयः—प्रजानन्नहं क्रव्यादमग्निमिव वर्त्तमानं यं दूरं प्रहिणोमि याश्च

रिमवाहश्च दूरं प्रहिणोमि स यमराज्यं गच्छतु ते च इहेतरोऽयं जातवेदा देवेभ्यो हव्यमेव वहतु ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे न्यायाधीशाः ! यूयं दुष्टाचारिणः संताड्य प्राणादपि वियोज्य श्रेष्ठान् सत्कृत्येह सृष्टौ साम्राज्यं कुरुत ॥ १९ ॥

पदार्थः—(प्रजानन्) अच्छे प्रकार जानता हुआ मैं (क्रव्यादम्) कच्चे मांस को खाने और (अग्निम्) अग्नि के तुल्य दूसरों को दुःख से तपाने वाले जिस दुष्ट को (दूरम्) दूर (प्र, हिणोमि) पहुंचाता और जिन (रिप्रवाहः) पाप उठाने वाले दुष्टों को दूर पहुंचाता हूं वह और वे सब पापी (यमराज्यम्) न्यायाधीश राजा के न्यायालय में (गच्छतु) जावें और (इह) इस जगत् में (इतरः) दूसरा (अयम्) यह (जातवेदाः) धर्म्मात्मा विद्वान् जन (देवेभ्यः) धार्म्मिक विद्वानों से (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य विज्ञान को (एव) ही (वहतु) प्राप्त होवे ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे न्यायाधीश राजपुरुषो! तुम लोग दुष्टाचारी जनों को सम्यक् ताड़ना देकर प्राणों से भी छुड़ा के और श्रेष्ठ का सत्कार कर के इस सृष्टि में साम्राज्य अर्थात् चक्रवर्त्ती राज्य करो ॥ १९ ॥

वह वपामित्यस्यादित्या देवा ऋषयः। जातवेदा देवता।
स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ पितृसेवनविषयमाह ॥

अब पितृ लोगों का सेवन वि० ॥

वहं वृपां जांतवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहिंतान्पराके। मेदंसः कुल्या उप॒तान्त्स्रंवन्तु सत्या एषामाशिषः संनंमन्ताॅं स्वाहां॥ २० ॥

वहं। वपाम्। जातवेद॒ इति॒ जात॑ऽवेदः। पितृभ्य॒ इति॒ पितृऽभ्यः॑। यत्र॑। एनान्। वेत्थ॑। निहिंता-

निति निऽहितान् । पराके । मेदसः । कुल्याः । उपं । तान् । स्रवन्तु । सत्याः । एषाम् । आशिषः इत्याऽशिषः । सम् । नमन्ताम् । स्वाहा ॥ २० ॥

पदार्थः-(वह) प्राप्नुहि (वपाम्) वपन्ति यस्यां भूमौ ताम् (जातवेदः) जातप्रज्ञानः (पितृभ्यः) जनकेभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्यो वा (यत्र) (एनान्) (वेत्थ) जानासि (निहितान्) (पराके) दूरे (मेदसः) स्निग्धाः (कुल्याः) जलप्रवाहाधाराः (उप) (तान्) जनान् (स्रवन्तु) प्राप्नुवन्तु (सत्याः) सत्सु साध्व्यः (एषाम्) (आशिषः) इच्छाः (सम्) सम्यक् (नमन्ताम्) प्राप्नुवन्तु (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥ २० ॥

अन्वयः-हे जातवेदस्त्वं यत्रैतान् पराके निहितान् वेत्थ तत्र पितृभ्यो वपां वह यथा मेदसः कुल्यास्तानुपस्रवन्तु तथा स्वाहैषामाशिषः सत्याः सन्नमन्ताम् ॥२०॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये दूरे स्थितान् पितॄन् विदुषश्चाहूय सत्कुर्वन्ति यथाऽऽरामवृक्षादीन् जलवायू वर्द्धयतस्तथैतेषामिच्छा सत्याः सत्यः सर्वतो वर्द्धन्ते ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुए जन आप (यत्र) जहां (एतान्) इन (पराके) दूर (निहितान्) स्थित पितृजनों को (वेत्थ) जानते हो वहां (पितृभ्यः) जनक वा विद्या शिक्षा देने वाले सज्जन पितृयों से (वपाम्) बोने होने के योग्य भूमि को (वह) प्राप्त हूजिये जैसे (मेदसः) उत्तम (कुल्याः) जल के प्रवाह से युक्त नदी वा नहरें (तान्) उन सज्जनों को (उप, स्रवन्तु) निकट प्राप्त हों वैसे (स्वाहा) सत्यक्रिया से (एषाम्) इन लोगों की (आशिषः) इच्छा (सत्याः) यथार्थ (सम्, नमन्ताम्) सम्यक् प्राप्त होवें ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो दूर रहने वाले पितृ और विद्वानों को बुलाकर सत्कार करते हैं जैसे बाग बगीचों के वृक्षादि को जल वायु बढ़ाते वैसे उनकी इच्छा सत्य हुई सब ओर से बढ़ती हैं ॥ २० ॥

स्योनेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। पृथिवी देवता।
निचृद् गायत्री अपनइतिप्राजापत्या
गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥
गृहिणी कीदृशी स्यादित्याह॥
कुलीन स्त्री कैसी होवे-इस वि०॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचद्घम्॥ २१॥

स्योना। पृथिवि। नः। भव। अनृक्षरा। निवेशनीति निऽवेशनी। यच्छ। नः। शर्म्म। सप्रथाऽइति सऽप्रथाः। अप। नः। शोशुचत्। अघम्॥ २१॥

पदार्थः-(स्योना) सुखकरी (पृथिवि) भूमिरिव वर्त्तमाने (नः) अस्मभ्यम् (भव) (अनृक्षरा) निष्कण्टका (निवेशनी) निविशन्ते यस्यां सा (यच्छ) देहि। अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) सुखम् (सप्रथाः) विस्तीर्णेन प्रशंसनेन सह वर्त्तमानाः (अप) दूरीकरणे (नः) अस्माकम् (शोशुचत्) भृशं शोधयतु (अघम्) पापम्॥ २१॥

अन्वयः—हे पृथिवि भूमिरिव वर्त्तमाने स्त्रि! त्वं यथाऽनृक्षरा निवेशनी भूमिः स्योना भवति तथा नो भव सप्रथाः सती नश्शर्म्म यच्छ यथा न्यायेशो नोऽघमपशोशुचत्तथाऽपराधं दूरं गमय॥ २१॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—या स्त्री पृथिवीवत् क्षमाशीला क्रूरतादिदोषरहिता बहुप्रशंसिता अन्येषामपि दोषनिवारिका भवति सैव गृहकृत्ये योग्या भवति ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (पृथिवि) भूमि के तुल्य वर्त्तमान क्षमाशील स्त्री ! तू जैसे (अनृक्षरा) कण्टक आदि से रहित (निवेशनी) बैठने का आधार भूमि (स्योना) सुख करने वाली होती वैसे (नः) हमारे लिये (शर्म) सुख को (यच्छ) दे जैसे न्यायाधीश (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप, शोशुचत्) शीघ्र दूर करे वा शुद्ध करे वैसे तू अपराध को दूर कर ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो स्त्री पृथिवी के तुल्य क्षमा करने वाली क्रूरता आदि दोषों से अलग बहुत प्रशंसित दूसरों के दोषों का निवारण करने हारी है वही घर के कार्य्यों में योग्य होती है ॥ २१ ॥

अस्मादित्यस्यादित्या देवा ऋषयः । अग्निर्देवता ।

स्वराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वद्यं जायतां पुनः ।
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ २२ ॥

अस्मात् । त्वम् । अधि । जातः । असि । त्वत् । अयम् । जायताम् । पुनरिति पुनः । असौ । स्वर्गायेति स्वःऽगाय । लोकाय । स्वाहा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(अस्मात्) लोकात् (त्वम्) (अधि) उपरि

भावे (जातः) (असि) भवति (त्वत्) तव सकाशादुत्पन्नः (अयम्) पुत्रः (जायताम्) उत्पद्यताम् (पुनः) पश्चात् (असौ) विशेषनामा (स्वर्गाय) विशेषसुखभोगाय (लोकाय द्रष्टव्याय (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यतस्त्वमस्माल्लोकादधिजातोऽसि तस्मादयं त्वत्पुनरसौ स्वाहा स्वर्गाय लोकाय जायताम् ॥ २२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! युष्माभिरिह मनुष्यशरीरं धृत्वा विद्यासुशिक्षासुशीलधर्मयोगविज्ञानानि सङ्गृह्य मुक्तिसुखाय प्रयतितव्यमिदमेव मनुष्यजन्मसाफल्यं वेद्यमिति ॥ २२ ॥

अस्मिन्नध्याये व्यवहारजीवगतिजन्ममृत्युसत्याऽऽशीरग्निसत्येच्छानां व्याख्यानादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष! (त्वम्) आप (अस्मात्) इस लोक से अर्थात् वर्त्तमान मनुष्यों से (अधि) सर्वोपरि (जातः) प्रसिद्ध विराजमान (असि) हैं इस से (अयम्) यह पुत्र (त्वत्) आप से (पुनः) पीछे (असौ) विशेष नाम वाला (स्वाहा) सत्य क्रिया से (लोकाय) देखने योग्य (स्वर्गाय) विशेष सुख भोगने के लिये (जायताम्) प्रकट समर्थ होवे ॥ २२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोगों को चाहिये कि इस जगत् में मनुष्यों का शरीर धारण कर विद्या, उत्तम शिक्षा, अच्छास्वभाव, धर्म, योगाभ्यास और विज्ञान का सम्यक् ग्रहण करके मुक्ति सुख के लिये प्रयत्न करो और यही मनुष्य जन्म की सफलता है ऐसा जानो ॥ २२ ॥

इस अध्याय में व्यवहार, जीव की गति, जन्म, मरण, सत्य, आशीर्वाद, अग्नि और सत्य इच्छा आदि का व्याख्यान होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ सङ्गति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमन्महाविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायोऽलमगमत् ॥

ओ३म्

अथ षट्त्रिंशाऽध्यायारम्भः ॥

—:o*o:—

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥

ऋचमित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ विद्वत्सङ्गेन किञ्जायतइत्याह ॥

अब छत्तीसवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है इस के प्रथम मन्त्र में विद्वानों के संग से क्या होता है इस विषय को कहते हैं ॥

ऋचं॒ वाचं॒ प्र प॑द्ये॒ मनो॒ यजुः॒ प्र प॑द्ये॒ साम॑ प्रा॒णं प्र प॑द्ये॒ चक्षुः॒ श्रोत्रं॒ प्र प॑द्ये । वागोजः॑ स॒हौजो॒ मयि॑ प्राणापा॒नौ ॥ १ ॥

ऋचम् । वाच॑म् । प्र । प॒द्ये । मनः॑ । यजुः॑ । प्र । प॒द्ये । साम॑ । प्रा॒णम् । प्र । प॒द्ये । चक्षुः॑ । श्रोत्र॑म् । प्र । प॒द्ये । वाक् । ओजः॑ । स॒ह । ओजः॑ । मयि॑ । प्रा॒णा॒पा॒नौ ॥ १ ॥

पदार्थः—(ऋचम्) प्रशंसनीयमृग्वेदम् (वाचम्) वाणीम् (प्र) (पद्ये) प्राप्नुयाम् (मनः) मननात्मकं चित्तम् (यजुः) यजुर्वेदम् (प्र) (पद्ये) (साम) सामवेदम् (प्राणम्) (प्र) (पद्ये) (चक्षुः) चष्टे पश्यति

येन तत् (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (प्र) (पद्ये) (वाक्) वाणी (ओजः) मानसं बलम् (सह) (ओजः) शारीरं बलम् (मयि) आत्मनि (प्राणापानौ) प्राणश्चाऽपानश्च तावुच्छ्वासनिश्वासौ ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यथा मयि प्राणापानौ दृढौ भवेतां मम वागोजः प्राप्नुयात्तथा ताभ्यां च सहाऽहमोजः प्राप्नुयामृचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये तथा यूयमेतानि प्राप्नुत ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे विद्वांसो! युष्मत्सङ्गेन मम ऋगिव प्रशंसनीया वाग्यजुरिव मनः सामइव प्राणः सप्तदशतत्त्वात्मकं लिङ्गं शरीरञ्च स्वस्थं निरुपद्रवं समर्थं भवतु ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (मयि) मेरे आत्मा में (प्राणापानौ) प्राण और अपान ऊपर नीचे के श्वास दृढ़ हों मेरी (वाक्) वाणी (ओजः) मानस बल को प्राप्त हो उस वाणी और उन श्वासों के (सह) साथ में (ओजः) शरीर बल को प्राप्त होऊं (ऋचम्) ऋग्वेद रूप (वाचम्) वाणी को (प्र, पद्ये) प्राप्त होऊं (मनः) मनन करने वाले अन्तःकरण के तुल्य (यजुः) यजुर्वेद को (प्र, पद्ये) प्राप्त होऊं (प्राणम्) प्राण की क्रिया अर्थात् योगाभ्यासादिक उपासना के साधक (साम) सामवेद को (प्र, पद्ये) प्राप्त होऊं (चक्षुः) उत्तम नेत्र और (श्रोत्रम्) श्रेष्ठ कान को (प्र, पद्ये) प्राप्त होऊं वैसे तुम लोग इन सब को प्राप्त होओ ॥ १ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु० - हे विद्वानो ! तुम लोगों के संग से मेरी ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुर्वेद के समान मन, सामवेद के सदृश प्राण और सत्रह तत्त्वों से युक्त लिंग शरीर स्वस्थ, सब उपद्रवों से रहित और समर्थ होवे ॥ १ ॥

यन्मे छिद्रमित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता।
निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥
अथेश्वरप्रार्थनाविषयमाह॥

अब ईश्वर प्रार्थना वि० ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ २॥

यत्। मे। छिद्रम्। चक्षुषः। हृदयस्य। मनसः। वा। अतितृण्णमित्यतिऽतृण्णम्। बृहस्पतिः। मे। तत्। दधातु। शम्। नः। भवतु। भुवनस्य। यः। पतिः॥२॥

पदार्थः—(यत्) (मे) मम (छिद्रम्) न्यूनत्वम् (चक्षुषः) नेत्रस्य (हृदयस्य) (मनसः) अन्तःकरणस्य (अतितृण्णम्) अतिहिंसितं व्याकुलत्वम् (बृहस्पतिः) बृहतामाकाशादीनां पालकईश्वरः (मे) मह्यम् (तत्) दधातु पुष्णातु (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (भवतु) (भुवनस्य) भवन्ति भूतानि यस्मिँस्तस्य (यः) (पतिः) पालकः स्वामीश्वरः॥२॥

अन्वयः—यन्मे चक्षुषो हृदयस्य छिद्रं मनसो वातितृण्णमस्ति तद्बृहस्पतिर्मे दधातु यो भुवनस्य पतिरस्ति स नः शम्भवतु॥२॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरस्योपासनयाऽऽज्ञापालनेन चाऽहिंसाधर्मं स्वीकृत्य जितेन्द्रियत्वं सम्पादनीयम्॥२॥

पदार्थः—(यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र की वा (हृदयस्य) अन्तःकरण की (छिद्रम्) न्यूनता (वा) वा (मनसः) मन की (अतितृण्णम्)

व्याकुलता है (तत्) उस को (बृहस्पतिः) बड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर (मे) मेरे लिये (दधातु) पुष्ट वा पूर्ण करे (यः) जो (भुवनस्य) सब संसार का (पतिः) रक्षक है वह (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी (भवतु) होव ॥ २ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना और आज्ञापालन से अहिंसा धर्म को स्वीकार कर जितेन्द्रियता को सिद्ध करें ॥ २ ॥

भूर्भुवः स्वरित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । देवी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥ तत्सवितुरित्यस्य निचृद्गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथेश्वरोपासनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर की उपासना का वि० ॥

भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

भूः । भुवः । स्वः । तत् । सवितुः । वरेण्यम् । भर्गः । देवस्य । धीमहि । धियः । यः । नः । प्रचोदयादिति प्रऽचोदयात् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(भूः) कर्मविद्याम् (भुवः) उपासनाविद्याम् (स्वः) ज्ञानविद्याम् (तत) इन्द्रियैरग्राह्यं परोक्षम् (सवितुः) सकलैश्वर्यप्रदस्येश्वरस्य (वरेण्यम्) स्वीकर्त्तव्यम् (भर्गः) सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम् (देवस्य) कमनीयस्य (धीमहि) ध्यायेम (धियः) प्रज्ञाः (यः) (नः) अस्माकम् (प्रचोदयात) प्रेरयेत ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा वयं भूर्भुवः स्वरधीत्य यो नो धियः प्रचोदयात्तस्य देवस्य सवितुस्तद्वरेण्यं भर्गो धीमहि तथा यूयमप्येतद्ध्यायत ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये मनुष्याः कर्मोपासनाज्ञानविद्याः संगृह्याखिलैश्वर्ययुक्तेन परमात्मना सह स्वात्मनो युञ्जतेऽधर्माऽनैश्वर्यदुःखानि विधूय धर्मैश्वर्यसुखानि प्राप्नुवन्ति तानन्तर्यामी जगदीश्वरः स्वयं धर्माऽनुष्ठानमधर्मत्यागं च कारयितुं सदैवेच्छति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (भूः) कर्मकाण्ड की विद्या (भुवः) उपासना काण्ड की विद्या और (स्वः) ज्ञानकाण्ड की विद्या को संग्रह पूर्वक पढ़के (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे उस (देवस्य) कामना के योग्य (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के (तत्) उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष (भर्गः) सब दुःखों के नाशक तेजस्वरूप का (धीमहि) ध्यान करें वैसे तुम लोग भी इस का ध्यान करो ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य कर्म उपासना और ज्ञान सम्बन्धिनी विद्याओं का सम्यक् ग्रहण कर सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं तथा अधर्म अनैश्वर्य और दुःखरूप मलों को छुड़ा के धर्म ऐश्वर्य और सुखों को प्राप्त होते हैं उन को अन्तर्यामी जगदीश्वर आप ही धर्म के अनुष्ठान और अधर्म का त्याग कराने को सदैव चाहता है ॥ ३ ॥

कया न इत्यस्य वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

कया॑ नश्चि॒त्र आ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑ । कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता ॥ ४ ॥

कया । नः । चित्रः । आ । भुवत् । ऊती । सदावृधऽ इति सदाऽवृधः । सखा । कया । शचिष्ठया । वृता ॥ ४ ॥

पदार्थः—(कया) (नः) अस्माकम् (चित्रः) अद्भुतगुणकर्मस्वभावः परमेश्वरः (आ) समन्तात् (भुवत्) भवेत् (ऊती) रक्षणादिक्रियया । अत्र तृतीयैकवचनस्य सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णः (सदावृधः) सदैव वर्द्धमानः (सखा) सुहृत् (कया) (शचिष्ठया) अतिशयेन शची प्रज्ञा तया वृता वर्त्तमानया ॥ ४ ॥

अन्वयः—स सदावृधश्चित्रो नः कयोती सखा आभुवत् कया वृता शचिष्ठयाऽस्मान् शुभेषु गुणकर्मस्वभावेषु प्रेरयेत् ॥ ४ ॥

भावार्थः—वयमिदं यथार्थतया न विजानीमः स ईश्वरः कया युक्त्याऽस्मान् प्रेरयति यस्य सहायेनैव वयं धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं शक्नुमः ॥ ४ ॥

पदार्थः—वह (सदावृधः) सदा बढ़ने वाला अर्थात् कभी न्यूनता को नहीं प्राप्त हो (चित्रः) आश्चर्यरूप गुण कर्म स्वभावों से युक्त परमेश्वर (नः) हम लोगों का (कया) किस (ऊती) रक्षण आदि क्रिया से (सखा) मित्र (आ, भुवत) होवे तथा (कया) किस (वृता) वर्त्तमान (शचिष्ठया) अत्यन्त उत्तम बुद्धि से हम को शुभ गुण कर्म स्वभावों में प्रेरणा करे ॥ ४ ॥

भावार्थः—हम लोग इस बात को यथार्थ प्रकार से नहीं जानते कि वह ईश्वर किस युक्ति से हम को प्रेरणा करता है कि जिस के सहाय से ही हम लोग धर्म अर्थ काम और मोक्षों के सिद्ध करने को समर्थ हो सकते हैं ॥ ४ ॥

कस्त्वेत्यस्य वामदेव ऋषिः। इन्द्रो देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

कस्त्वां सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥५॥

कः। त्वा। सत्यः। मदानाम्। मꣳहिष्ठः। मत्सत्। अन्धसः। दृढा। चित्। आरुज इत्याऽरुजे। वसु॥५॥

पदार्थः—(कः) सुखस्वरूपः (त्वा) त्वाम् (सत्यः) सत्सु पदार्थेषु साधुरीश्वरः (मदानाम्) आनन्दानां मध्ये (मंहिष्ठः) अतिशयेन मंहिता वृद्धः (मत्सत्) आनन्दयति (अन्धसः) अन्नादेः प्रकाशात् (दृढा) दृढानि (चित्) अपि (आरुजे) दुःखभञ्जकाय जीवाय (वसु) वसूनि धनानि। अत्र सुपां सुलुगिति जसो लुक्॥५॥

अन्वयः—हे मनुष्य! मदानां मंहिष्ठः कः सत्यः प्रजापतिरन्धसस्त्वा मत्सदारुजे तुभ्यं चित् दृढा वसु प्रयच्छति॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्या! योऽन्नादिना सत्यविज्ञापनेन च धनानि प्रदाय सर्वानानन्दयति तं सुखस्वरूपं परमात्मानमेव यूयं नित्यमुपाध्वम्॥५॥

पदार्थः—हे मनुष्य! (मदानाम्) आनन्दों के बीच (मंहिष्ठः) अत्यन्त बड़ा हुआ (कः) सुखस्वरूप (सत्यः) विद्यमान पदार्थों में श्रेष्ठतम प्रजा का

रक्षक परमेश्वर (अन्धसः) अन्नादि पदार्थ से (त्वाम्) तुझ को (मत्सत्) आनन्दित करता और (आरुजे) दुःखनाशक तेरे लिये (चित्) भी (दृढा) दृढ़ (वसु) धनों को देता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अन्नादि और सत्य के जताने से धनादि पदार्थ देके सब को आनन्दित करता है उस सुखस्वरूप परमात्मा की ही तुम लोग नित्य उपासना किया करो ॥ ५ ॥

अभी षु ण इत्यस्य वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । पादनिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतम्भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥

अभी । सु । नः । सखीनाम् । अविता । जरितॄणाम् । शतम् । भवासि । ऊतिभिः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अभि) सर्वतः । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (सु) शोभने (नः) अस्माकम् (सखीनाम्) मित्राणाम् (अविता) रक्षिता (जरितॄणाम्) सत्यस्तावकानाम् (शतम्) असंख्यम् (भवासि) भवेः (ऊतिभिः) रक्षणादिभिः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यतस्त्वं शतं ददद्भ्यतिभिर्नः सखीनां जरितॄणामविता सुभवासि तस्मादस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यो रागद्वेषरहितानामजातशत्रूणां सर्वेषां सुहृदां मनुष्याणामसंख्यमैश्वर्यमतुलं विज्ञानं च प्रदाय सर्वतोऽभिरक्षति तमेव परमेश्वरं नित्यं सेवध्वम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आप (शतम्) असंख्य ऐश्वर्य देते हुए (अभि, ऊतिभिः) सब ओर से प्रवृत्त रक्षादि क्रियाओं से (नः) हमारे (सखीनाम्) मित्रों और (जरितॄणाम्) सत्य स्तुति करने वालों के (अविता) रक्षा करने वाले (सु, भवासि) सुन्दर प्रकार हूजिये इस से आप हम को सत्कार करने योग्य हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः-हे मनुष्यो ! जो रागद्वेष रहित किन्हीं से वैरभाव न रखने अर्थात् सब से मित्रता रखने वाले सब मित्र मनुष्यों को असंख्य ऐश्वर्य और अधिकतर विज्ञान देके सब ओर से रक्षा करता है उसी परमेश्वर की नित्य सेवा किया करो ॥ ६ ॥

कया त्वमित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । इन्द्रो देवता । वर्द्धमाना गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर ॥ ७ ॥

कया । त्वम् । नः । ऊत्या । अभि । प्र । मन्दसे । वृषन् । कया । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ॥ ७ ॥

पदार्थः—(कया) (त्वम्) (नः) अस्मान् (ऊत्या) रक्षणाद्यया क्रियया (अभि) (प्र) (मन्दसे) सर्वत्र आनन्दयसि (वृषन्) सुखाभिवर्षक (कया) रीत्या (स्तोतृभ्यः) प्रशंसकेभ्यो मनुष्येभ्यः (आ) (भर) ॥७॥

अन्वयः—हे वृषन्नीश्वर ! त्वं कयोत्या नोऽभिप्रमन्दसे कया स्तोतृभ्यः सुखमाभर ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे भगवन् परमात्मन्! यया युक्त्या त्वं धार्मिकानानन्दयसि तान् सर्वतः पालयासि तां युक्तिमस्मान् बोधय ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे (वृषन्) सब ओर से सुखों को वर्षाने वाले ईश्वर (त्वम्) आप (कया) किस (ऊत्या) रक्षण आदि क्रिया से (नः) हम को (अभि, प्र, मन्दसे) सब ओर से आनन्दित करते और (कया) किस रीति से (स्तोतृभ्यः) आप की प्रशंसा करने वाले मनुष्यों के लिये सुख को (आ, भर) अच्छे प्रकार धारण कीजिये॥७॥

भावार्थः—हे भगवन् परमात्मन्! जिस युक्ति से आप धर्मात्माओं को आनन्दित करते उन की सब ओर से रक्षा करते हैं उस युक्ति को हम को जताइये ॥ ७ ॥

इन्द्र इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
द्विपाद्विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥

इन्द्रः । विश्वस्य । राजति । शम् । नः । अस्तु । द्विपद इति द्विऽपदे । शम् । चतुष्पदे । चतुःपद इति चतुःऽपदे ॥ ८ ॥

पदार्थः—(इन्द्रः) विद्युदिवेश्वरः (विश्वस्य) संसारस्य मध्ये (राजति) प्रकाशते (शम्) सुखम् (नः) अस्माकम् (अस्तु) (द्विपदे) पुत्राद्याय (शम्) (चतुष्पदे) गवाद्याय ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! यो भवानिन्द्र इव विश्वस्य राजति तस्य भवतः कृपया नो द्विपदे शमस्तु नश्चतुष्पदे शमस्तु ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे जगदीश्वर ! यतो भवान् सर्वत्राऽभिव्यापकः मनुष्यपश्वादीनां सुखमिच्छुरसि तस्मात्सर्वैरुपासनीयोऽसि ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! जो आप (इन्द्रः) बिजुली के तुल्य (विश्वस्य) संसार के बीच (राजति) प्रकाशमान हैं उन आप की कृपा से (नः) हमारे (द्विपदे) पुत्रादि के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे और हमारे (चतुष्पदे) गौ आदि के लिये (शम्) सुख होवे ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे जगदीश्वर ! जिस से आप सर्वत्र सब ओर से अभिव्याप्त मनुष्य पश्वादि को सुख चाहने वाले हैं इससे सब को उपासना करने योग्य हैं ॥ ८ ॥

शन्न इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। मित्रादयोलिङ्गोक्ता देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः स्वार्थपरार्थं सुखमेषितव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को अपने दूसरों के लिये सुख चाहना करनी चाहिये इस वि० ॥

शन्नो॑ मि॒त्रश्शं वरु॑णः॒ शन्नो॑ भवत्वर्य॒मा । शन्न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पतिः॒ शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ॥ ९ ॥

शम् । नः॒ । मि॒त्रः । शम् । वरु॑णः । शम् । नः॒ । भ॒व॒तु॒ । अ॒र्य॒मा । शम् । नः॒ । इन्द्रः॑ । बृह॒स्पतिः॑ । शम् । नः॒ । विष्णुः॑ । उ॒रु॒क्र॒मऽ इत्यु॑रुऽक्र॒मः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(शम्) सुखकारि (नः) अस्मभ्यम् (मित्रः) प्राणइव प्रियः सखा (शम्) (वरुणः) जलमिव शान्तिप्रदः

(शम्) (नः) अस्मभ्यम् (भवतु) (अर्य्यमा) योऽर्य्यान् मन्यते स न्यायाधीशः (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् (बृहस्पतिः) बृहत्या वाचः पालको विद्वान् (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (उरुक्रमः) उरु बहुक्रमः संसाररचने यस्य सः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यथा नो मित्रः शं भवतु वरुणः शम्भवत्वर्य्यमा नः शं भवतु इन्द्रो बृहस्पतिर्नः शम्भवतु उरुक्रमो विष्णुर्नः शम्भवतु तथा युष्मभ्यमपि भवेत् ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्यथा स्वार्थं सुखमेष्टव्यं तथा परार्थमपि यथा च ते स्वयं सत्सङ्गमिच्छेयुस्तथा तत्रान्यानपि प्रेरयेयुः ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (नः) हमारे लिये (मित्रः) प्राण के तुल्य प्रिय मित्र (शम्) सुखकारी (भवतु) हो (वरुणः) जल के तुल्य शान्ति देने वाला जन (शम्) सुखकारी हो (अर्य्यमा) पदार्थों के स्वामी वा वैश्यों को मानने वाला न्यायाधीश (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी हो (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य्यवान् (बृहस्पतिः) महती वेदरूप वाणी का रक्षक विद्वान् (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हो और (उरुक्रमः) संसार की रचना में बहुत शीघ्रता करने वाला (विष्णुः) व्यापक ईश्वर (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होवे वैसे हम लोगों के लिये भी होवे ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे अपने लिये सुख चाहें वैसे दूसरों के लिये भी और जैसे आप सत्सङ्ग करना चाहें वैसे इस में अन्य लोगों को भी प्रेरणा किया करें ॥ ९ ॥

शन्नो वात इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । वातादयो देवताः ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

शन्नो वातः पवताᳬशन्नस्तपतु सूर्य्यः । शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १० ॥

शम् । नः । वातः । पवताम् । शम् । नः । तपतु । सूर्य्यः । शम् । नः । कनिक्रदत् । देवः । पर्जन्यः । अभि । वर्षतु ॥ १० ॥

पदार्थः—(शम्) सुखकारकः (नः) अस्मभ्यम् (वातः) पवनः (पवताम्) चलतु (शम्) (नः) (तपतु) (सूर्य्यः) (शम्) (नः) (कनिक्रदत्) भृशं शब्दं कुर्वन् (देवः) दिव्य गुणयुक्तो विद्युदाख्यः (पर्जन्यः) मेघः (अभि) आभिमुख्ये (वर्षतु) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! विद्वन् वा यथा वातो नः शं पवतां सूर्य्यो नस्तपतु कनिक्रदद्देवो नः शं भवतु पर्जन्यो नोऽभिवर्षतु तथाऽस्मान् शिक्षय ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या ! येन प्रकारेण वायु सूर्य्यविद्युन्मेघाः सर्वेषां सुखकराः स्युस्तथाऽनुतिष्ठत ॥ १० ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! वा विद्वान् पुरुष ! जैसे (वातः) पवन (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (पवताम्) चले (सूर्य्यः) सूर्य्य (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (तपतु) तपै (कनिक्रदत्) अत्यन्त शब्द करता हुआ (देवः) उत्तम

गुण युक्त विद्युत्रूप अग्नि (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हो और (पर्जन्यः) मेघ हमारे लिये (अभि, वर्षतु) सब ओर से वर्षा करे वैसे हम को शिक्षा कीजिये ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो ! जिस प्रकार से वायु सूर्य्य बिजुली और मेघ सब को सुखकारी हों वैसा अनुष्ठान किया करो ॥ १० ॥

अहानि शमित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । लिङ्गोक्ता देवताः । अतिशक्करी छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳ रात्री॒: प्रति॑ धीयताम् । शन्न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒: शन्न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या । शन्न॑ इन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः ॥ ११ ॥

अहा॑नि । शम् । भव॑न्तु । नः॒ । शम् । रात्रीः॑ । प्रति॑ । धी॒य॒ता॒म् । शम् । नः॒ । इन्द्रा॒ग्नी इतीन्द्रा॒ग्नी । भ॒व॒ता॒म् । अवो॑भि॒रित्यवः॑ऽभिः । शम् । नः॒ । इन्द्रा॒वरु॑णा । रा॒तह॒व्येति॑ रा॒तऽह॑व्या । शम् । नः॒ । इन्द्रा॒पू॒षणा॑ । वाज॑साता॒विति॒ वाज॑ऽसातौ । शम् । इन्द्रा॒सोमा॑ । सु॒वि॒ताय॑ । शंयोः ॥ ११ ॥

पदार्थः—(अहानि) दिनानि (शम्) सुखकारकाणि (भवन्तु) (नः) अस्मभ्यम् (शम्) (रात्रीः) रात्रयः (प्रति) (धीयताम्) धीयन्ताम् । अत्र वचन-

व्यत्ययेनैकवचनम् (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (भवताम्) (अवोभिः) रक्षणादिभिः सह (शम्) (नः) (इन्द्रावरुणा) विद्युज्जले (रातहव्या) रातं दत्तं हव्यमादातव्यं सुखं याभ्यान्ते (शम्) (नः) (इन्द्रापूषणा) विद्युत्पृथिव्यौ (वाजसातौ) वाजान्यन्नानि संभजन्ति यया तस्यां युधि (शम्) (इन्द्रासोमा) विद्युदोषधिगणौ (सुविताय) प्रेरणाय (शंयोः) सुखस्य ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा ! यथाऽवोभिः सह शंयोः सुविताय नोऽहानि शं भवन्तु रात्रीश्शं प्रतिधीयतामिन्द्राग्नी नः शं भवतां रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं भवतां वाजसाताविन्द्रापूषणा नः शं भवतामिन्द्रासोमा च शं भवतां तथाऽस्माननुशिक्षेताम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या यदीश्वराप्तविदुषां शिक्षायां भवन्तः प्रवर्त्तेरंस्तर्ह्यहर्निशं भूम्यादयः सर्वे पदार्था युष्माकं सुखकराः स्युः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर वा विद्वन् जन ! जैसे (अवोभिः) रक्षा आदि के साथ (शंयोः) सुख की (सुविताय) प्रेरणा के लिये (नः) हमारे अर्थ (अहानि) दिन (शम्) सुखकारी (भवन्तु) हों (रात्रीः) रातें (शम्) कल्याण के (प्रति) प्रति (धीयताम्) हम को धारण करें (इन्द्राग्नी) विजुली और प्रत्यक्ष अग्नि (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (भवताम्) होवें (रातहव्या) ग्रहण करने योग्य सुख जिन से प्राप्त हुआ वे (इन्द्रावरुणा) विद्युत् और जल (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी हों (वाजसातौ) अन्नों के सेवन के हेतु संग्राम में (इन्द्रापूषणा) विद्युत् और पृथिवी (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी होवें और (इन्द्रासोमा) बिजुली और ओषधियां (शम्) सुखकारिणी हों वैसे हम को आप अनुकूल शिक्षा करें ॥ ११ ॥

भावार्थः-इस मन्त्र में वाचकलु०-हे मनुष्यो! जो ईश्वर और आप्त सत्यवादी विद्वान् लोगों की शिक्षा में आप लोग प्रवृत्त रहो तो दिन रात तुम्हारे भूमि आदि सब पदार्थ सुखकारी होवें ॥ ११ ॥

शन्नो देवीरित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। आपो देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

कीदृशा जनाः सुखसम्पन्ना भवन्तीत्याह ॥

कैसे मनुष्य सुखों से युक्त होते हैं इस वि० ॥

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १२ ॥

शम्। नः॒। दे॒वीः। अ॒भिष्ट॑ये। आपः॑। भ॒व॒न्तु॒। पी॒तये॑। शंयोः। अ॒भि। स्र॒व॒न्तु॒। नः॒ ॥ १२ ॥

पदार्थः—(शम्) (नः) अस्मभ्यम् (देवीः) दिव्याः (अभिष्टये) इष्टसुखसिद्धये (आपः) जलानि (भवन्तु) (पीतये) पानाय (शंयोः) सुखस्य (अभि) सर्वतः (स्रवन्तु) वर्षन्तु (नः) अस्मभ्यम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन्वा! यथाऽभिष्टये पीतये देवीरापो नः शं भवन्तु नः शंयोर्वृष्टिमभिस्रवन्तु तथोपदिशतम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये यज्ञादिना जलादिपदार्थान् शुद्धान् सेवन्ते तेषामुपरि सुखामृतस्य वृष्टिः सततं भवति ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा विद्वान्! जैसे (अभिष्टये) इष्ट सुख की सिद्धि के लिये (पीतये) पीने के अर्थ (देवीः) दिव्य उत्तम (आपः) जल (नः) हम को

(शम्) सुखकारी (भवन्तु) होवें (नः) हमारे लिये (शंयोः) सुख की वृष्टि (अभि, स्रवन्तु) सब ओर से करें वैसे उपदेश करो ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य यज्ञादि से जलादि पदार्थों को शुद्ध सेवन करते हैं उन पर सुखरूप अमृत की वर्षा निरन्तर होती है ॥ १२ ॥

स्योनेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । पृथिवी देवता । पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पतिव्रता कीदृशी स्यादित्याह ॥

पतिव्रता स्त्री कैसी हो इस वि० ॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥

स्योना । पृथिवि । नः । भव । अनृक्षरा । निवेशनीति निऽवेशनी । यच्छ । नः । शर्म्म । सप्रथाऽइति सऽप्रथाः ॥१३॥

पदार्थः—(स्योना) सुखकरी (पृथिवि) भूमिः (नः) अस्मभ्यम् (भव) भवतु । अत्र पुरुषव्यत्ययः (अनृक्षरा) कण्टकगर्त्तादिरहिता (निवेशनी) या नित्यान् निवेशयति सा (यच्छ) ददातु (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) गृहम् (सप्रथाः) विस्तारेण सह वर्त्तमाना ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे पृथिवीव वर्त्तमाने स्त्रि यथाऽनृक्षरा निवेशनी पृथिवि नो भवति तथा त्वं भव सा सप्रथा नः शर्म यच्छेत्तथा स्योना त्वं नः शर्म्म यच्छ ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सर्वेषां भूतानां सुखैश्वर्य्यप्रदा पृथिवी वर्त्तते तथैव विदुषी पतिव्रता स्त्री पत्यादीनामानन्दप्रदा भवति ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे पृथिवी के तुल्य वर्त्तमान क्षमाशील स्त्रि ! जैसे (अनृक्षरा) कांटे गढ़े आदि से रहित (निवेशनी) नित्य स्थिर पदार्थों को स्थापन करने हारी (पृथिवी) भूमि (नः) हमारे लिये होती है वैसे तू हो वह पृथिवी (सप्रथाः) विस्तार के साथ वर्त्तमान (नः) हमारे लिये (शर्म) स्थान देवे वैसे (स्योना) सुख करने हारी तू (नः) हमारे लिये घर के सुख को (यच्छ) दे ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सब प्राणियों को सुख ऐश्वर्य देनेवाली पृथिवी वर्त्तमान है वैसे ही विदुषी पतिव्रता स्त्री पति आदि को आनन्द देने वाली होती है ॥ १३ ॥

आप इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन । म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥ १४ ॥

आपः॑ । हि । स्थ । म॒यो॒भुव॒ऽइति॑ मयः॒ऽभुवः॑ । ताः । नः॒ । ऊ॒र्जे । द॒धा॒त॒न॒ । म॒हे । रणा॑य । चक्ष॑से ॥१४॥

पदार्थः—(आपः) जलानीव शान्तिशीला विदुष्यः सत्स्त्रियः (हि) यतः (स्थ) भवत । अत्र संहितायामिति दीर्घः (मयोभुवः) या मयः सुखंभावयन्ति ताः । मय इति सुखना० निघं० ३ । ६ (ताः) (नः) अस्मान् (ऊर्जे) पराक्रमाय बलाय वा (दधातन) धरत (महे)

महते (रणाय) सङ्ग्रामाय । रण इति सङ्ग्रामना० निघं० २ । १७ (चक्षसे) प्रसिद्धाय ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे आपः ! स्त्रियो यथा मयोभुव आपो हिनो महे रणाय चक्षस ऊर्जे दधतु तथैता यूयं दधातन प्रियाः स्थः ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सत्यः पतिव्रताः स्त्रियः सर्वतः सर्वान् सुखयन्ति तथैव जलादयः पदार्थाः सुखकराः सन्तीति वेद्यम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (आप) जलों के तुल्य शान्ति शील विदुषी श्रेष्ठ स्त्रियो! जैसे (मयोभुवः) सुख उत्पन्न करने हारे जल (हि) जिस कारण (नः) हम को (महे) बड़े (रणाय, चक्षसे) प्रसिद्ध संग्राम के लिये वा (ऊर्जे) बल पराक्रम के अर्थ धारण वा पोषण करें वैसे इनको तुम लोग धारण करो और प्यारी (स्थ) होओ ॥१४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे श्रेष्ठ पतिव्रता स्त्रियां सब ओर से सब को सुखी करतीं वैसे जलादि पदार्थ सब को सुखकारी होते हैं ऐसा जानो ॥ १४ ॥

यो व इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥

यः । वः । शिवतम इति शिवऽतमः । रसः । तस्य । भाजयत । इह । नः । उशतीरिवेत्युशतीःऽइव । मातरः ॥ १५ ॥

पदार्थः-(यः) (वः) युष्माकम् (शिवतमः) अतिशयेन कल्याणकरः (रसः) आनन्दवर्द्धकः स्नेहरूपः (तस्य) रसम् । अत्र कर्मणि षष्ठी (भाजयत) सेवयत (इह) अस्मिञ्जगति (नः) अस्मान् (उशतीरिव) कामयमाना इव अत्र वाच्छन्दसि ६।१।१०८ इति पूर्वसवर्णादेशः (मातरः) ॥१५॥

अन्वयः—हे सत्स्त्रियो ! यो वः शिवतमो रसोऽस्ति तस्येह नो मातरः पुत्रानुशतीरिव भाजयत ॥ १५ ॥

भावार्थः—यदि होमादिनाऽऽपः शुद्धाः क्रियेरंस्तर्ह्येता मातरोऽपत्यानीव पतिव्रता पतीनिव सर्वान् प्राणिनस्सुखयन्ति ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे श्रेष्ठस्त्रियो ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अतिशय कल्याणकारी (रसः) आनन्दवर्द्धक स्नेहरूप रस है (तस्य) उस का (इह) इस जगत् में (नः) हम को (उशतीरिव, मातरः) पुत्रों की कामना करने वाली माताओं के तुल्य (भाजयत) सेवा कराओ ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जो होम आदि से जल शुद्ध किये जावें तो ये माता जैसे सन्तानों वा पतिव्रता स्त्रियां अपने पतिओं को सुखी करती हैं वैसे सब प्राणियों को सुखी करते हैं ॥ १५ ॥

तस्मा इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

तस्मा॒ अरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ । आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ १६ ॥

तस्मै॑ । अर॑म् । ग॒मा॒म॒ । व॒: । यस्य॑ । क्षया॑य । जिन्व॑थ । आप॑: । ज॒नय॑थ । च॒ । न॒: ॥ १६ ॥

पदार्थः—(तस्मै) (अरम्) अलम् (गमाम) प्राप्नुयाम (वः) युष्मान् (यस्य) (क्षयाय) निवासाय (जिन्वथ) प्रीणयथ (आपः) जलानीव (जनयथ) अत्र संहितायामिति दीर्घः (च) (नः) अस्मान् ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे स्त्रियो! यथा यूयं नोऽस्मानाप इव शान्ताऽञ्जनयथ तथा वो युष्मान् शान्ता वयं जनयेम यूयं यस्य क्षयाय जिन्वथ तस्मै वयमरङ्गमाम ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—स्त्री पुरुषैः परस्परस्याऽनन्दाय जलवत्सरलतया वर्त्तितव्यं शुभाचरणैः परस्परमलंकृतैरेव भवितव्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे स्त्रियो! जैसे तुम लोग (नः) हम को (आपः) जलों के तुल्य शान्त (जनयथ) प्रकट करो वैसे (वः) तुम को हम लोग शान्त प्रकट करें (च) और तुम लोग (यस्य) जिस पति के (क्षयाय) निवास के लिये (जिन्वथ) उस को तृप्त करो (तस्मै) उस के लिये हम लोग (अरम्) पूर्ण सामर्थ्य युक्त (गमाम) प्राप्त होवें ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि परस्पर आनन्द के लिये जल के तुल्य सरलता से वर्त्तें और शुभ आचरणों के साथ परस्पर सुशोभित हो रहें ॥ १६ ॥

द्यौरित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता । भुरिक्छक्वरी छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं प्रयतितव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को कैसे प्रयत्न करना चाहिये इस वि० ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

द्यौः । शान्तिः । अन्तरिक्षम् । शान्तिः । पृथिवी । शान्तिः । आपः । शान्तिः । ओषधयः । शान्तिः । वनस्पतयः । शान्तिः । विश्वे । देवाः । शान्तिः । ब्रह्म । शान्तिः । सर्वम् । शान्तिः । शान्तिः । एव । शान्तिः । सा । मा । शान्तिः । एधि ॥ १७ ॥

पदार्थः—(द्यौः) प्रकाशयुक्तः पदार्थः (शान्तिः) शान्तिकरः (अन्तरिक्षम्) उभयोर्लोकयोर्मध्यस्थमाकाशम् (शान्तिः) (पृथिवी) भूमिः (शान्तिः) (आपः) जलानि प्राणा वा (शान्तिः) (ओषधयः) सोमाद्याः (शान्तिः) (वनस्पतयः) वटादयः (शान्तिः) (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (शान्तिः) (ब्रह्म) परमेश्वरो वेदो वा (शान्तिः) (सर्वम्) अखिलं वस्तु (शान्तिः)

(शान्तिः) (एव) (शान्तिः) (सा) (मा) माम् (शान्तिः) (एधि) भवतु ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! या द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिर्मैधि सा शान्तिर्युष्माकमपि प्राप्नोतु ॥ १७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथा प्रकाशादयः पदार्थाः शान्तिकराः स्युस्तथा यूयं प्रयतध्वम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (शान्तिः, द्यौः) प्रकाशयुक्त पदार्थ शान्तिकारक (अन्तरिक्षम्) दोनों लोक के बीच का आकाश (शान्तिः) शान्तिकारी (पृथिवी) भूमि (शान्तिः) सुखकारी निरुपद्रव (आपः) जल वा प्राण (शान्तिः) शान्तिदायी (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधियां (शान्तिः) सुखदायी (वनस्पतयः) वट आदि वनस्पति (शान्तिः) शान्तिकारक (विश्वे, देवाः) सब विद्वान् लोग (शान्तिः) उपद्रवनिवारक (ब्रह्म) परमेश्वर वा वेद (शान्तिः) सुखदायी (सर्वम्) सम्पूर्ण वस्तु (शान्तिरेव) शान्ति ही (शान्तिः) शान्ति (मा) मुझ को (एधि) प्राप्त होवे (सा) वह (शान्तिः) शान्ति तुम लोगों के लिये भी प्राप्त होवे ॥ १७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे प्रकाश आदि पदार्थ शान्ति करने वाले होवें वैसे तुम लोग प्रयत्न करो ॥ १७ ॥

दृत इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता । भुरिग् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ के धर्मात्मान इत्याह ॥

अब कौन मनुष्य धर्मात्मा हो सकते हैं इस वि० ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥

दृते । दृꣳह । मा । मित्रस्य । मा । चक्षुषा । सर्वाणि । भूतानि । सम् । ईक्षन्ताम् । मित्रस्य । अहम् । चक्षुषा । सर्वाणि । भूतानि । सम् । ईक्षे । मित्रस्य । चक्षुषा । सम् । ईक्षामहे ॥ १८ ॥

पदार्थः—(दृते) अविद्यान्धकारनिवारक जगदीश्वर विद्वन् वा (दृꣳह) दृढीकुरु (मा) माम् (मित्रस्य) सुहृदः (चक्षुषा) दृष्ट्या (सर्वाणि) (भूतानि) प्राणिनः (सम्) सम्यक्) (ईक्षन्ताम्) प्रेक्षन्तां पश्यन्तु (मित्रस्य) (अहम्) (चक्षुषा) (सर्वाणि) (भूतानि) (सम्) (ईक्षे) पश्येयम् (मित्रस्य) (चक्षुषा) (सम्) (ईक्षामहे) पश्येयम ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे दृते ! येन सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा मा समीक्षन्तामहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे एवं वयं सर्वे परस्परान् मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे तत्रास्मान् दृंह ॥ १८ ॥

भावार्थः—त एव धर्मात्मानो मनुष्या ये स्वात्मवत्सर्वान् प्राणिनो मन्येरन् कञ्चिदपि न द्विष्युर्मित्रवत्सर्वान् सदोपकुर्य्युरिति ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे (दृते) अविद्यारूपी अन्धकार के निवारक जगदीश्वर वा विद्वन् जिस से (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को (सम्, ईक्षन्ताम्) सम्यक् देखें (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणियों को (समीक्षे) सम्यक् देखूं इस प्रकार सब हम लोग परस्पर (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (समीक्षामहे) देखें इस विषय में हम को (दृंह) दृढ़ कीजिये ॥ १८ ॥

भावार्थः—वे ही धर्म्मात्मा जन हैं जो अपने आत्मा के सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को मानें किसी से भी द्वेष न करें और मित्र के सदृश सब का सदा सत्कार करें ॥१८॥

दृते दृꣳहेत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। ईश्वरो देवता। पादनिचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह॥

फिर मनुष्य क्या करें इस वि०॥

दृते दृꣳह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते। संदृशि जीव्यासम्॥ १९॥

दृते। दृꣳह। मा। ज्योक्। ते। संदृशीति सम्ऽदृशि। जीव्यासम्। ज्योक्। ते। संदृशीति सम्ऽदृशि। जीव्यासम्॥ १९॥

पदार्थः—(दृते) सकलमोहाऽऽवरणविच्छेदकोपदेशक वा परमात्मन् (दृंह) (मा) माम् (ज्योक्) निरन्तरम् (ते) तव (संदृशि) सम्यग् दर्शने (जीव्यासम्) (ज्योक्) निरन्तरम् (ते) तव (संदृशि) समानदर्शने विषये (जीव्यासम्)॥१९॥

अन्वयः—हे दृते! येनाऽहन्ते संदृशि ज्योक् जीव्यासं ते संदृशि ज्योग्जीव्यासं तन्मा दृंह॥ १९॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वराज्ञापालनेन युक्ताहारविहारैश्च शतं वर्षाणि जीवनीयम्॥ १९॥

पदार्थः—हे (दृते) समग्र मोह के आवरण का नाश करने हारे उपदेशक विद्वन् वा परमेश्वर! जिस से मैं (ते) आप के (संदृशि) सम्यक् देखने

वा ज्ञान में (ज्योक्) निरन्तर (जीव्यासम्) जीवें (ते) आप के (संदृशि) समान दृष्टि विषय में (ज्योक्) निरन्तर (जीव्यासम्) जीवन व्यतीत करें उस जीवन विषय में (मा) मुझ को (दृंह) दृढ़ कीजिये ॥ १९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर की आज्ञा पालने और युक्त आहार विहार से सौ वर्ष तक जीवन का उपाय करें ॥ १९ ॥

नमस्ते हरस इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिग् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथेश्वरोपासनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर की उपासना वि० ॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे । अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ २० ॥

नमः । ते । हरसे । शोचिषे । नमः । ते । अस्तु । अर्चिषे । अन्यान् । ते । अस्मत् । तपन्तु । हेतयः । पावकः । अस्मभ्यम् । शिवः । भव ॥ २० ॥

पदार्थः—(नमः) (ते) तुभ्यम् (हरसे) हरति पापानि तस्मै (शोचिषे) प्रकाशाय (नमः) (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (अर्चिषे) स्तुति विषयाय (अन्यान्) (ते) (अस्मत्) (तपन्तु) (हेतयः) वज्र इव व्यवस्थाः (पावकः) पवित्रकर्त्ता (अस्मभ्यम्) (शिवः) कल्याणकारकः (भव) ॥ २० ॥

भावार्थः—हे भगवन्! हरसे शोचिषे ते नमो अर्चिषे ते नमोस्तु हेतयोऽस्मदन्यांस्तपन्तु त्वमस्मभ्यं पावकः शिवो भव ॥ २० ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर! वयं भवच्छुभगुणकर्मस्वभावतुल्यानस्मद्गुणकर्मस्वभावान् कर्त्तुं ते नमस्कुर्मो निश्चितमिदं जानीमोऽधार्मिकाँस्ते शासनाः पीडयन्ति धार्मिकाँश्चानन्दयन्ति तस्मान्मङ्गलस्वरूपं भवन्तमेव वयमुपास्महे ॥ २० ॥

पदार्थः—हे भगवन् ईश्वर! (हरसे) पाप हरने वाले (शोचिषे) प्रकाशक (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार तथा (अर्चिषे) स्तुति के योग्य (ते) आपके लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) प्राप्त होवे (ते) आपकी (हेतयः) वज्र के तुल्य अमिट व्यवस्था (अस्मत्) हम से (अन्यान्) भिन्न अन्यायी शत्रुओं को (तपन्तु) दुःख देवें आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (पावकः) पवित्रकर्त्ता (शिवः) कल्याणकारी (भव) हूजिये ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर! हम लोग आप के शुभ गुण कर्म स्वभाव के तुल्य अपने गुण कर्म स्वभाव करने के लिये आप को नमस्कार करते हैं और यह निश्चित जानते हैं कि अधर्मियों को आप की शिक्षा पीड़ा और धर्मात्माओं को आनन्दित करती है इस मंगल स्वरूप आप की ही हम लोग उपासना करते हैं ॥ २० ॥

नमस्त इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। ईश्वरो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । वि॒द्यु॒त॒ऽ इति॑ वि॒ऽद्यु॒ते॑ । नमः॑ । ते॒ । स्त॒न॒यि॒त्नवे॑ । नमः॑ । ते॒ । भ॒ग॒व॒न्निति॑ भग॑ऽवन् । अ॒स्तु॒ । यतः॑ । स्व॒रिति॑ स्वः॑ । स॒मीह॑स॒ऽ इति॑ स॒म्ऽईह॑से ॥ २१ ॥

पदार्थः-(नमः) (ते) तुभ्यं परमेश्वराय (अस्तु) (विद्युते) विद्युदिवाऽभिव्याप्ताय (नमः) (ते) (स्तनयित्नवे) स्तनयित्नुरिव दुष्टानां भयङ्कराय (नमः) (ते) (भगवन्) अत्यन्तैश्वर्य्यसम्पन्न (अस्तु) (यतः) (स्वः) सुखदानाय (समीहसे) सम्यक् चेष्टसे ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! यतस्त्वमस्मभ्यं स्वः समीहसे तस्माद्विद्युते ते नमोऽस्तु स्तनयित्नवे ते नमोऽस्तु सर्वाभिरक्षकाय ते नमश्च सततं कुर्य्याम ॥ २१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या ! यस्मादीश्वरोऽस्मभ्यं सदाऽऽनन्दाय सर्वाणि साधनोपसाधनानि प्रयच्छति तस्मादयमस्माभिः सेव्योऽस्ति ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (भगवन्) अनन्त ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! (यतः) जिस कारण आप हमारे लिये (स्वः) सुख देने के अर्थ (समीहसे) सम्यक् चेष्टा करते हैं इससे (विद्युते) बिजुली के समान अभिव्याप्त (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (स्तनयित्नवे) अधिकतर गर्जने वाले विद्युत् के तुल्य दुष्टों को भय देने वाले (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो और सब की सब प्रकार रक्षा करने हारे (ते) तेरे लिये (नमः) निरन्तर नमस्कार करें ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो ! जिस कारण ईश्वर हमारे लिये सदा आनन्द के अर्थ सब साधन उपसाधनों को देता है इस से हमको सेवा करने योग्य है ॥ २१ ॥

यतोयत इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यतौयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु । शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ २२ ॥

यतौयतऽ इति यतःऽयतः । समीहसऽइति सम्ऽईहसे । ततः । नः । अभयम् । कुरु । शम् । नः । कुरु । प्रजाभ्यऽइति प्रऽजाभ्यः । अभयम् । नः । पशुभ्यऽइति पशुऽभ्यः ॥

पदार्थः—(यतोयतः) यस्माद्यस्मात्स्थानात् (समीहसे) सम्यक् चेष्टसे (ततः) तस्मात्तस्मात् (नः) अस्मान् (अभयम्) निर्भयम् (कुरु) (शम्) सुखम् (नः) अस्माकम् (कुरु) (प्रजाभ्यः) (अभयम्) (नः) अस्माकम् (पशुभ्यः) गवादिभ्यः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे भगवन्नीश्वर ! त्वं कृपाकटाक्षेण यतोयतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु । नः प्रजाभ्यो नः पशुभ्यश्च शमभयं च कुरु ॥ २२ ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! भवान् यतः सर्वाभिव्याप्तोऽस्ति तस्मादस्मान-न्यांश्च सर्वेषु कालेषु सर्वेषु देशेषु सर्वेभ्यः प्राणिभ्यो निर्भयान् करोतु ॥ २२ ॥

पदार्थः-हे भगवन् ईश्वर ! आप अपने कृपाकटाक्ष से (यतोयतः) जिस २ स्थान से (समीहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो (ततः) उस २ से (नः) हम को (अभयम्) भय रहित (कुरु) कीजिये (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं से और (नः) हमारे (पशुभ्यः) गौ आदि पशुओं से (शम्) सुख और (अभयम्) निर्भय (कुरु) कीजिये ॥ २२ ॥

भावार्थः-हे परमेश्वर! आप जिस कारण सब में अभिव्याप्त हैं इस से हम को और दूसरों को सब कालों और सब देशों में सब प्राणियों से निर्भय कीजिये ॥२२॥

सुमित्रियेत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । सोमो देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कथं पदार्था हितकारिणो भवन्तीत्याह ॥

कैसे पदार्थ हितकारी होते हैं इस वि० ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

सुमित्रिया इति सुऽमित्रियाः । नः । आपः । ओषधयः । सन्तु । दुर्मित्रिया इति दुःऽमित्रियाः । तस्मै । सन्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः ॥ २३ ॥

पदार्थः-(सुमित्रियाः) शोभनं मित्रमिव वर्त्तमानाः (नः) अस्मभ्यम् (आपः) प्राणा जलानि वा (ओष-

धयः) यवाद्याः (सन्तु) (दुर्मित्रियाः) शत्रुरिव विरुद्धाः (तस्मै) (सन्तु) (यः) अधर्मी (अस्मान्) धार्मिकान् (द्वेष्टि)अप्रीतयति (यम्) (च) (वयम्) (द्विष्मः) ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! या इमा आप ओषधयो नः सुमित्रियाः सन्तु ता योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु ॥ २३ ॥

भावार्थः—यथा जितान्यनुकूलानीन्द्रियाणि मित्रवद्धितकारीणि भवन्ति तथा जलादयोऽपि पदार्था देशकालानुकूल्येन यथोचितं सेविता हितकरा विरुद्धं सेविताश्च शत्रुवद्दुःखदा भवन्ति ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो ये (आपः) प्राण वा जल (ओषधयः) जौ आदि ओषधियां (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) सुन्दर मित्र के समान वर्त्तमान (सन्तु) होवें वेही (यः) जो अधर्मी (अस्मान्) हम धर्मात्माओं से (द्वेष्टि) द्वेष करें (च) और (यम्) जिससे (वयम्) हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें (तस्मै) उस के लिये (दुर्मित्रियाः) शत्रु के तुल्य विरुद्ध (सन्तु) होवें ॥ २३ ॥

भावार्थः—जैसे अनुकूलता से जीते हुए इन्द्रिय मित्र के तुल्य हितकारी होते वैसे जलादि पदार्थ भी देशकाल के अनुकूल यथोचित सेवन किये हितकारी और विरुद्ध सेवन किये शत्रु के तुल्य दुःखदायी होते हैं ॥ २३ ॥

तच्चक्षुरित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । सूर्यो देवता ।
भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथेश्वरप्रार्थनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर की प्रार्थना का वि० ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः

शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥

तत् । चक्षुः । देवहितमिति देवऽहितम् । पुरस्तात् । शुक्रम् । उत् । चरत् । पश्येम । शरदः । शतम् । जीवेम । शरदः । शतम् । शृणुयाम । शरदः । शतम् । प्र । ब्रवाम । शरदः । शतम् । अदीनाः । स्याम । शरदः । शतम् । भूयः । च । शरदः । शतात् ॥ २४ ॥

पदार्थः-(तत्) चेतनं ब्रह्म (चक्षुः) चक्षुरिव सर्वदर्शकम् (देवहितम्) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हितकारि (पुरस्तात्) पूर्वकालात् (शुक्रम्) शुद्धम् (उत्) (चरत्) चरति सर्वं जानाति (पश्येम) (शरदः) (शतम्)(जीवेम) प्राणान् धारयेम (शरदः) (शतम्) (शृणुयाम) शास्त्राणि मङ्गलवचनानि चेति शेषः (शरदः) (शतम्) (प्र, ब्रवाम) अध्यापयेमोपदिशेम वा (शरदः) (शतम्) (अदीनाः) दीनतारहिताः (स्याम) भवेम (शरदः) (शतम्) (भूयः) अधिकम् (च) पुनः (शरदः) (शतात्) ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे परमात्मन्! भवान् यद्देवहितं शुक्रं चक्षुरिव वर्त्तमानं ब्रह्म पुरस्तादुच्चरत्तत्त्वां शतं शरदः पश्येम शतं शरदो जीवेम शतं शरदः शृणुयाम शतं शरदः प्रब्रवाम शतं शरदोऽदीनाः स्याम शताच्छरदो भूयश्च पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवामाऽदीनाः स्याम च ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! भवत्कृपया भवद्विज्ञानेन भवत्सृष्टिं पश्यन्त उपयुञ्जानाऽरोगाः समाहिताः सन्तो वयं सकलेन्द्रियैर्युक्ताः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं जीवेम सत्यशास्त्राणि भवद्गुणांश्च शृणुयाम वेदादीनध्यापयेम सत्यमुपदिशेम कदाचित्केनापि वस्तुना विना पराधीना न भवेम सदैवमात्मवशाः सन्तः सततमानन्देमाऽन्यांश्चानन्दयेमेति ॥ २४ ॥

अत्र परमेश्वरप्रार्थनं सद्गुणप्रापणं सर्वेषां सुखभानं परस्परामित्रत्वावश्यककरणं दिनचर्याशोधनं धर्मलक्षणमायुर्वर्धनं परमेश्वरविज्ञानं चोक्तमत एतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आप जो (देवहितम्) विद्वानों के लिये हितकारी (शुक्रम्) शुद्ध (चक्षुः) नेत्र के तुल्य सब के दिखाने वाले (पुरस्तात्) पूर्वकाल अर्थात् अनादि काल से (उत्, चरत्) उत्कृष्टता के साथ सब के ज्ञाता हैं (तत्) उस चेतन ब्रह्म आप को (शतम्, शरदः) सौ वर्ष तक (पश्येम) देखें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष तक (जीवेम) प्राणों को धारण करें जीवें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष पर्य्यन्त (शृणुयाम) शास्त्रों वा मङ्गल वचनों को सुनें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष पर्य्यन्त (प्रब्रवाम) पढ़ावें वा उपदेश करें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष पर्य्यन्त (अदीनाः) दीनता रहित (स्याम) हों (च) और (शतात्, शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक भी देखें जीवें सुनें पढ़ें उपदेश करें और अदीन रहें ॥ २४ ॥

भावार्थः-हे परमेश्वर ! आप की कृपा और आप के विज्ञान से आप की रचना को देखते हुए आप के साथ युक्त नीरोग और सावधान हुए हम लोग समस्त इन्द्रियों से युक्त सौ वर्ष से भी अधिक जीवें सत्य शास्त्रों और आप के गुणों को सुनें वेदादि

को पढ़ावें सत्य का उपदेश करें कभी किसी वस्तु के विना पराधीन न हों सदैव स्वतन्त्र हुए निरन्तर आनन्द भोगें और दूसरों को आनन्दित करें ॥२४॥

इस अध्याय में परमेश्वर की प्रार्थना, सब के सुख का भान, आपस में मित्रता करने की आवश्यकता, दिनचर्य्या का शोधन धर्म का लक्षण अवस्था का बढ़ाना और परमेश्वर का जानना कहा है इस से इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति है ऐसा जानना चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते यजुर्वेदभाष्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥

ओ३म्

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायारम्भः ॥

—:o:—:*:—:o:—

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

देवेत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । सविता देवता ।
निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
अथ मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

अब सैंतीसवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है इस के पहिले मन्त्र में
मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
हस्ताभ्याम् । आ दंदे नारिरसि ॥ १ ॥

देवस्यं । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः ।
बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ।
आ । ददे । नारिः । असि ॥ १ ॥

पदार्थः—(देवस्य) सकलसुखप्रदातुः (त्वा) त्वाम्
(सवितुः) जगदुत्पादकस्य (प्रसवे) उत्पन्ने जगति
(अश्विनोः) अध्यापकोपदेशकयोः (बाहुभ्याम्) बल-
वीर्याभ्याम् (पूष्णः) पोषकस्य (हस्ताभ्याम्) करा-
भ्याम् (आ) (ददे) समन्तादूगृह्णामि (नारिः) नायकः
(असि) ॥ १ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यतस्त्वं नारिरसि तस्मात् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाऽऽददे ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यूयं विद्वद्वरान् प्राप्य संसेव्यैतेभ्यो विद्यासिद्धे गृहीत्वाऽत्र सृष्टौ नायका भवत ॥ १ ॥

पदार्थः—हे विद्वन्! जिस कारण आप (नारिः) नायक (असि) हैं इस से (सवितुः) जगत् के उत्पादक (देवस्य) समस्त सुख के दाता (प्रसवे) उत्पन्न हुए जगत् में (अश्विनोः) अध्यापक और उपदेश के (बाहुभ्याम्) बल पराक्रम से (पूष्णः) पुष्टिकर्त्ता जन के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) आप को (आ, ददे) अच्छे प्रकार ग्रहण करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग उत्तम विद्वानों को प्राप्त होके उन से विद्या शिक्षा ग्रहण कर इस सृष्टि में नायक हो ॥ १ ॥

युञ्जत इत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः। सविता देवता।

जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

अथ योगाभ्यासविषयमाह ॥

अब योगाभ्यास का वि० ॥

युञ्जते मन॑ उत युञ्जते धियो विप्रा विप्र॑स्य बृहतो विप॒श्चितः॑। वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही देवस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः ॥ २ ॥

युञ्जते। मनः॑। उत। युञ्जते। धियः॑। विप्राः॑। विप्र॑स्य। बृहतः॑। विपश्चित॒ इति॑ विपः॒ऽचितः॑। वि।

होत्राः। द्धे। वयुनावित्। वयुनविदिति वयुनऽवित्। एकः। इत्। मही। देवस्य। सवितुः। परिष्टुतिः। परिस्तुतिरिति परिऽस्तुतिः ॥ २ ॥

पदार्थः—(युञ्जते) समादधति (मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् (उत) अपि (युञ्जते) (धियः) प्रज्ञाः कर्माणि वा (विप्राः) विविधमेधाव्याप्तिनो मेधाविनः (विप्रस्य) विशेषेण सर्वत्र व्याप्तस्य (बृहतः) सर्वेभ्यो महतः (विपश्चितः) अनन्तविद्यस्य (वि) (होत्राः) ये जुह्वत्याददति ते (दधे) दधाति (वयुनावित) यो वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्ति सः (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (मही) महती (देवस्य) सकलजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिणः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः प्रशंसा ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! य एको वयुनाविज्जगदीश्वरो सर्वं विदधे यस्य सवितुर्देवस्येयं मही परिष्टुतिरस्ति होत्रा विप्रा योगिनो यस्य बृहतो विपश्चितो विप्रस्य मध्ये मनो युञ्जत उत धियो युञ्जते तमिदेव यूयमुपाध्वम् ॥ २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यो योगिभिर्ध्येयो यस्य प्रशंसा दृष्टान्ताः सूर्यादयो वर्त्तन्ते यः सर्वज्ञोऽसहायः सच्चिदानन्दस्वरूपोऽस्ति तस्मै सर्वे धन्यवादा दातुमर्हा वर्त्तन्ते तमेवेष्टदेवं यूयं मन्यध्वम् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (वयुनावित्) उत्कृष्ट ज्ञानों में प्रवीण (एकः) अद्वितीय जगदीश्वर सब को (वि, दधे) रचता जिस (सवितुः) सर्वान्त-

स्वामी (देवस्य) समग्र जगत् के प्रकाशक ईश्वर की यह (मही) वड़ी (परिष्टुतिः) सब ओर से स्तुति प्रशंसा है (होत्राः) शुभ गुण ग्रहीता (विप्राः) अनेक प्रकार की बुद्धियों में व्याप्त बुद्धिमान् योगी जन जिस (बृहतः) सब से बड़े (विपश्चितः) अनन्त विद्या वाले (विप्रस्य) विशेष कर सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर के बीच (मनः) संकल्प विकल्प रूप मन को (युञ्जते) समाहित करते (उत) और (धियः) बुद्धि वा कर्मों को (युञ्जते) युक्त करते हैं (इत्) उसी की तुम लोग उपासना किया करो ॥ २ ॥

भावार्थः-हे मनुष्यो ! जो योगी जनों को ध्यान करने योग्य जिस की प्रशंसा के हेतु सूर्य्य आदि दृष्टान्त वर्त्तमान हैं जो सर्वज्ञ असहायी सच्चिदानन्द स्वरूप है जिस के लिये सब धन्यवाद देने योग्य हैं उसी को इष्टदेव तुम लोग मानो ॥ २ ॥

देवीत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ देवते। ब्राह्मी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथ यज्ञविषयमाह ॥

अथ यज्ञ वि० ॥

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ३ ॥

देवीऽइति देवी। द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी। मखस्य। वाम्। अद्य। शिरः। राध्यासम्। देवयजनऽइति देवऽयजने। पृथिव्याः। मखाय। त्वा। मखस्य। त्वा। शीर्ष्णे ॥ ३ ॥

पदार्थः—(देवी) दिव्यगुणसम्पन्ने (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमिवद्वर्त्तमाने (मखस्य) यज्ञस्य (वाम्) युवयोः (अद्य) इदानीम् (शिरः) उत्तमाङ्गम् (राध्यासम्) संसाधयेयम् (देवयजने) देवा विद्वांसो यजन्ति यस्मिँस्तस्मिन् (पृथिव्याः) भूमेर्मध्ये (मखाय) यज्ञाय (त्वा) त्वाम् (मखस्य) यज्ञस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) उत्तमाङ्गाय॥ ३॥

अन्वयः—देवी द्यावापृथिव्यध्यापिकोपदेशिके स्त्रियावद्य पृथिव्या देवयजने वां मखस्य शिरो राध्यासम्। मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा राध्यासम्॥ ३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या! अत्र जगति यथा सूर्यभूमी उत्तमाङ्गवद्वर्त्तेते तथैव भवन्तः सर्वोत्तमा वर्त्तन्तां येन सर्वसङ्गसाधिष्ठानो यज्ञः पूर्णः स्यात्॥ ३॥

पदार्थः—(देवी) उत्तम गुणों से युक्त (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि के तुल्य वर्त्तमान अध्यापिका और उपदेशिका स्त्रियो! (अद्य) इस समय (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (देवयजने) विद्वानों के यज्ञ स्थल में (वाम्) तुम दोनों के (मखस्य) यज्ञ के (शिरः) उत्तम अवयव को मैं (राध्यासम्) सम्यक् सिद्ध करूं (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव की सिद्धि के लिये (त्वा) तुझ को और (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) तुझ को सम्यक् सिद्ध करूं॥ ३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो! इस जगत् में जैसे सूर्य भूमि उत्तम अवयव के तुल्य वर्त्तमान हैं वैसे आप लोग सब से उत्तम वर्त्तो जिस से सब सङ्गतियों का आश्रय यज्ञ पूर्ण होवे॥ ३॥

देव्य इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । यज्ञो देवता । निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ विदुष्यः स्त्रियः कीदृश्यः स्युरित्याह ॥

अब विदुषी स्त्री कैसी होवें इस वि० ॥

देव्यो वम्रयो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ४ ॥

देव्यः । वम्रयः । भूतस्य । प्रथमजा इति प्रथमऽजाः । मखस्य । वः । अद्य । शिरः । राध्यासम् । देवयजन इति देवऽयजने । पृथिव्याः । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे ॥ ४ ॥

पदार्थः—(देव्यः) देदीप्यमानाः (वम्रयः) अल्पवयस्यः (भूतस्य) उत्पन्नस्य (प्रथमजाः) प्रथमाज्जाताः (मखस्य) यज्ञस्य (वः) युष्मान् (अद्य) (शिरः) शिरोवत् (राध्यासम्) (देवयजने) विदुषां सङ्गतिकरणे (पृथिव्याः) (मखाय) यज्ञाय (त्वा) त्वाम् (मखस्य) यज्ञस्य निर्मापिकाम् (त्वा) त्वाम् (शीर्ष्णे) शिरोवद्वर्त्तमानाय ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे प्रथमजा वम्रयो देव्यो विदुष्यो ! भूतस्य मखस्य पृथिव्या देवयजनेऽद्य वः शिरोवदहमाराध्यासं मखस्य त्वा मखाय शीर्ष्णे त्वा राध्यासम् ॥ ४ ॥

भावार्थः- हे मनुष्या! यावत् स्त्रियो विदुष्यो न भवन्ति तावदुत्तमा शिक्षा न वर्द्धते ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (प्रथमजाः) पहिले से हुई (वम्र्यः) थोड़ी अवस्था वाली (देव्यः) तेजस्विनी विदुषी स्त्रियो (भूतस्य) उत्पन्न सिद्ध हुए (मखस्य) यज्ञ की सम्बन्धिनी (पृथिव्याः) पृथिवी के (देवयजने) उस स्थान में जहां विद्वान् लोग संगति करते हैं (अद्य) आज (वः) तुम लोगों को (शिरः) शिर के तुल्य में (राध्यासम्) सम्यक् सिद्ध किया करूं (मखस्य) यज्ञ का निर्माण करने वाली (त्वा) तुझ को और (मखाय, शीर्ष्णे) शिर के तुल्य वर्त्तमान यज्ञ के लिये (त्वा) तुझ को सम्यक् उद्यत वा सिद्ध करूं ॥ ४ ॥

भावार्थः- हे मनुष्यो! जब तक स्त्रियां विदुषी नहीं होतीं तब तक उत्तम शिक्षा भी नहीं बढ़ती है ॥ ४ ॥

इयतीत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। यज्ञो देवता। स्वराड् ब्राह्मी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथाध्यापकविषयमाह ॥

अब अध्यापक वि० ॥

इ॒य॒त्यग्र॑ आसीन्म॒खस्य॑ ते॒ऽद्य शिरो॑ राध्यासं देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ ५ ॥

इ॒य॒ति। अग्रे॑। आ॒सी॒त्। म॒खस्य॑। ते॒। अ॒द्य। शिरः॑। रा॒ध्या॒स॒म्। दे॒व॒यज॑न॒ इति॑ दे॒व॒ऽयज॑ने। पृ॒थि॒व्याः। म॒खाय॑। त्वा॒। म॒खस्य॑। त्वा॒। शी॒र्ष्णे ॥ ५ ॥

पदार्थः-(इयति) एतावति (अग्रे) (आसीत्) अस्ति (मखस्य) यज्ञस्य (ते) तव (अद्य) (शिरः) उत्तम-

गुणम् (राध्यासम्) देवयजने) विदुषां पूजने (पृथिव्याः) भूमेः (मखाय) सत्काराख्याय (त्वा) (त्वाम्) (मखस्य) सङ्गतिकरणस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) उत्तमत्वाय ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्नहमग्रे मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा राध्यासं यस्य ते मखस्य शिर आसीत् तं त्वामद्य पृथिव्या इयति देवयजने राध्यासम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—त एवाऽध्यापकाः श्रेष्ठाः सन्ति ये पृथिव्या मध्ये सर्वान् सुशिक्षाविद्यायुक्तान् कर्त्तुं शक्नुवन्ति ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे विद्वन्! मैं (अग्रे) पहिले (मखाय) सत्कार रूप यज्ञ के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) संगति करण की (शीर्ष्णे) उत्तमता के लिये (त्वा) तुझ को (राध्यासम्) सिद्ध करूं जिस (ते) आप के (मखस्य) यज्ञ का (शिरः) उत्तम गुण (आसीत्) है उस आप को (अद्य) आज (पृथिव्याः) भूमि के बीच (इयति) इतने (देवयजने) विद्वानों के पूजने में सम्यक् सिद्ध होऊं ॥ ५ ॥

भावार्थः—वेही अध्यापक श्रेष्ठ हैं जो पृथिवी के बीच सब को उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त करने को समर्थ हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रस्येत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । यज्ञो देवता । भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः किंकुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

इन्द्र॒स्यौज॑: स्थ म॒खस्य॑ वो॒ऽद्य शिरो॑ राध्या॒सं दे॑व॒यज॑ने पृथि॒व्याः । म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ ६ ॥

इन्द्रस्य । ओजः । स्थ । मखस्य । वः । अद्य । शिरः । राध्यासम् । देवयजनऽइति देवऽयजने । पृथिव्याः । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य (ओजः) पराक्रमम् (स्थ) भवत (मखस्य) यज्ञस्य (वः) युष्मान् (अद्य) (शिरः) (राध्यासम्) (देवयजने) (पृथिव्याः) भूमेः (मखाय) धार्मिकाणां सत्कारनिमित्ताय(त्वा) त्वां सत्कारम् (मखस्य) प्रियाचरणाख्यस्य व्यवहारस्य (त्वा) त्वाम् (शीर्ष्णे) शिरः सम्बन्धिने वचसे (मखाय) शिल्पयज्ञविधानाय (त्वा) त्वाम् (मखस्य) (त्वा) (शीर्ष्णे) उत्तमगुणप्रचारकाय (मखाय) विज्ञानोद्भावनाय (त्वा) (मखस्य) विद्याबुद्धिकरस्य व्यवहारस्य (त्वा) (शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथाहमिन्द्रस्यौजो राध्यासं तथाऽद्य पृथिव्या देवयजने शिरोवद् वो राध्यासम् शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासं शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासं शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासं तथा यय- मोजस्विनः स्थ ॥ ६ ॥

भावार्थः-अत्र वाचकलु०—ये मनुष्या धर्माणि कर्माणि कुर्वन्ति ते शिरोवद्भवन्ति ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे मैं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त पुरुष के (ओजः) पराक्रम को (राध्यासम्) सिद्ध करूं वैसे (अद्य) आज (पृथिव्याः) भूमि के (देवयजने) उस स्थान में जहां विद्वानों का पूजन होता हो (शिरः) उत्तम अवयव के समान (वः) तुम लोगों को सिद्ध करूं (शीर्ष्णे) शिर सम्बन्धी (मखाय) धर्मात्माओं के सत्कार के निमित्त यजन के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) प्रिय आचरण रूप व्यवहार के सम्बन्धी (त्वा) आप को सिद्ध करूं (शीर्ष्णे) उत्तम गुणों के प्रचारक (मखाय) शिल्पयज्ञ के विधान के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) सत्याचरण रूप व्यवहार के सम्बन्धी (त्वा) आपको सिद्ध करूं (शीर्ष्णे) उत्तम (मखाय) विज्ञान की प्रकटता के लिये (त्वा) आप को और (मखस्य) विद्या को बढ़ाने हारे व्यवहार के सम्बन्धी (त्वा) आप को सिद्ध करूं। वैसे तुम लोग भी पराक्रमी (स्थ) होओ ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य धर्मयुक्त कार्यों को करते हैं वे सब के शिरोमणि होते हैं ॥ ६ ॥

प्रैत्वित्यस्य कण्व ऋषिः । ईश्वरो देवता ।

निचृदष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

स्त्रीपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ॥

स्त्री पुरुष कैसे हों इस वि० ॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरन्नर्यम्पङ्क्तिराधसन्देवा यज्ञन्नयन्तु नः । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ७ ॥

प्र । एतु । ब्रह्मणः । पतिः । प्र । देवी । एतु । सूनृता । अच्छ । वीरम् । नर्यम् । पङ्क्तिराधसमिति पु-

ङ्क्तिऽराधसम् । देवाः । यज्ञम् । नयन्तु । नः । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे ॥ ७ ॥

पदार्थः—(प्र) (एतु) प्राप्नोतु (ब्रह्मणः) धनस्य (पतिः) पालकः (प्र) (देवी) विदुषी (एतु) (सूनृता) सत्यभाषणादि सुशीलतायुक्ता (अच्छ) । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (वीरम्) शत्रुबलप्रक्षेप्तारम् (नर्यम्) नृषु साधुम् (पङ्क्तिराधसम्) यः पङ्क्तीः समुदायान् राध्नोति तम् (देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) सुखसङ्गमकम् (नयन्तु) प्रापयन्तु (नः) अस्मान् (मखाय) विद्यावृद्धये (त्वा) त्वाम् (मखस्य) सुखरक्षणस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) शिरोवद्वर्त्तमानाय (मखाय) धर्माचरणनिमित्ताय (त्वा) (मखस्य) धर्मरक्षणस्य (त्वा) (शीर्ष्णे)(मखाय) सर्वसुखकराय (त्वा) (मखस्य) सुखवर्द्धकस्य (त्वा)(शीर्ष्णे) उत्तमसुखप्रदाय ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यं वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं यज्ञं देवा नोऽस्मान्नयन्तु ब्रह्मणस्पतिः प्रैतु सूनृता देव्यच्छ प्रैतु तं मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयमाश्रयेम ॥ ७ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या याः स्त्रियश्च स्वयं विद्यादिशुभगुणान् प्राप्यान्यान् प्रापय्य विद्यासुखधर्मवृद्धयेऽधिकान् सुशिक्षितान् विदुषः कुर्वन्ति ते ताश्च सततमानन्दन्ति ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जिस (वीरम्) सब दुःखों को हटाने वाले (नर्थ्यम्) मनुष्यों में उत्तम (पङ्क्तिराधसम्) समुदायों को सिद्ध करने वाले (यज्ञम्) सुख प्राप्ति में हेतु जन को (देवाः) विद्वान् लोग (नः) हम को (नयन्तु) प्राप्त करें (ब्रह्मणः) धन का रक्षक जन (प्र,एतु) प्रकर्षता से प्राप्त हो (सूनृता) सत्य बोलना आदि सुशीलता वाली (देवी) विदुषी स्त्री (अच्छ) (प्र, एतु) अच्छे प्रकार प्राप्त होवे उस (त्वा) तुझ को (मखाय) विद्या वृद्धि के लिये (मखस्य) सुख रक्षा के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) आप को (मखाय) धर्माचरण निमित्त के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) धर्म रक्षा के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) आप को (मखाय) सब सुख करने वाले के लिये तथा आप को (मखस्य) सब सुख बढाने वाले के सम्बन्धी (शीर्ष्णे) उत्तम सुखदायी जन के लिये (त्वा) आपका आश्रय करें ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य और जो स्त्रियां सत्य विद्यादि गुणों को पाकर अन्यों को प्राप्त कराके विद्या सुख और धर्म की वृद्धि के लिये अधिक सुशिक्षित जनों का विज्ञान करते हैं वे पुरुष और स्त्रियां निरन्तर आनन्दित होते हैं ॥ ७ ॥

मखस्येत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । यज्ञो देवता ।

स्वराडतिधृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

मनुष्या विदुषा सह कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

मनुष्य लोग विद्वान् के साथ कैसे वर्त्तें इस वि० ॥

मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शी-

ष्णें । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

मखस्यं । शिरंः । असि । मखायं । त्वा । मखस्यं । त्वा । शीर्ष्णे । मखस्यं । शिरंः । असि । मखायं । त्वा । मखस्यं । त्वा । शीर्ष्णे । मखस्यं । शिरंः । असि । मखायं । त्वा । मखस्यं । त्वा । शीर्ष्णे । मखायं । त्वा । मखस्यं । त्वा । शीर्ष्णे । मखायं । त्वा । मखस्यं । त्वा । शीर्ष्णे । मखायं । त्वा । मखस्यं । त्वा । शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

पदार्थः—(मखस्य) ब्रह्मचर्याख्यस्य (शिरः) मूर्द्धेव (असि) (मखाय) विद्याग्रहणानुष्ठानाय (त्वा) (मखस्य) ज्ञानस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) उत्तमव्यवहाराय (मखस्य) मननाख्यस्य (शिरः) उत्तमाङ्गवत् (असि) (मखाय) गार्हस्थ्यव्यवहाराय (त्वा) (मखस्य) (त्वा) (शीर्ष्णे) (मखस्य) गृहस्य (शिरः) शिरोवत् (असि) (मखाय) गृहस्थकार्यसङ्गतिकरणाय (त्वा) (मखस्य) (त्वा) (शीर्ष्णे) (मखाय) (त्वा) (मखस्य) सद्व्यवहारसिद्धेः (त्वा) शीर्ष्णे शिरोवद्वर्त्तमानाय (मखाय) योगाभ्यासाय (त्वा) (मखस्य) साङ्गोपाङ्गस्य योगस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) शिरोवत्सर्वोपरिवर्त्तमानाय (मखाय) ऐश्वर्य्यप्रदाय (त्वा) त्वाम् (मखस्य) ऐश्वर्य्यप्रदस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) सर्वोत्कर्षाय ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा । यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा । यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा । तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं सेवेमहि ॥ ८ ॥

भावार्थः— ये सत्क्रियायामुत्तमाः सन्ति तेऽन्यानपि सत्कारिणो निर्माय मस्तकवदुत्तमाङ्गा भवेयुः ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जिस कारण आप (मखाय) ब्रह्मचर्य्य आश्रम रूप यज्ञ के (शिरः) शिर के तुल्य (असि) हैं इस से (मखाय) विद्या ग्रहण के अनुष्ठान के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) ज्ञान सम्बन्धी (शीर्ष्णे) उत्तम व्यवहार के लिये (त्वा) आप को जिस कारण आप (मखस्य) विचार रूप यज्ञ के (शिरः) उत्तम अवयव के समान (असि) हैं इस से (मखाय) गृहस्थों के व्यवहार के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) आप को जिस कारण आप (मखस्य) गृहाश्रम के (शिरः) उत्तम अवयव के समान (असि) हैं इस से (मखाय) गृहस्थों के कार्य्यों को सङ्गत करने के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम शिर के समान अवयव के लिये (त्वा) आप को सेवन करें । इस से (मखाय) उत्तम व्यवहार की सिद्धि के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) सत् व्यवहार की सिद्धि सम्बन्धी (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के तुल्य वर्त्तमान होने के लिये (त्वा) आप को (मखाय) योगाभ्यास के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) सांगोपाङ्ग योग के (शीर्ष्णे) सर्वोपरि वर्त्तमान विषय के लिये (त्वा) आप को (मखाय) ऐश्वर्य देने वाले के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) ऐश्वर्य देने वाले के (शीर्ष्णे) सर्वोत्तम कार्य के लिये (त्वा) आप को हम लोग सेवन करें ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो लोग सत्कार करने में उत्तम हैं वे दूसरों को भी सत्कारी बना के मस्तक के तुल्य उत्तम अवयवों वाले हों ॥ ८ ॥

अश्वस्येत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। विद्वान् देवता। पूर्वस्योत्तरस्य च अतिशक्करी छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

के मनुष्याः सुखिनो भवन्तीत्याह॥

कौन मनुष्य सुखी होते हैं इस वि०॥

अश्व॑स्य त्वा॒ वृष्णः॑ श॒क्ना धू॑पयामि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। अश्व॑स्य त्वा॒ वृष्णः॑ श॒क्ना धू॑पयामि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। अश्व॑स्य त्वा॒ वृष्णः॑ श॒क्ना धू॑पयामि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे॥ ९॥

अश्व॑स्य। त्वा॒। वृष्णः॑। श॒क्ना। धू॒प॒या॒मि॒। दे॒व॒यज॑न॒ इति॑ देव॒ऽयज॑ने। पृ॒थि॒व्याः। म॒खाय॑। त्वा॒। म॒खस्य॑। त्वा॒। शी॒र्ष्णे। अश्व॑स्य। त्वा॒। वृष्णः॑। श॒क्ना। धू॒प॒या॒मि॒। दे॒व॒यज॑न॒ऽइति॑ दे॒व॒ऽयज॑ने। पृ॒थि॒व्याः। म॒खाय॑। त्वा॒। म॒खस्य॑। त्वा॒। शी॒र्ष्णे।

अश्वस्य । त्वा । वृष्णः । शक्ना । धूपयामि । देवयजन इति देवऽयजने । पृथिव्याः । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अश्वस्य) वह्न्यादेः (त्वा) त्वाम् (वृष्णः) बलवतः (शक्ना) शकृता दुर्गन्धादिनिवारणसामर्थ्येन धूमादिना (धूपयामि) सन्तापयामि (देवयजने) विद्वद्यजनाधिकरणे (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्य (मखाय) वायुशुद्धिकरणाय (त्वा) (मखस्य) शोधकस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) (अश्वस्य) तुरङ्गस्य (त्वा) (वृष्णः) वेगवतः (शक्ना) शकृता (धूपयामि) (देवयजने) देवा यजन्ति यस्मिँस्तस्मिन् (पृथिव्याः) भूमेः (मखाय) पृथिव्यादिविज्ञानाय (त्वा) (मखस्य) तत्वबोधस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) (अश्वस्य) आशुगामिनः (त्वा) (वृष्णः) बलवतः (शक्ना) शकृता (धूपयामि) (देवयजने) विदुषां पूजने (पृथिव्याः) भूमेः (मखाय) उपयोगाय (त्वा) (मखस्य) (त्वा) शीर्ष्णे) शिरसे (मखाय) (त्वा) (मखस्य) (त्वा) (शीर्ष्णे) (मखाय) (त्वा) (मखस्य) त्वा) (शीर्ष्णे) (मखाय) (त्वा) (मखस्य) (त्वा) (शीर्ष्णे) ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यथाऽहं पृथिव्या देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि । पृथिव्या देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि । पृथिव्या देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्र पुनर्वचनमतिशयित्वद्योतनार्थम् । ये मनुष्या रोगादिक्लेशनिवृत्तये वह्न्यादीन्पदार्थान् संप्रयुञ्जते ते सुखिनो जायन्ते ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! जैसे मैं (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष के (देवयजने) विद्वानों के यज्ञ स्थल में (वृष्णः) बलवान् (अश्वस्य) अग्नि आदि के (शक्ना) दुर्गन्ध के निवारण में समर्थ धूम आदि से (त्वा) तुझ को (मखाय) वायु की शुद्धि करने के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) शोधक पुरुष के (शीर्ष्णे) शिर रोग की निवृत्ति के अर्थ (त्वा) तुझ को (धूपयामि) सम्यक् तपाता हूं । (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच विद्वानों के (देवयजने) यज्ञ स्थल में (वृष्णः) वेगवान् (अश्वस्य) घोड़े की (शक्ना) लेंडी लीद से (त्वा) तुझ को (मखाय) पृथिव्यादि के ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) तत्त्वबोध के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझ को (मखाय) यज्ञ सिद्धि के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव की सिद्धि के लिये (त्वा) तुझ को (धूपयामि) सम्यक् तपाता हूं (पृथिव्याः) भूमि के बीच (देवयजने) विद्वानों की पूजा स्थल में (वृष्णः) बलवान् (अश्वस्य) शीघ्रगामी अग्नि के (शक्ना) तेज आदि से (त्वा) आप को (मखाय) उपयोग के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) उपयुक्त कार्य के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझ को (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) तुझ को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझ को (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) आप को और (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझ को (धूपयामि) सम्यक् तपाता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पुनरुक्ति अधिकता जताने के अर्थ है । जो मनुष्य रोगादि क्लेश की निवृत्ति के लिये अग्नि आदि पदार्थों का सम्प्रयोग करते हैं वे सुखी होते हैं ॥ ९ ॥

ऋजव इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । विद्वांसो देवताः । स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

के महद्राज्यं प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन बड़े राज्य को प्राप्त होते हैं इस वि० ॥

ऋजवे त्वा साधवे त्वा सुक्षित्यै त्वा । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ १० ॥

ऋजवे । त्वा । साधवे । त्वा । सुक्षित्या इति सुक्षित्यै । त्वा । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे । मखाय । त्वा । मखस्य । त्वा । शीर्ष्णे ॥ १० ॥

पदार्थः—(ऋजवे) सरलाय (त्वा) त्वाम् (साधवे) परोपकारसाधकाय (त्वा) (सुक्षित्यै) उत्तमायै भूम्यै (त्वा) (मखाय) विदुषां सत्काराय (त्वा) (मखस्य) यज्ञस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) (मखाय) (त्वा) (मखस्य) (त्वा) (शीर्ष्णे) (मखाय) (त्वा) (मखस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! ऋजवे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा साधवे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा सुक्षित्यै त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं स्थापयामः ॥ १० ॥

भावार्थः—ये विनयसाधुत्वाभ्यां युक्ताः प्रयत्नेन सर्वोपकाराख्यं यज्ञं साध्नुवन्ति ते महद्राज्यमाप्नुवन्ति ॥ १० ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! (ऋजवे) सरल स्वभाव वाले (त्वा) आप को (मखाय) विद्वानों के सत्कार के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) आप को (साधवे) परोपकार को सिद्ध करने वाले के लिये (त्वा) आप को (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) शिर के लिये (त्वा) आप को (सुक्षित्यै) उत्तम भूमि के लिये (त्वा) आप को (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) आप को (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) आप को हम लोग स्थापित करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—जो लोग विनय और सीधेपन से युक्त प्रयत्न के साथ सर्वोपकार रूप यज्ञ को सिद्ध करते हैं वे बड़े राज्य को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

यमायेत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । सविता देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ सज्जनाः कीदृशा भवन्तीत्याह ॥
अब सज्जन कैसे होते हैं इस वि० ॥

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्य्यस्य त्वा तपसे । देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सꣳस्पृशस्पाहि । अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि ॥ ११ ॥

यमाय । त्वा । मखाय । त्वा । सूर्य्यस्य । त्वा । तपसे । देवः । त्वा । सविता । मध्वा । अनक्तु । पृथिव्याः । सꣳस्पृश इति सम्ऽस्पृशः । पाहि । अर्चिः । असि । शोचिः । असि । तपः । असि ॥ ११ ॥

मनुष्य कौन सुखी होते

पदार्थः-(यमाय) (त्वा) त्वाम् (मखाय) न्यायानुष्ठानाय (त्वा) (सूर्यस्य) प्रेरकस्येश्वरस्य (त्वा) (तपसे) धर्मानुष्ठानाय (देवः) दाता (त्वा) (सविता) ऐश्वर्यकर्ता (मध्वा) मधुरेण (अनक्तु) संयुनक्तु (पृथिव्याः) भूमेः (संस्पृशः) सम्यक् स्पर्शात् (पाहि) (अर्चिः) प्रदीप्तिः (असि) (शोचिः) शोचिरिव पवित्रः (असि) (तपः) धर्मे श्रमकर्त्ता (असि) ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! सविता देवो मखाय यमाय त्वा सूर्यस्य तपसे गृह्णातु। पृथिव्यास्त्वा मध्वाऽनक्तु स त्वं संस्पृशः पाहि यतस्त्वमर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि तस्मात्त्वा सत्कुर्य्याम ॥ ११ ॥

भावार्थः—ये न्यायव्यवहारेण प्रदीप्तयशसो भवन्ति ते दुःखस्पर्शात् पृथग् भूत्वा तेजस्विनो भवन्ति दुष्टान्परिताप्य श्रेष्ठान् सुखयन्ति च ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे विद्वन्! (सविता) ऐश्वर्यकर्त्ता (देवः) दानशील पुरुष (मखाय) न्याय के अनुष्ठान के लिये (यमाय) नियम के अर्थ (त्वा) आपको (सूर्यस्य) प्रेरक ईश्वर सम्बन्धी (तपसे) धर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) आप को ग्रहण करे (पृथिव्याः) भूमि सम्बन्धी (त्वा) आप को (मध्वा) मधुरता से (अनक्तु) संयुक्त करे सो आप (संस्पृशः) सम्यक् स्पर्श से (पाहि) रक्षा कीजिये जिस कारण आप (अर्चिः) तेजस्वी (असि) हैं (शोचिः) अग्नि की लपट के तुल्य पवित्र (असि) हैं और (तपः) धर्म में श्रम करने हारे (असि) हैं इस से (त्वा) आप का सत्कार करें ॥ ११ ॥

भावार्थः—जो लोग यथार्थ व्यवहार से प्रकाशित कीर्ति वाले होते हैं वे दुःख स्पर्श से अलग होकर तेजस्वी होते हैं और दुष्टों को दुःख देकर श्रेष्ठों को सुखी ॥ ११ ॥

त्वा मखाय इत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। पृथिवी देवता। त्वा वयं स्थाय स्वराडुत्कृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्यऽआयुर्मे दाः। पुत्रवती दक्षिणतऽइन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः। सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः। आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः। विधृतिरुपरिष्टाद्बृहस्पतेराधिपत्यऽओजो मे दाः। विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ॥१२॥

अनाधृष्टा। पुरस्तात्। अग्नेः। आधिपत्यऽइत्याधिऽपत्ये। आयुः। मे। दाः। पुत्रवतीति पुत्रऽवती। दक्षिणतः। इन्द्रस्य। आधिपत्यऽइत्याधिऽपत्ये। प्रजामिति प्रऽजाम्। मे। दाः। सुषदा। सुसदेति सुऽसदा। पश्चात्। देवस्य। सवितुः। आधिपत्यऽइत्याधिऽपत्ये। चक्षुः। मे। दाः। आश्रुतिरित्याऽश्रुतिः। उत्तरतः। धातुः। आधिपत्यऽइत्याधिऽपत्ये। रायः। पोषम्। मे। दाः। विधृतिरिति विऽधृतिः। उपरिष्टात्। बृहस्पतेः। आधिपत्यऽइत्याधिऽपत्ये। ओजः। मे। दाः। विश्वाभ्यः। मा। नाष्ट्राभ्यः। पाहि। मनोः। अश्वा। असि ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अनाधृष्टा) परैर्धर्षणारहिता (पुरस्तात्) पूर्वदेशात् (अग्नेः) पावकस्य (आधिपत्ये) अधिपतेर्भावे (आयुः) जीवनप्रदमन्नम् । आयुरित्यन्ननाम० निघं० । २ । ७ (मे) मह्यम् (दाः) दद्याः (पुत्रवती) प्रशस्ताः पुत्रा विद्यन्ते यस्याः सा (दक्षिणतः) दक्षिणाद्देशात् (इन्द्रस्य) विद्युत ऐश्वर्यस्य वा (आधिपत्ये) अधिष्ठातृत्वे (प्रजाम्) (मे) मह्यम् (दाः) दद्याः (सुषदा) सुष्ठु सीदन्ति यस्यां सा (पश्चात्) पश्चिमतः (देवस्य) देदीप्यमानस्य (सवितुः) सवितृमण्डलस्य (आधिपत्ये) (चक्षुः) (मे) मह्यम् (दाः) (आश्रुतिः) समन्ताच्छ्रवणं यस्याः सा (उत्तरतः) धातुः धर्त्तुर्वायोः (आधिपत्ये) (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (मे) (दाः) (विधृतिः) विविधा धारणा यस्याः सा (उपरिष्टात्) ऊर्ध्वात् (बृहस्पतेः) बृहतां पालकस्य सूत्रात्मनः (आधिपत्ये) (ओजः) बलम् (मे) (दाः) (विश्वाभ्यः) सर्वाभ्यः (मा) माम् (नाष्ट्राभ्यः) नष्टभ्रष्टस्वभावाभ्यो व्यभिचारिणीभ्यः (पाहि) (मनोः) अन्तःकरणस्य (अश्वा) व्यापिका (असि) भवसि ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! त्वमनाधृष्टा सती पुरस्तादग्नेराधिपत्ये म आयुर्दाः पुत्रवती सती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये मे प्रजां दाः सुषदा सती पश्चात्सवितुर्देवस्याधिपत्ये मे चक्षुर्दा आश्रुतिः सत्युत्तरतो धातुराधिपत्ये मे रायस्पोषं दाः । विधृतिः सत्युपरिष्टाद्बृहस्पतेराधिपत्ये म ओजो दाः । यतो मनोरश्वाऽसि तस्माद्विश्वाभ्यो नाष्ट्राभ्यो मा पाहि ॥ १२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथाऽग्निर्जीवनं यथा विद्युत् प्रजां यथा सविता दर्शनं धाता श्रियं महाशयो बलञ्च ददाति तथैव सुलक्षणा पत्नी सर्वाणि सुखानि प्रयच्छति तां यथावद्रक्षत ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! तू (अनाधृष्टा) दूसरों से नहीं धमकायी हुई (पुरस्तात्) पूर्वदेश से (अग्नेः) अग्नि के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (आयुः) जीवन के हेतु अन्न को (दाः) दे (पुत्रवती) प्रशंसित पुत्रों वाली हुई (दक्षिणतः) दक्षिण देश से (इन्द्रस्य) बिजुली वा सूर्य्य के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (प्रजाम्) प्रजा सन्तान (दाः) दीजिये (सुषदा) जिस के सम्बन्ध में सुन्दर प्रकार स्थित हों ऐसी हुई (पश्चात्) पश्चिम से (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) सूर्य्यमण्डल के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (चक्षुः) नेत्र दीजिये (आश्रुतिः) अच्छे प्रकार जिस का सुनना हो ऐसी हुई तू (उत्तरतः) उत्तर से (धातुः) धारणकर्त्ता वायु के (आधिपत्ये) मालिकपन में (मे) मेरे लिये (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि को (दाः) दे (विधृतिः) अनेक प्रकार की धारणाओं वाली हुई (उपरिष्टात्) ऊपर से (बृहस्पतेः) बड़े२ पदार्थों के रक्षक सूत्रात्मा वायु के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (ओजः) बल (दाः) दे । जिस कारण (मनोः) मननशील अन्तःकरण की (अश्वा) व्यापिका (असि) है इस से (विश्वाभ्यः) सब (नाष्ट्राभ्यः) नष्टभ्रष्ट स्वभाव वाली व्यभिचारिणियों से (मा) मुझ को (पाहि) रक्षित कर ॥ १२ ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो ! जैसे अग्नि जीवन को जैसे बिजुली प्रजा को जैसे सूर्य देखने को धारणकर्त्ता ईश्वर लक्ष्मी और शोभा को और महाशय जन बल को देता है वैसे ही सुलक्षणा पत्नी सब सुखों को देती है उस की तुम रक्षा किया करो ॥ १२ ॥

स्वाहेत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । विद्वान् देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

स्वाहा॑ म॒रुद्भिः॒ परि॑ श्रीयस्व । दि॒वः स॒ꣳस्पृश॑स्पाहि॒ मधु॒ मधु॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

स्वाहा । मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः । परि । श्रीयस्व । दिवः । सꣳस्पृश इति समऽस्पृशः । पाहि । मधु । मधु । मधु ॥ १३ ॥

पदार्थः—(स्वाहा) सत्यां क्रियाम् (मरुद्भिः) मनुष्यैः सह (परि) सर्वतः (श्रीयस्व) सेवस्व । अत्र विकरणव्यत्ययेन श्यन् (दिवः) प्रकाशाद्विद्युतः (संस्पृशः) यः संस्पृशति तस्मात् (पाहि) (मधु) कर्म (मधु) उपासनम् (मधु) विज्ञानम् ॥ १३ ॥

अन्वयः हे विद्वँस्त्वं मरुद्भिः स्वाहा मधु मधु मधु श्रीयस्व संस्पृशो दिवोऽस्मान् परि पाहि ॥ १३ ॥

भावार्थः—ये पूर्णैर्विद्वद्भिः सह कर्मोपासनाज्ञानविद्यां सत्क्रियां च गृहीत्वा सेवन्ते ते सर्वतो रक्षिताः सन्तो महदैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप (मरुद्भिः) मनुष्यों के साथ (स्वाहा) सत्क्रिया (मधु) कर्म (मधु) उपासना और (मधु) विज्ञान का (श्रीयस्व) सेवन कीजिये तथा (संस्पृशः) सम्यक् स्पर्श करने वाली (दिवः) प्रकाश रूप विजुली से हमारी (परि, पाहि) सब ओर से रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो लोग पूर्ण विद्वानों के साथ कर्म उपासना और ज्ञान की विद्या तथा उत्तम क्रिया को ग्रहण कर सेवन करते हैं वे सब ओर से रक्षा को प्राप्त हुए बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

गर्भइत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथेश्वरोपासनविषयमाह ॥

अब ईश्वर की उपासना का वि० ॥

गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानां-

म् । सं देवो देवेन सवित्रा गंत सꣳसूर्य्येण रोचते ॥ १४ ॥

गर्भः । देवानाम् । पिता । मऽतीनाम् । पतिः । प्रजानामिति प्रऽजानाम् । सम् । देवः । देवेन । सवित्रा । गत । सम् । सूर्य्येण । रोचते ॥ १४ ॥

पदार्थः—(गर्भः) गर्भ इवान्तः स्थितः (देवानाम्) विदुषां पृथिव्यादीनां वा (पिता) जनक इव (मतीनाम्) मननशीलानां मेधाविनां मनुष्याणाम् (पतिः) पालकः (प्रजानाम्) उत्पन्नाना पदार्थानाम् (सम्) एकीभावे (देवः) स्वप्रकाशस्वरूपः (देवेन) विदुषा (सवित्रा) प्रसवहेतुना (गत) प्राप्नुत । अत्र लोटि शपो लुक् (सम्) (सूर्येण) प्रकाशकेन सह (रोचते) प्रकाशते ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यो देवानां गर्भो मतीनां पिता प्रजानां पतिर्देवः परमात्मा सवित्रा देवेन सूर्येण सह संरोचते तं यूयं सङ्गत ॥ १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यः सर्वेषां जनकः पितृवत्पालकः सूर्यादीनामपि प्रकाशकः सर्वत्राऽभिव्याप्तो जगदीश्वरोऽस्ति तमेव पूर्णं परमात्मानं सदैवोपासताम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (देवानाम्) विद्वानों वा पृथिवी आदि तेंतीस देवों के (गर्भः) बीच स्थित व्याप्य (मतीनाम्) मननशील बुद्धिमान् मनुष्यों के (पिता) पिता के तुल्य (प्रजानाम्) उत्पन्न हुए पदार्थों का (पतिः) रक्षक स्वामी (देवः) स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा (सवित्रा) उत्पत्ति के हेतु (देवेन) (सूर्येण) प्रकाशक विद्वान् के साथ (सम्, रोचते) सम्यक् प्रकाशित होता है उस को तुम लोग (सम्, गत) सम्यक् प्राप्त होओ ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग जो सब का उत्पन्न करनेहारा पिता के तुल्य रक्षक प्रकाशक सूर्यादि पदार्थों का भी प्रकाशक सर्वत्र अभिव्याप्त जगदीश्वर है उसी पूर्ण परमात्मा की सदैव उपासना किया करें ॥ १४ ॥

समग्नीत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दैवे॑न सवि॒त्रा सꣳ सूर्ये॑णारोचिष्ट । स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दैव्ये॑न सवि॒त्रा सꣳ सूर्ये॑णारूरुचत ॥ १५ ॥

सम् । अ॒ग्निः । अ॒ग्निना॑ । ग॒त॒ । सम् । दैवे॑न । स॒वि॒त्रा । सम् । सूर्ये॑ण । अ॒रो॒चि॒ष्ट॒ । स्वाहा॑ । सम् । अ॒ग्निः । तप॑सा । ग॒त॒ । सम् । दैव्ये॑न । स॒वि॒त्रा । सम् । सूर्ये॑ण । अ॒रू॒रु॒च॒त॒ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यक् (अग्निः) प्रकाशकः (अग्निना) स्वयंप्रकाशेन जगदीश्वरेण (गत) विजानीत (सम्) (दैवेन) देवेन निर्मितेन (सवित्रा) प्रेरकेण (सम्) (सूर्येण) (अरोचिष्ट) प्रकाशते (स्वाहा) सत्यया क्रियया (सम्) (अग्निः) (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (गत) (सम्) (दैव्येन) देवेषु पृथिव्यादिषु भवेन (सवित्रा) ऐश्वर्यकार-

केण (सम्) (सूर्येण) प्रेरकेण (अरूरुचत) सम्यक् प्रकाशते ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! योऽग्निनाऽग्निर्देवेन सवित्रा सूर्येण सहसम रोचिष्ट तं परमात्मानं यूयं स्वाहा सङ्गत योऽग्निर्दैव्येन सवित्रा सूर्य्येण तपसा समरूरुचत तं यूयं सङ्गत ॥ १९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या अग्नेरग्निं सवितुः सवितारं सूर्य्यस्य सूर्य्यं परमात्मानं विजानीयुस्तेभ्योऽभ्युदयनिःश्रेयसे सुखं सम्यक्प्राप्नुतः ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (अग्निना) स्वयं प्रकाश जगदीश्वर से (अग्निः) प्रकाशक अग्नि (देवेन) ईश्वर ने बनाये (सवित्रा) प्रेरक (सूर्य्येण) सूर्य्य के साथ (सम्) (अरोचिष्ट) सम्यक् प्रकाशित होता है उस परमात्मा को तुम लोग (स्वाहा) सत्य क्रिया से (सम्, गत) सम्यक् जानो और जो (अग्निः) प्रकाशक ईश्वर (दैव्येन) पृथिवी आदि में हुए (सवित्रा) ऐश्वर्य का कारक (सूर्य्येण) प्रेरक (तपसा) धर्मानुष्ठान से (सम्, अरूरुचत) सम्यक् प्रकाशित होता है उस को तुम लोग (सम्, गत) सम्यक् प्राप्त होओ ॥ १९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अग्नि के उत्पादक के उत्पादक सूर्य्य के सूर्य्य परमात्मा को विशेष कर जानें उन के लिये इस लोक परलोक के सुख सम्यक् प्राप्त होते हैं॥१९॥

धर्त्तेत्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

धर्त्ता दिवो विभाति तपसस्पृथिव्यां धर्त्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः । वाचमस्मे नि यच्छ देवायुवम् ॥ १६ ॥

धर्त्ता । दिवः । वि । भाति । तपसः । पृथिव्याम् । धर्त्ता । देवः । देवानाम् । अमर्त्यः । तपोजाऽइति तपःऽजाः । वाचम् । अस्मेऽइत्यस्मे । नि । यच्छ । देवायुवम् । देवऽयुवमिति देवऽयुवम् ॥ १६ ॥

पदार्थः-(धर्त्ता) (दिवः) प्रकाशमयस्य सूर्य्यादेः (वि, भाति) विशेषेण प्रकाशते (तपसः) प्रतापकस्य (पृथिव्याम्) अन्तरिक्षे (धर्त्ता) देवः प्रकाशस्वरूपः (देवानाम्) पृथिव्यादीनाम् (अमर्त्यः) मृत्युधर्मरहितः (तपोजाः) यस्तपसो जायते प्रकटयते सः (वाचम्) सुशिक्षितां वाणीम् (अस्मे) अस्मभ्यम् (नि) नितराम् (यच्छ) देहि (देवायुवम्) या देवान् पृथिव्यादीन् दिव्यगुणान्विदुषो वा यावयति ताम् ॥ १६ ॥

अन्वयः-हे विद्वन्! यः पृथिव्यां तपसो दिवो धर्त्ता यस्तपोजाअमर्त्यो देवो देवानां धर्त्ता जगदीश्वरो विभाति तद्विज्ञानेनाऽस्मे देवायुवं वाचं नियच्छ ॥१६॥

भावार्थः-हे विद्वांसो! यः परमेश्वरः सर्वेषां धर्त्ता प्रकाशकस्तपसा विज्ञातव्योऽस्ति तज्ज्ञापिकां विद्यामस्मभ्यं दत्त ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे विद्वन्! जो (पृथिव्याम्) आकाश में (तपसः) सब को तपाने वाले (दिवः) प्रकाशमय सूर्य्य आदि का (धर्त्ता) धारणकर्त्ता जो (तपोजाः) तप से प्रकट होने वाला (अमर्त्यः) मरण धर्म रहित (देवः) प्रकाशस्वरूप (देवानाम्) पृथिव्यादि तेंतीस देवों का (धर्त्ता) धारणकर्त्ता जगदीश्वर (वि, भाति) विशेष कर प्रकाशित होता है उसके विज्ञान से (अस्मे) हमारे लिये (देवायुवम्) दिव्यगुण (वाले) पृथिव्यादि वा विद्वानों को संगत करने वाली (वाचम्) वाणी को (नि,यच्छ) निरन्तर दीजिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—हे विद्वान् लोगो! जो परमेश्वर सब का धर्त्ता प्रकाशक तप से विशेष कर जानने योग्य है उस को जनाने वाली विद्या को हमारे लिये देओ ॥ १६ ॥

अपश्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ईश्वरो देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ईश्वरोपासकाः कीदृशा भवन्तीत्याह ॥

ईश्वर के उपासक कैसे होते हैं इस वि० ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् । स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः ॥ १७ ॥

अपश्यम् । गोपाम् । अनिपद्यमानमित्यनिऽपद्यमानम् । आ । च । परा । च । पथिभिरिति पथिऽभिः । चरन्तम् । सः । सध्रीचीः । सः । विषूचीः । वसानः । आ । वरीवर्त्ति । भुवनेषु । अन्तरित्यन्तः ॥ १७ ॥

पदार्थः-(अपश्यम्) पश्येयम् (गोपाम्) रक्षकम् (अनिपद्यमानम्) अपतनशीलमचलम् (आ) (च) (परा)(च) (पथिभिः) ज्ञानमार्गैः (चरन्तम्) प्राप्नुवन्तम् (सः) (सध्रीचीः) सहवर्त्तमानाः (सः) (विषूचीः) व्याप्ताः (वसानः) आच्छादकः (आ) (वरीवर्त्ति) समन्ताद्भृशमावृणोति समन्ताद्वर्त्तते वा (भुवनेषु) लोकलोकान्तरेषु (अन्तः) मध्ये ॥ १७ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या ! अहं यं पथिभिराचरन्तं पराचरन्तमनिपद्यमानं गोपां जगदीश्वरमपश्यं स च सध्रीचीः सच विषूचीर्वसानः सन् भुवनेष्वन्तरावरीवर्त्ति तं यूयमपि पश्यत ॥ १७ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वलोकाभिव्यापिनमन्तर्यामिरूपेण प्राप्तमधर्मिभिरविद्वद्भिरयोगिभिरविज्ञेयं परमात्मानं विज्ञायात्मना युञ्जते ते सर्वान् धर्म्यान्मार्गान्प्राप्य विशुध्यन्ति ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! मैं जिस (पथिभिः) शुद्ध ज्ञान के मार्गों से (आ, चरन्तम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हुए (परा) परभाग में भी प्राप्त होते हुए (अनिपद्यमानम्) अचल (गोपाम्) रक्षक जगदीश्वर को (अपश्यम्) देखूं (स, च) वह भी (सध्रीचीः) साथ वर्त्तमान दिशाओं (च) और (सः) वह (विषूचीः) व्याप्त उपदिशाओं को (वसानः) आच्छादित करने वाला हुआ (भुवनेषु) लोकलोकान्तरों के (अन्तः) बीच (आ, वरीवर्त्ति) अच्छे प्रकार सब का आवरण करता वा वर्त्तमान है ॥ १७ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सब लोकों में अभिव्यापि अन्तर्यामि रूप से प्राप्त अधर्मी अविद्वान् और अयोगि लोगों के न जानने योग्य परमात्मा को जानकर अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं वे सब धर्मयुक्त मार्गों को प्राप्त होकर शुद्ध होते हैं ॥ १७ ॥

विश्वासामित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता । अत्यष्टिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते देवश्रुत्त्वन्देव घर्म देवो देवान् पाह्यत्र प्रावीरनु वान्देववीतये । मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्याम् ॥ १८ ॥

विश्वासाम् । भुवाम् । पते । विश्वस्य । मनसः । पते । विश्वस्य । वचसः । पते । सर्वस्य । वचसः । प-

ते । देवश्रुदिति देवऽश्रुत् । त्वम् । देव । घर्म । देवः । देवान् । पाहि । अत्र । प्र । अवीः । अनु । वाम् । देववीतयऽ इति देवऽवीतये । मधु । माध्वीभ्याम् । मधु । माधूचीभ्याम् ॥१८॥

पदार्थः--(विश्वासाम्) समग्राणाम् (भुवाम्) पृथिवीनाम् (पते) स्वामिन् (विश्वस्य) समग्रस्य (मनसः) सङ्कल्पविकल्पादिवृत्तियुक्तस्यान्तःकरणस्य (पते) रक्षक (विश्वस्य) (वचसः) वेदवाचः (पते) पालक (सर्वस्य) अखिलस्य (वचसः) वचनस्य (पते) रक्षक (देवश्रुत्) यो देवान् विदुषः शृणोति सः (त्वम्) (देव) सर्वसुखदातः (घर्म) प्रदीपक (देवः) रक्षकः सन् (देवान्) धार्मिकान् विदुषः (पाहि) (अत्र) अस्मिन् जगति (प्र) (अवीः) देहि । अत्र लोडर्थे लुङडभावश्च (अनु) (वाम्) युवाभ्याम् (देववीतये) दिव्यानां गुणानां व्याप्तये (मधु) मधु विज्ञानम् (माध्वीभ्याम्) मधुरादि गुणयुक्ताभ्यां विद्यासुशिक्षाभ्याम् (मधु) मधुरादिगुणयुक्तं धनम् (माधूचीभ्याम्) यौ मधुविद्यामञ्चतस्ताभ्याम् ॥ १८ ॥

अन्वयः--हे विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते घर्म देव जगदीश्वर! देव श्रुद्देवस्त्वमत्र देवान्पाहि । माध्वीभ्यां सह मधु माध्वीर्माधूचीभ्यां देववीतये देवाननुपाहीति । हे अध्यापकोपदेशकौ वां युवाभ्यामहमिदमुपादिशेयम् ॥ १८ ॥

भावार्थः-हे विद्वांसो! यूयं विश्ववेदात्ममनसां स्वामिनं सर्वश्रोतारं सर्वस्य रक्षितारं परमात्मानं विज्ञाय दिव्यं सुखं प्राप्यान्यान् प्रापयत ॥ १८ ॥

पदार्थः —हे (विश्वासाम्) सब (भुवाम्) पृथिवियों के (पते) स्वामिन् (विश्वस्य) सब (मनसः) संकल्प विकल्प आदि वृत्तियुक्त अन्तःकरण के (पते) रक्षक (विश्वस्य) समस्त (वचसः) वेदवाणी के (पते) पालक (सर्वस्य) संपूर्ण वचन मात्र के (पते) रक्षक (धर्म) प्रकाशक (देव)सब सुखों के दाता जगदीश्वर! (देवश्रुत) विद्वानों को सुनने हारे (देवः) रक्षक हुए (त्वम्) आप (अत्र) इस जगत् में (देवान्) धार्मिक विद्वानों की (पाहि) रक्षा कीजिये (माध्वीभ्याम्) मधुरादि गुण युक्त विद्या और उत्तम शिक्षा के (मधु) मधुर विज्ञान को (प्र, अवीः) प्रकर्ष के साथ दीजिय (माधूचीभ्याम्) विष को विनाशने वाली मधुविद्या को प्राप्त होने वाले अध्यापक उपदेशकों के साथ (देववीतये) दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये विद्वानों की (अनु) अनुकूल रक्षा कीजिये। इस प्रकार हे अध्यापक उपदेशको! (वाम्) तुम्हारे लिये मैं उपदेश को करूं ॥ १८ ॥

भावार्थः—हे विद्वानो! तुम लोग सब देव आत्मा और मनों के स्वामी सब सुनने वाले सब के रक्षक परमात्मा को जान और उत्तम सुख को प्राप्त होकर दूसरों को सुख प्राप्त करो ॥ १८ ॥

हृदे त्वेत्यस्याथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
विराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा ।
ऊर्ध्वो अध्वरं दिवि देवेषु धेहि ॥ १९ ॥

हृदे । त्वा । मनसे । त्वा । दिवे । त्वा । सूर्य्याय । त्वा । ऊर्ध्वः । अध्वरम् । दिवि । देवेषु । धेहि ॥ १९ ॥

पदार्थः—(हृदे) हृदयस्य चेतनत्वाय (त्वा) त्वाम् (मनसे) विज्ञानवतेऽन्तःकरणाय (त्वा) (दिवे) विद्याप्रकाशाय विद्युद्विद्यायै वा (त्वा) (सूर्य्याय) सूर्य्यादिलोकविज्ञानाय (त्वा) (ऊर्ध्वः) सर्वेभ्य उत्कृष्टः (अध्वरम्) अहिंसामयं यज्ञम् (दिवि) दिव्ये व्यवहारे (देवेषु) विद्वत्सु (धेहि) प्रचारय ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! यं हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा ध्यायेम स ऊर्ध्वस्त्वं दिवि देवेषु चाध्वरं धेहि ॥ १९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सत्यभावेनात्मान्तःकरणशुद्धये सृष्टिविद्यायै चेश्वरमुपासते तान् स कृपालुरीश्वरो विद्याधर्मदानेन सर्वेभ्यो दुःखेभ्य उद्धरति ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर! जिस (हृदे) हृदय की चेतनता के लिये (त्वा) आप को (मनसे) विज्ञानवान् अन्तःकरण होने के अर्थ (त्वा) आप को (दिवे) विद्या के प्रकाश वा विद्युत् विद्या की प्राप्ति के लिये (त्वा) आप को (सूर्य्याय) सूर्यादि लोकों के ज्ञानार्थ (त्वा) आप का हम लोग ध्यान करें सो (ऊर्ध्वः) सब से उत्कृष्ट आप (दिवि) उत्तम व्यवहार और (देवेषु) विद्वानों में (अध्वरम्) अहिंसामय यज्ञ का (धेहि) प्रचार कीजिये ॥ १९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सत्यभाव से आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये और सृष्टिविद्या के अर्थ ईश्वर की उपासना करते हैं उनका वह कृपालु ईश्वर विद्या और धर्म के दान से सब दुःखों से उद्धार करता है ॥ १९ ॥

पिता न इत्यस्याथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
निचृदतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनस्तमेवविषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः । त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून्मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहꣳ सहपत्या भूयासम् ॥ २० ॥

पिता । नः । असि । पिता । नः । बोधि । नमः । ते । अस्तु । मा । मा । हिंसीः । त्वष्टृमन्त इति त्वष्टृऽमन्तः । त्वा । सपेम । पुत्रान् । पशून् । मयि । धेहि । प्रजामिति प्रऽजाम् । अस्मासु । धेहि । अरिष्टा । अहम् । सहपत्येति सहऽपत्या । भूयासम् ॥ २० ॥

पदार्थः—(पिता) जनक इव (नः) अस्माकम् (असि) (पिता) राजेव पालकः (नः) अस्मान् (बोधि) बोधय (नमः) (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (मा) निषेधे (मा) माम् (हिंसीः) हिंसया युक्तं कुर्याः (त्वष्टृमन्तः) बहवस्त्वष्टारः प्रकाशात्मानः पदार्था विद्यन्ते येषु ते (त्वा) त्वाम् (सपेम) सम्बद्धं कुर्याम (पुत्रान्) पवित्रगुणकर्मस्वभावान् (पशून्)

गवादीन् (मयि) (धेहि) (प्रजाम्) राष्ट्रम् (अस्मासु) (धेहि) (अरिष्टा) अहिंसिता (अहम्) (सहपत्या) स्वामिना सह (भूयासम्) ॥ २० ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! त्वं नः पिताऽसि पिता सन्नोऽस्मान् बोधि ते नमोऽस्तु त्वं मा मा हिंसीस्त्वष्टृमन्तो वयं त्वा सपेम त्वं पुत्रान् पशून् मयि धेहि अस्मासु प्रजां धेहि यतोऽहमरिष्टा सती सहपत्या भूयासम् ॥ २० ॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! भवान् नोऽस्माकं पिता स्वामी बन्धुर्मित्रो रक्षकोऽसि तस्मात्त्वां वयं सततमुपास्महे । हे स्त्रियो यूयं परमात्मन एवोपासनां नित्यं कुरुत यतः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुत ॥ २० ॥

पदार्थः-हे जगदीश्वर ! आप (नः) हमारे (पिता) पिता के समान (असि) हैं (पिता) राजा के तुल्य रक्षक हुए (नः) हम को (बोधि) बोध कराइये (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे आप (मा) मुझ को (मा, हिंसीः) मत हिंसायुक्त कीजिये (त्वष्टृमन्तः) बहुत स्वच्छ प्रकाशरूप पदार्थों वाले हम (त्वा) आप से (सपेम) सम्बन्ध करें । आप (पुत्रान्) पवित्र गुण कर्म स्वभाव वाले सन्तानों को तथा (पशून्) गौ आदि पशुओं को (मयि) मुझ में (धेहि) धारण कीजिये तथा (अस्मासु) हम में (प्रजाम्) प्रजा को (धेहि) धारण कीजिये जिस से (अहम्) मैं (अरिष्टा) अहिंसित हुई (सहपत्या) पति के साथ (भूयासम्) होऊं ॥ २० ॥

भावार्थः-हे जगदीश्वर ! आप हमारे पिता स्वामी बन्धु मित्र और रक्षक हैं इस से आप की हम निरन्तर उपासना करते हैं । हे स्त्रियो ! तुम परमेश्वर ही की उपासना नित्य किया करो जिस से सब सुखों को प्राप्त होओ ॥ २० ॥

अहः केतुनेत्यस्याथर्वण ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अहः॑ के॒तुना॑ जुषता॒ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। रात्रिः॑ के॒तुना॑ जुषता॒ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑ ॥ २१ ॥

अह॒रित्यहः॑ । के॒तुना॑ । जु॒षता॒म् । सु॒ज्योति॒रिति॑ सु॒ऽज्योतिः॑ । ज्योति॑षा । स्वाहा॑ । रात्रिः॑ । के॒तुना॑ । जु॒षता॒म् । सु॒ज्योति॒रिति॑ सु॒ऽज्योतिः॑ । ज्योति॑षा । स्वाहा॑ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(अहः) दिनम् (केतुना) जागरूकेण ज्ञानेन जागृतावस्थया (जुषताम्) सेवताम् (सुज्योतिः) विद्याप्रकाशम् (ज्योतिषा) सूर्यादिप्रकाशेन वा धर्मादिप्रकाशेन (स्वाहा) सत्यया क्रियया (रात्रिः) (केतुना) प्रज्ञया सुकर्मणा वा (जुषताम्) (सुज्योतिः) (ज्योतिषा) प्रकाशेन सह (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् विदुषि स्त्रि! वा भवती स्वाहा केतुना ज्योतिषा चाहः सुज्योतिर्जुषतां स्वाहा केतुना ज्योतिषा सह सुज्योती रात्रिस्त्वमान् जुषताम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा दिवा स्वापं रात्रौ चातिजागरणं विहाय युक्ताहारवि-

द्वारा ईश्वरोपासनतत्परा भवेयुस्तानहर्निशं सुखकरं वस्तु प्राप्नोति । अतो यथा प्रज्ञा वर्द्धेत तथानुष्ठातव्यमिति ॥ २१ ॥

अत्रेश्वरस्य योगिनः सूर्य्यपृथिव्योर्यज्ञस्य सन्मार्गस्य स्त्रीपत्योः पितृवद्वर्त्तमानस्य परमेश्वरस्य च वर्णनं युक्ताहारविहारस्य चानुष्ठानमुक्तमत एतदर्थस्य पूर्वाध्यायेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे विद्वन् वा विदुषी स्त्रि! आप (स्वाहा) सत्य क्रिया से (केतुना) उत्कट ज्ञान वा जागृत अवस्था से और (ज्योतिषा) सूर्यादि वा धर्मादि के प्रकाश से (अहः, सुज्योतिः) दिन और विद्या को (जुषताम्) सेवन कीजिये (स्वाहा) सत्य वाणी (केतुना) बुद्धि वा सुन्दर कर्म और (ज्योतिषा) प्रकाश के साथ (सुज्योतिः) सुन्दर ज्योति युक्त रात्रि हम को (जुषताम्) सेवन करे ॥ २१ ॥

भावार्थः—जो स्त्री पुरुष दिन के सोने और रात्रि के अति जागने को छोड़ युक्त आहार विहार करने हारे ईश्वर की उपासना में तत्पर होवें उन को दिन रात सुखकर वस्तु प्राप्त होती है इस से जैसे बुद्धि बढ़े वैसा अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २१ ॥

इस अध्याय में ईश्वर, योगी, सूर्य्य, पृथिवी, यज्ञ, सन्मार्ग स्त्री पति और पिता के तुल्य वर्त्तमान परमेश्वर का वर्णन तथा युक्त आहार विहार का अनुष्ठान कहा है इस से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ सङ्गति जाननी चाहिये॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां श्री विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती- स्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभा- षाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये सप्तत्रिंशोऽ- ध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥

ओ३म्

अथाऽष्टत्रिंशोऽध्याय आरभ्यते

———०:*:*:०:*:*:०———

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

देवस्येत्यस्याथर्वण ऋषिः । सविता देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ पत्न्या किं भूतया भवितव्यमित्याह ॥

अब अड़तीसवें अध्याय का आरम्भ है उस के प्रथम मन्त्र में स्त्री को कैसी होना चाहिये इस वि० ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आ द॑देऽदि॑त्यै रास्ना॑ऽसि ॥ १ ॥

दे॒वस्य॑ । त्वा । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्याम् । आ । द॒दे । अदि॑त्यै । रास्ना॑ । अ॒सि ॥ १ ॥

पदार्थः—(देवस्य) कमनीयस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सकलजगदुत्पादकस्य (प्रसवे) उत्पत्तिधर्मके (अश्विनोः) सूर्याचन्द्रमसोः (बाहुभ्याम्) बलवीर्य्याभ्यामिव भुजाभ्याम् (पूष्णः) पोषकस्य (हस्ताभ्याम्) गतिधारणाभ्यामिव क-

राभ्याम् (आ) (ददे) गृह्णीयाम् (अदित्यै) नाशरहितायै नीत्यै (रास्ना) दात्री (असि) भवसि ॥ १ ॥

अन्वयः—हे विदुषि ! यतस्त्वमदित्यै रास्नासि तस्मात्सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाददे ॥ १ ॥

भावार्थः—हे स्त्रि ! यथा सूर्यो भूगोलान् प्राणः शरीरमध्यापकोपदेशकौ सत्यं गृह्णन्ति तथैव त्वामहं गृह्णामि त्वं सततमनुकूला सुखप्रदा च भव ॥ १ ॥

पदार्थः—हे विदुषि स्त्री ! जिस कारण तू (अदित्यै) नाशरहित नीति के लिये (रास्ना) दानशील (असि) है इस से (सवितुः) समस्त जगत् के उत्पादक (देवस्य) कामना के योग्य परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न होने वाले जगत् में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल पराक्रम के तुल्य बाहुओं से (पूष्णः) पोषक वायु के (हस्ताभ्याम्) गमन और धारण के समान हाथों से (त्वा) तुझ को (आ, ददे) ग्रहण करूं ॥ १ ॥

भावार्थः—हे स्त्री ! जैसे सूर्य्य भूगोलों का, प्राण शरीर का और अध्यापक उपदेशक सत्य का ग्रहण करते हैं वैसे ही तुझ को मैं ग्रहण करता हूं तू निरन्तर अनुकूल सुख देने वाली हो ॥ १ ॥

इड इत्यस्याथर्वण ऋषिः । सरस्वती देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
स्त्रीपुरुषौ कथं विवहेतामित्याह ॥
स्त्री पुरुष कैसे विवाह करें इस वि० ॥

इडऽ एह्यदितऽ एहि सरस्वत्येहि । असावेह्यसावेह्यसावेहि ॥ २ ॥

इडे । एहि । अदिते । एहि । सरस्वति । एहि । असौ । एहि । असौ । एहि । असौ । एहि ॥ २ ॥

पदार्थः—(इडे) सुशिक्षितावागिव (एहि) प्राप्नुहि (अदिते) अखण्डितानन्ददे (एहि) (सरस्वति) प्रशस्तविज्ञानयुक्ते (एहि) (असौ) (एहि) (असौ) (एहि) (असौ) (एहि) ॥ २ ॥

अन्वयः—हे इडे! त्वं मामेहि योऽसौ त्वां प्राप्नुयात् तमेहि। हे अदिते! त्वमखण्डितानन्दमेहि योऽसौ त्वामखण्डितानन्दं दद्यात्तमेहि। हे सरस्वति! त्वं विद्वांसमेहि योऽसौ सुशिक्षकः स्यात्तमेहि ॥ २ ॥

भावार्थः—यदा स्त्रीपुरुषौ विवाहं कर्त्तुमिच्छेतां तदा ब्रह्मचर्येण विद्यया स्त्रीपुरुषधर्माचरणं विदित्वैव कुर्याताम् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे (इडे) सुशिक्षित वाणी के तुल्य स्त्रि! तू मुझ को (एहि) प्राप्त हो जो (असौ) वह तुझ को प्राप्त हो उस को तू (एहि) प्राप्त हो। हे (अदिते) अखण्डित आनन्द देने वाली तू अखण्डित आनन्द को (एहि) प्राप्त हो जो (असौ) वह तुझ को अखण्डित आनन्द देवे उस को (एहि) प्राप्त हो। हे (सरस्वति) प्रशस्त विज्ञान युक्त स्त्रि! तू विद्वान् को (एहि) प्राप्त हो जो (असौ) वह सुशिक्षक हो उस को (एहि) प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थः—जब स्त्री पुरुष विवाह करने की इच्छा करें तब ब्रह्मचर्य और विद्या से स्त्री और पुरुष के धर्म और आचरण को जान कर ही करें ॥ २ ॥

अदित्या इत्यस्याथर्वण ऋषिः। पूषा देवता।
भुरिक्साम्नी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

स्त्रिया किं कार्यमित्याह ॥

स्त्री को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीषः। पूषासि घर्माय दीष्व ॥ ३ ॥

अदित्यै । रास्ना । असि । इन्द्राण्यै । उष्णीषः । पूषा । असि । घर्माय । दीष्व ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अदित्यै) नित्यविज्ञानम् । अत्र कर्मणि चतुर्थी (रास्ना) दात्री (असि) (इन्द्राण्यै) परमैश्वर्यकारिण्यै राजनीत्यै (उष्णीषः) शिरोवेष्टनमिव (पूषा) भूमिरिव पोषिका (असि) (घर्माय) प्रसिद्धाऽप्रसिद्धसुखप्रदाय यज्ञाय (दीष्व) देहि । अत्र शपो लुक् छन्दस्युभयथेत्यार्द्धधातुकत्वम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—कन्ये ! या त्वमदित्यै रास्नासि उष्णीष इवेन्द्राण्यै पूषासि सा त्वं घर्माय दीष्व ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे स्त्रि ! यथोष्णीषादीनि वस्त्राणि सुखप्रदानि सन्ति तथापत्ये सुखानि प्रयच्छ ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे कन्ये ! जो तू (अदित्यै) नित्य विज्ञान के (रास्ना) देने वाली (असि) है (इन्द्राण्यै) परमैश्वर्य करने वाली नीति के लिये (उष्णीषः) शिरोवेष्टन पगड़ी के तुल्य (पूषा) भूमि के सदृश पोषण करने हारी (असि) है सो तूं (घर्माय) प्रसिद्ध अप्रसिद्ध सुख देने वाले यज्ञ के लिये (दीष्व) दान कर ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे स्त्रि ! जैसे पगड़ी आदि वस्त्र सुख देने वाले होते हैं वैसे तू पति के लिये सुख देने वाली हो ॥ ३ ॥

अश्विभ्यामित्यस्याथर्वण ऋषिः । सरस्वती देवता । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व । स्वाहेन्द्रवत्स्वाहेन्द्रवत्स्वाहेन्द्रवत् ॥ ४ ॥

अश्विभ्याम् । पिन्वस्व । सरस्वत्यै । पिन्वस्व । इन्द्राय । पिन्वस्व । स्वाहा । इन्द्रवदितीन्द्रऽवत् । स्वाहा । इन्द्रवदितीन्द्रऽवत् । स्वाहा । इन्द्रवदितीन्द्रऽवत् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अश्विभ्याम्) चन्द्रसूर्य्याभ्याम् (पिन्वस्व) तृप्नुहि (सरस्वत्यै) सुशिक्षितायै वाचे (पिन्वस्व) (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (पिन्वस्व) (स्वाहा) सत्यया क्रियया (इन्द्रवत्) इन्द्रं परमैश्वर्यं विद्यते यस्मिंस्तत् गृहीत्वा स्वाहा सत्यया वाचा (इन्द्रवत्) चेतनात्मगुणसंयुक्तं शरीरं प्राप्य (स्वाहा) (इन्द्रवत्) विद्युद्वत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे विदुषि स्त्रि ! त्वमिन्द्रवत्स्वाहाऽश्विभ्यां पिन्वस्वेन्द्रवत्स्वाहा सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्रवत्स्वाहेन्द्राय पिन्वस्व ॥ १४ ॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा विद्युदादिविद्यैश्वर्यमुन्नयेयुस्ते सुखमपि लभेरन् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—हे विदुषि स्त्रि ! तू (इन्द्रवत्) परम ऐश्वर्ययुक्त वस्तु को ग्रहण कर (स्वाहा) सत्यक्रिया से (अश्विभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के लिये (पिन्वस्व) तृप्त हो (इन्द्रवत्) चेतनता के गुणों से संयुक्त शरीर को पाकर (स्वाहा) सत्यवाणी से (सरस्वत्यै) सुशिक्षित वाणी के लिये (पिन्वस्व) संतुष्ट हो (इन्द्रवत्) विद्युत् विद्या को जानकर (स्वाहा) सत्यता से (इन्द्राय) परमोत्तम ऐश्वर्य के लिये (पिन्वस्व) संतुष्ट हो ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो स्त्री पुरुष विद्युत् आदि विद्या से ऐश्वर्य की उन्नति करें वे सुख को भी प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

यस्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । वाग् देवता । निचृदतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषौ किं कुर्य्यातामित्याह ॥

फिर स्त्री पुरुष क्या करें इस वि० ॥

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्य्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥

यः । ते । स्तनः । शशयः । यः । मयोभूरिति मयःऽभूः । यः । रत्नधाऽ इति रत्नऽधाः । वसुविदिति वसुऽवित् । यः । सुदत्रऽ इति सुऽदत्रः । येन । विश्वा । पुष्यसि । वार्य्याणि । सरस्वति । तम् । इह । धातवे । अकरित्यकः । उरु । अन्तरिक्षम् । अनु । एमि ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यः) (ते) तव (स्तनः) दुग्धाधारमङ्गम् (शशयः) शेते यस्मिन् सः (यः) (मयोभूः) यो मयः सुखं भावयति सः (यः) (रत्नधाः) यो रत्नानि दधाति सः (वसुवित्) यो वसूनि धनानि विन्दति प्राप्नोति सः (यः) (सुदत्रः) शोभनं दत्रं दानं यस्य सः (येन) (विश्वा) समग्राणि (पुष्यसि) (वार्य्याणि) वरितुमर्हाणि (सरस्वति) बहुविज्ञानयुक्ते (तम्) (इह) अस्मिन् संसारे (धातवे) धातुम् (अकः) कुर्य्याः (उरु) बहु (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (अनु) (एमि) प्राप्नोमि ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे सरस्वति स्त्रि ! यस्ते शशयः स्तनो यो मयो भूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रो येन विश्वा वार्य्याणि पुष्यसि तमिह धातवेऽकः । तेनाहमुर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥

भावार्थः—यदि स्त्री न स्यात्तर्हि बालकानां पालनमप्यशक्यं भवेत् । यथा पुरुषो बहुसुखं येन स्त्री च पुष्कलं सुखमाप्नुयात्तौ द्वावेतरेतरं विवहेताम् ॥५॥

पदार्थः—हे (सरस्वति) बहुत विज्ञान वाली स्त्रि ! (यः) जो (ते) तेरा (शशयः) जिस के आश्रय से बालक सोवे वह (स्तनः) दूध का आधार थन तथा (यः) जो (मयोभूः) सुख सिद्ध करने हारा (यः) जो (रत्नधाः) उत्तम २ गुणों का धारण कर्त्ता (वसुवित्) धनों को प्राप्त होने वाला और (यः) जो (सुदत्रः) सुन्दर दान देने वाला पति कि (येन) जिस के आश्रय से (विश्वा) सब (वार्य्याणि) ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को (पुष्यसि) पुष्ट करती है (तम्) उस को (इह) इस संसार में वा घर में (धातवे) धारण करने वा दूध पिलाने को नियत (अकः) कर । उस से मैं (उरु) अधिकतर (अन्तरिक्षम्) आकाश का (अन्वेमि) अनुगामी होऊं ॥ ५ ॥

भावार्थः— जो स्त्री न होवे तो बालकों की रक्षा होना भी कठिन होवे जिस स्त्री से पुरुष बहुत सुख और पुरुष से स्त्री भी अधिकतर आनन्द पावे वे ही दोनों आपस में विवाह करें ॥ ५ ॥

गायत्रमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषयोः कीदृशः सम्बन्धः स्यादित्याह ॥

फिर भी स्त्री पुरुष का कैसा सम्बन्ध हो इस वि० ॥

गा॒य॒त्रं छन्दो॑सि त्रैष्टु॑भं॒ छन्दो॑सि द्यावापृथि॒वीभ्यां॑न्त्वा॒ परि॑गृह्णाम्य॒न्तरि॑क्षे॒णोप॑यच्छामि । इन्द्रा॑श्विना॒ मधु॑नः सार॒घस्य॑ घ॒र्मं पा॑त

वसवो यजत वाट् । स्वाहा सूर्य्यस्य रश्मये वृष्टिवनये ॥ ६ ॥

गायत्रम् । छन्दः । असि । त्रैष्टुभम् । त्रैस्तुभमिति त्रैस्तुभम् । छन्दः । असि । द्यावापृथिवीभ्याम् । त्वा । परि । गृह्णामि । अन्तरिक्षेण । उप । यच्छामि । इन्द्र । अश्विना । मधुनः । सारघस्य । घर्मम् । पात । वसवः । यजत । वाट् । स्वाहा । सूर्यस्य । रश्मये । वृष्टिवनय इति वृष्टिवनये ॥ ६ ॥

पदार्थः–(गायत्रम्) गायत्री छन्दसा प्रकाशितम् (छन्दः) स्वतन्त्राह्लादकरमिव (असि) (त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुभा व्याख्यातमर्थजातम् (छन्दः) स्वतन्त्रमिव (असि) (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यभूमिभ्याम् (त्वा) त्वाम् (परि) सर्वतः (गृह्णामि) स्वी करोमि (अन्तरिक्षेण) उदकेन सह प्रतिज्ञाताम् (उप) यच्छामि गृह्णामि (इन्द्र) परमैश्वर्य्ययुक्त (अश्विना) प्राणाऽपानाविव कार्य्यसाधकौ (मधुनः) मधुरादिगुणयुक्तस्य (सारघस्य) सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्निर्मितस्य (घर्मम्) सुखवर्षकं यज्ञम् (पात) रक्षत (वसवः) पृथिव्यादय इव प्रथमविद्याकल्पाः (यजत) संगच्छध्वम् (वाट्) सुष्ठु (स्वाहा) सत्यया क्रियया (सूर्य्यस्य) (रश्मये) शोधनाय (वृष्टिवनये) वृष्टेः संविभाजकाय ॥ ६ ॥

अन्वयः–हे इन्द्र ! यथा त्वं गायत्रं छन्द इव हृद्यां स्त्रियं प्राप्तवानसि त्रैष्टुभं छन्द इव प्रशंसितां लब्धवानसि तथाऽहं त्वा दृष्ट्वा द्यावापृथिवीभ्यां प्रियां स्त्रियं परिगृह्णाम्यन्तरिक्षेणोपयच्छामि । हे अश्विना ! स्त्रीपुरुषौ युवां तथैव वर्त्तेयाथाम् । हे वसवो विद्वांसो ! यूयं स्वाहा मधुनः सारघस्य घर्मं पात सूर्य्यस्य वृष्टिवनये रश्मये वाट् यजत ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०–यथा शब्दानामर्थैः सह वाच्यवाचकसम्बन्धः सूर्य्येण सह पृथिव्या रश्मिभिस्सह वृष्ट्येज्ञेन सह यजमानस्यर्त्विजां चास्ति तथैव विवाहितयोः स्त्रीपुरुषयोः सम्बन्धो भवतु ॥ ६ ॥

पदार्थः–हे (इन्द्रः) परम ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! जैसे आप (गायत्रम्) गायत्री छन्द से प्रकाशित (छन्दः) स्वतन्त्र आनन्दकारक अर्थ के समान हृदय को प्रिय स्त्री को प्राप्त (असि) हैं (त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुप् छन्द से व्याख्यात हुए (छन्दः) स्वतन्त्र अर्थ मात्र के समान प्रशंसित पत्नी को प्राप्त हुए (असि) हैं वैसे मैं (त्वा) तुम को देख कर (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य भूमि से अतिशोभायमान प्रिया स्त्री को (परि, गृह्णामि) सब ओर से स्वीकार करता हूं और (अन्तरिक्षेण) हाथ में जल लेकर प्रतिज्ञा कराई हुई को (उप, यच्छामि) शील के साथ ग्रहण करता हूं । हे (अश्विना) प्राण अपान के तुल्य कार्य्यसाधक स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों भी वैसे ही वर्त्ता करो । हे (वसवः) पृथिवी वसुओं के तुल्य प्रथम कक्षा के विद्वानों ! तुम लोग (स्वाहा) सत्य क्रिया से (मधुनः, सारघस्य) मक्खियों ने बनाये मधुरादि गुण युक्त शहत और (घर्मम्) सुख पहुंचाने वाले यज्ञ की (पात) रक्षा करो । (सूर्य्यस्य) सूर्य के (वृष्टिवनये) वर्षा का विभाग करने वाले (रश्मये) संशोधक किरण के लिये (वाट्) अच्छे प्रकार (यजत) संगत होओ ॥ ६ ॥

भावार्थः–इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे शब्दों का अर्थों के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध, सूर्य्य के साथ पृथिवी का, किरणों के साथ वर्षा का, यज्ञ के साथ यजमान और ऋत्विजों का सम्बन्ध है वैसे ही विवाहित स्त्रीपुरुषों का सम्बन्ध होवे ॥ ६ ॥

समुद्रायेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । वातो देवता ।
भुरिगाष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः कृतविवाहौ स्त्रीपुंसौ किं कुर्यातामित्याह ॥

फिर विवाह किये स्त्रीपुरुष क्या करें इस वि० ॥

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा । सरिराय त्वा वाताय स्वाहा । अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा । अप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा । अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहा । अशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा ॥७॥

समुद्राय । त्वा । वाताय । स्वाहा । सरिराय । त्वा । वाताय । स्वाहा । अनाधृष्याय । त्वा । वाताय । स्वाहा । अप्रतिधृष्यायेत्यप्रतिऽधृष्याय । त्वा । वाताय । स्वाहा । अवस्यवे । त्वा । वाताय । स्वाहा । अशिमिदायेत्यशिमिऽदाय । त्वा । वाताय । स्वाहा ॥ ७ ॥

पदार्थः—(समुद्राय) अन्तरिक्षे गमनाय (त्वा) त्वाम् (वाताय) वायुविद्यायै वायोः शोधनाय वा (स्वाहा) सत्यया वाचा क्रियया वा (सरिराय) उदकशोधनाय (त्वा) (वाताय) गृहस्थाय वायवे (स्वाहा) (अनाधृष्याय) भयधर्षणाराहित्याय (त्वा) (वाताय) ओषधिस्थवायुविज्ञानाय (स्वाहा) (अप्रतिधृष्याय) अधर्षितुं योग्यान् प्रति वर्त्तमानाय (त्वा) (वाताय) वायुवेगगतिविज्ञानाय (स्वाहा) (अवस्यवे) आत्मनोऽवमिच्छवे (त्वा) (वाताय) प्राणशक्तिविज्ञानाय (स्

हा) (अशिमिदाय) यदश्यते भुज्यते तदन्नं तन्मेदते यस्मिंस्तस्मै रसाय (त्वा) (वाताय) उदानाय (स्वाहा) ॥ ७ ॥

अन्वयः--हे स्त्रि पुरुष ! वाऽहं स्वाहा समुद्राय वाताय त्वा स्वाहा सरिराय वाताय त्वा स्वाहाऽनाधृष्याय वाताय त्वा स्वाहाऽप्रतिधृष्याय वाताय त्वा स्वाहाऽवस्यवे वाताय त्वा स्वाहाऽशिमिदाय वाताय त्वोपयच्छामि ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रादुपयच्छामीति पदे अनुवर्त्तेते। कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषौ सृष्टिविद्योन्नतये प्रयतेयाताम् ॥ ७ ॥

पदार्थः–हे स्त्रि वा पुरुष । मैं (स्वाहा) सत्यक्रिया से (समुद्राय) आकाश में चलने के अर्थ (वाताय) वायुविद्या वा वायु के शोधन के लिये (त्वा) तुझ को (स्वाहा) सत्यक्रिया से (सरिराय:) जल के तथा (वाताय) घर के वायु के शोधने के लिये (त्वा) तुझ को (स्वाहा) सत्यवाणी से (अनाधृष्याय) भय और धमकाने से रहित होने के लिये तथा (वाताय) ओषधिस्थ वायु के जानने को (त्वा) तुझ को (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (अप्रतिधृष्याय) नहीं धमकाने योग्यों के प्रति वर्त्तमान के अर्थ (वाताय) वायु के वेग की गति जानने के लिये (त्वा) तुझ को (स्वाहा) सत्यक्रिया से (अवस्यवे) अपनी रक्षा चाहने वाले के अर्थ तथा वाताय प्राणशक्ति को विशेष जानने के लिये (त्वा) तुझ को और (स्वाहा) सत्यक्रिया से (अशिमिदाय) भोग्य अन्न जिस में स्नेह करने वाला है उस रस और (वाताय) उदान वायु के लिये (त्वा) तुझ को समीप स्वीकार करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र में से (उप, यच्छामि) इन पदों की अनुवृत्ति आती है । विवाह किये हुए स्त्री पुरुष सृष्टिविद्या की उन्नति के लिये प्रयत्न किया करें ॥ ७ ॥

इन्द्रायेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
अष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर स्त्री पुरुषों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहा । सवित्रे त्वं ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा ॥ ८ ॥

इन्द्राय । त्वा । वसुमतऽ इति वसुऽमते । रुद्रवतऽइति रुद्रऽवते । स्वाहा । इन्द्राय । त्वा । आदित्यवतऽइत्यादित्यऽवते । स्वाहा । इन्द्राय । त्वा । अभिमातिघ्न इत्यभिऽमातिघ्ने । स्वाहा । सवित्रे । त्वा । ऋभुमतऽ इत्यृभुऽमते । विभुमतऽ इति विभुऽमते । वाजवतऽइति वाजऽवते । स्वाहा । बृहस्पतये । त्वा । विश्वदेव्यावते । विश्वदेव्यवतऽ इति विश्वऽदेव्यऽवते । स्वाहा ॥ ८ ॥

पदार्थः—(इन्द्राय) परमैश्वर्याय (त्वा) त्वां स्त्रियं पुरुषं वा (वसुमते) बहुधनयुक्ताय (रुद्रवते) बहवो रुद्राः प्राणा विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै (स्वाहा) सत्यया वाचा क्रियया वा (इन्द्राय) दुःखविदारकाय (त्वा) (आदित्यवते) पूर्णविद्यायुक्तपाण्डित्यवते (स्वाहा) (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्रदाय (त्वा) (अभिमातिघ्ने) योऽभिमातीन् शत्रून्

हन्ति तस्मै (स्वाहा)(सवित्रे) सवितृविद्याविदे (त्वा) (ऋभुमते) बहव ऋभवो मेधाविनो विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै (विभुमते) विभवः पदार्था विदिता येन तस्मै (वाजवते) पुष्कलान्नयुक्ताय (स्वाहा) (बृहस्पतये) बृहत्या वाचः पत्ये (त्वा) (विश्वदेव्यावते) विश्वानि देव्यानि विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै (स्वाहा) ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष! वाऽहं स्वाहा वसुमत इन्द्राय त्वा स्वाहाऽऽदित्यवते रुद्रावत इन्द्राय त्वा स्वाहाऽभिमातिघ्न इन्द्राय त्वा स्वाहा सवित्र ऋभुमते विभुमते वाजवते त्वा स्वाहा बृहस्पतये विश्वदेव्यावते त्वोपयच्छामि ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्राप्युपयच्छामीति पदे अनुवर्त्तेते। ये स्त्री पुरुषा वसुभीरादित्यैरैश्वर्यमुन्नयन्ति ते विघ्नान् हत्वा बुद्धिमतः सन्तानान् प्राप्य सर्वस्य रक्षां विधातुं शक्नुवन्ति ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं (स्वाहा) सत्यवाणी से (वसुमते) बहुत धनयुक्त (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य वाले सन्तान के अर्थ (त्वा) तुझको (स्वाहा) उत्तम क्रिया से (आदित्यवते) समस्त विद्याओं की पण्डिताई से युक्त (रुद्रवते) बहुत प्राणों के बल वाले (इन्द्राय) दुःखनाशक सन्तान के लिये (त्वा) तुझको (स्वाहा) सत्य वाणी से (अभिमातिघ्ने) शत्रुओं को मारने वाले (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य देने वाले सन्तान के लिये (त्वा) तुझको (स्वाहा) सत्यक्रिया से (सवित्रे) सूर्यविद्या के ज्ञाता (ऋभुमते) अनेक बुद्धिमानों के साथी (विभुमते) विभु आकाशादि पदार्थों को जिसने जाना है (वाजवते) पुष्कल अन्नवाले सन्तान के अर्थ (त्वा) तुझको और (स्वाहा) सत्यवाणी से (बृहस्पतये) बड़ी वेदरूप वाणी के रक्षक (विश्वदेव्यावते) समस्त विद्वानों के हितकारी पदार्थों वाले सन्तान के लिये (त्वा) तुझको ग्रहण करता वा करती हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में भी (उप, यच्छामि) इन पदों की अनुवृत्ति आती है। जो स्त्री पुरुष पृथिवी आदि वसुओं और चैत्रादि महीनों से अपने ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं वे विघ्नों को नष्ट कर बुद्धिमान् सन्तानों को प्राप्त होकर सब की रक्षा करने को समर्थ होते हैं ॥ ८ ॥

यमायेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। वायुर्देवता। भुरिग्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा। स्वाहा घर्माय। स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ ९ ॥

यमाय। त्वा। अङ्गिरस्वते। पितृमतऽइति पितृमते। स्वाहा। स्वाहा। घर्माय। स्वाहा। घर्मः। पित्रे ॥ ९ ॥

पदार्थः—(यमाय) न्यायाधीशाय (त्वा) त्वाम् (अङ्गिरस्वते) विद्युदादिविद्या यस्मिन् विद्यन्ते तस्मै (पितृमते) पितरः पालका विज्ञानिनो विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै (स्वाहा) (स्वाहा) (घर्माय) यज्ञाय (स्वाहा) (घर्मः) यज्ञः (पित्रे) पालकाय ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष! वा घर्मोऽहं स्वाहाऽङ्गिरस्वते यमाय पितृमते स्वाहा घर्माय स्वाहा पित्रे त्वोपयच्छामि ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्रोपयच्छामीति पदेऽनुवर्त्तेते। यौ स्त्रीपुरुषौ प्राणवन्न्याय जनकान् विदुषश्च सेवेतां तौ यज्ञवत्सर्वेषां सुखकरौ स्याताम् ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! वा पुरुष ! (घर्मः) यज्ञ के तुल्य प्रकाशमान मैं (स्वाहा) सत्यवाणी से (अङ्गिरस्वते) विद्युत् आदि विद्या जानने वाले (यमाय) न्यायाधीश के अर्थ (पितृमते) रक्षक ज्ञानी जनों से युक्त सन्तान के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया से (यज्ञाय) यज्ञ के लिये और (स्वाहा) सत्यक्रिया से (पित्रे) रक्षक के लिये (त्वा) तुझ को स्वीकार करती वा करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में भी (उप, यच्छामि) पदों की अनुवृत्ति आती है। जो स्त्री पुरुष प्राण के तुल्य न्याय, पितरों और विद्वानों का सेवा करें वे यज्ञ के तुल्य सब को सुखकारी होवें ॥ ९ ॥

अश्वा इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरध्यापकोपदेशकौ किं कुर्यातामित्याह ॥

फिर अध्यापक उपदेशक क्या करें इस वि० ॥

विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह ।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना ॥ १० ॥

विश्वाः । आशाः । दक्षिणसदिति दक्षिणऽसत् । विश्वान् । देवान् । अयाट् । इह । स्वाहाकृतस्येति स्वाहाऽकृतस्य । घर्मस्य । मधोः । पिबतम् । अश्विना ॥ १० ॥

पदार्थः—(विश्वाः) सर्वा (आशाः) दिशः (दक्षिणसत्) यो दक्षिणे देशे सीदति (विश्वान्) समग्रान् (देवान्) शुभान् गुणान् विदुषो वा (अयाट्) यजेत्सङ्गच्छेत् (इह) अस्मिन् संसारे (स्वाहाकृतस्य)

सत्यक्रियानिष्पन्नस्य (घर्मस्य) यज्ञस्य (मधोः) मधुरादिगुणयुक्तस्य (पिबतम्) (अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ ॥ १० ॥

अन्वयः—हे अश्विना ! यथा युवामिह स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोरवशिष्टं भागं पिबतं तथाऽयं दक्षिणसज्जनो विश्वा आशा विश्वान्देवानयाट् सगच्छेत ॥ १० ॥

भावार्थः—यथोपदेशकाऽध्यापकाः शिक्षेरन्नध्यापयेयुश्च तथैव सर्वे सङ्गृह्णीयुः ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (अश्विना) अध्यापक उपदेशक लोगो ! तुम (इह) इस जगत् में (स्वाहाकृतस्य) सत्य क्रिया से सिद्ध हुए (घर्मस्य, मधोः) मधुरादि गुण युक्त यज्ञ के अवशिष्ट भाग को (पिबतम्) पिओ वैसे यह (दक्षिणासत्) वेदी से दक्षिण दिशा में बैठने वाला आचार्य्य (विश्वाः) सब (आशाः) दिशाओं तथा (विश्वान्) समस्त (देवान्) उत्तम गुणों वा विद्वानों का (अयाट्) संग वा सेवन पूजन करे ॥ १० ॥

भावार्थः—जैसे उपदेशक शिक्षा करें और अध्यापक पढ़ावें वैसे ही सब लोग ग्रहण करें ॥ १० ॥

द्विविधा इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
विराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
पुनः स्त्रीपुरुषाः किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर स्त्रीपुरुष क्या करें इस वि० ॥

द्विधा इमं यज्ञमिमं यज्ञं द्विधाः । स्वाहाऽग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः ॥ ११ ॥

द्विवि । धाः । इमम् । यज्ञम् । इमम् । यज्ञम् । द्विवि । धाः । स्वाहा । अग्नये । यज्ञियाय । शम् । यजुर्भ्यऽइति यजुःऽभ्यः ॥ ११ ॥

पदार्थः–(दिवि) सूर्यादिप्रकाशे (धाः) धेहि (इमम्) गृहाश्रमव्यवहारोपयोगिनम् (यज्ञम्) सङ्गन्तुमर्हम् (इमम्) परमार्थसिद्धिकरं संन्यासाश्रमोपयोगिनम् (यज्ञम्) विद्वत्संगयुक्तम् (दिवि) विज्ञानप्रकाशे (धाः) धेहि (स्वाहा) सत्यया क्रियया (अग्नये) पावकाय (यज्ञियाय) यज्ञार्हाय (शम्) सुखम् (यजुर्भ्यः) याजकेभ्यो यजुर्वेदविभागेभ्यो वा ॥ ११ ॥

अन्वयः–हे स्त्रि! पुरुष! वा त्वं यजुर्भ्यः स्वाहाऽग्नये यज्ञियाय दिवीमं यज्ञं शं धाः । दिवीमं यज्ञं शं धाः ॥ ११ ॥

भावार्थः–ये स्त्री पुरुषा ब्रह्मचर्य्येणाऽखिला विद्यासुशिक्षा प्राप्य वेदरीत्या कर्माण्यनुतिष्ठेयुस्तेऽतुलं सुखं लभेरन् ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! वा पुरुष ! तू (यजुर्भ्यः) यज्ञ कराने हारे वा यजुर्वेद के विभागों से (स्वाहा) सत्यक्रिया के साथ (अग्नये) (यज्ञियाय) यज्ञ कर्म के योग्य अग्नि के लिये (दिवि) सूर्य्यादि के प्रकाश में (इमम्) इस (यज्ञम्) सङ्ग करने योग्य गृहाश्रम व्यवहार के उपयोगी यज्ञ को (शम्) सुख पूर्वक (धाः) धारण कर (दिवि) विज्ञान के प्रकाश में (इमम्) इस परमार्थ के साधक संन्यास आश्रम के उपयोगी (यज्ञम्) विद्वानों के सङ्गरूप यज्ञ को सुख पूर्वक (धाः) धारण कर ॥ ११ ॥

भावार्थः—जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य के साथ समग्र विद्यायुक्त उत्तम शिक्षा को प्राप्त होकर वेद रीति से कर्मों का अनुष्ठान करें वे अतुल सुख को प्राप्त होवें ॥ ११ ॥

अश्विनेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अश्विना घर्मं पातꣳ हार्द्वानमहर्दिवाभिरूति-

भिः । तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

अश्विना । घर्मम् । पातम् । हार्द्वानम् । अहः । दिवाभिः । ऊतिभिरित्यूतिऽभिः । तन्त्रायिणे । नमः । द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अश्विना) सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ (घर्मम्) (पातम्) रक्षतम् (हार्द्वानम्) हृदं वनति सम्भजति येन तदेव (अहः) प्रतिदिनम् (दिवाभिः) अहर्निशवर्त्तमानाभिः (ऊतिभिः) रक्षादिभिः (तन्त्रायिणे) तन्त्राणि कलाशास्त्राणि अयितुं ज्ञातुं प्राप्तुं वा शीलं यस्य तस्मै (नमः) अन्नम् (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यान्तरिक्षाभ्याम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे अश्विना स्त्रीपुरुषौ ! युवामहर्दिवाभिरूतिभिस्तन्त्रायिणे हार्द्वानं घर्मं पातं द्यावापृथिवीभ्यां तन्त्रायिणे नमो दत्तम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—यथा भूमिसूर्य्यौ सदा परस्परोपकारिणौ सह वर्त्तेते तथा सौहार्देन सहितौ सततं स्त्रीपुरुषौ वर्त्तेयाताम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (अश्विना) सुशिक्षित स्त्रीपुरुषो ! तुम (अहः) प्रतिदिन (दिवाभिः) दिनरातवर्त्तमान (ऊतिभिः) रक्षादिक्रियाओं से (तन्त्रायिणे) शिल्पविद्या के शास्त्रों को जानने वा प्राप्त होने के लिये (हार्द्वानम्) हृदय को प्राप्त हुए ज्ञान-सम्बन्धी (घर्मम्) यज्ञ की (पातम्) रक्षा करो और (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और आकाश के सम्बन्ध से शिल्प शास्त्रज्ञ पुरुष के लिये (नमः) अन्न को देओ ॥ १२ ॥

भावार्थः—जैसे भूमि और सूर्य परस्पर उपकारी हुए साथ वर्त्तमान हैं वैसे मित्रभाव से युक्त स्त्रीपुरुष निरन्तर वर्त्ता करें ॥ १२ ॥

अपातामित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अश्विनौ देवते । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अपा॑ताम॒श्विना॑ घ॒र्मम॑नु॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑मꣳसाताम् । इ॒हैव रा॒तयः॑ सन्तु ॥ १३ ॥

अपा॑ताम् । अ॒श्विना॑ । घ॒र्मम् । अनु॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी । अ॒म॒ꣳसा॒ता॒म् । इ॒ह । ए॒व । रा॒तयः॑ । स॒न्तु ॥ १३ ॥

पदार्थः—(अपाताम्) रक्षेताम् (अश्विना) सुरीत्या वर्त्तमानौ स्त्रीपुरुषौ (घर्मम्) गृहाश्रमव्यवहाराऽनुष्ठानम् (अनु) आनुकूल्ये (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी इव (अमंसाताम्) मन्येताम् (इह) अस्मिन्नाश्रमे (एव) (रातयः) विद्यादिसुखदानानि (सन्तु) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे अश्विना ! युवां वायुविद्युताविव घर्ममपातां द्यावापृथिवी इव घर्ममन्वमंसातां यत इह रातय एव सन्तु ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा वायुविद्युतौ भूमिसूर्य्यौ सह वर्त्तित्वा सुखानि दत्तस्तथैव स्त्रीपुरुषौ प्रीत्या सह वर्त्तमानौ सर्वेभ्योऽतुलं सुखं दद्याताम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे (अश्विना) सुन्दर रीति से वर्त्तमान स्त्री पुरुषो ! तुम वायु और बिजुली के तुल्य (घर्मम्) गृहाश्रम व्यवहार के अनुष्ठान की (अपाताम्) रक्षा करो (द्यावापृथिवी) सूर्य्य भूमि के समान गृहाश्रम व्यवहार के अनुष्ठान को (अनु,

अमंसाताम्) अनुमान किया करो जिस से कि (इह) इस गृहाश्रम में (रातयः) विद्यादिजन्य सुखों के दान (एव) ही (सन्तु) होवें ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे वायु और बिजुली तथा सूर्य और भूमि साथ वर्त्तकर सुख देते हैं वैसे स्त्रीपुरुष प्रीति के साथ वर्त्तमान हुए सब के लिये अतुल सुख देवें ॥ १३ ॥

इषे पिन्वस्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। द्यावापृथिवी देवते। अतिशक्करी छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय॥ १४॥

इषे। पिन्वस्व। ऊर्जे। पिन्वस्व। ब्रह्मणे। पिन्वस्व। क्षत्राय। पिन्वस्व। द्यावापृथिवीभ्याम्। पिन्वस्व। धर्म। असि। सुधर्मेति सुऽधर्म। अमेनि। अस्मेऽइत्यस्मे। नृम्णानि। धारय। ब्रह्म। धारय। क्षत्रम्। धारय। विशम्। धारय॥ १४॥

पदार्थः—(इषे) अन्नाद्याय (पिन्वस्व) सेवस्व (ऊर्जे) बलाद्याय (पिन्वस्व) (ब्रह्मणे) वेदविज्ञानाय परमेश्वराय वेदविदे

ब्राह्मणाय वा (पिन्वस्व) (क्षत्राय) राज्याय (पिन्वस्व) (द्यावापृथिवीभ्याम्) भूमिसूर्य्याभ्याम् (पिन्वस्व) (धर्म) सत्यधारक (असि) (सुधर्म) शोभनो धर्मो यस्य तत्स-म्बुद्धौ (अमेनि) अहिंसकः सन् । अत्र सुपां सुलुगिति सुलोपः (अस्मे) अस्मभ्यम (नृम्णानि) धनानि (धा-रय) (ब्रह्म) वेदं ब्राह्मणं वा (धारय) (क्षत्रम्) क्ष-त्रियं राज्यं वा (धारय) (विशम्) प्रजाम् (धारय)॥१४॥

अन्वयः-हे धर्म सुधर्म पुरुष! स्त्रि! वा त्वममेन्यसि येनाऽस्मे नृम्णानि धा-रय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय तेनेषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्व-स्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ॥ १४ ॥

भावार्थः-ये स्त्रीपुरुषा अहिंसका धार्मिकाः सन्तः स्वयं धनानि विद्यां राज्यं प्रजां च धृत्वाऽन्यान्धारयेयुस्तेऽन्नबलविद्याराज्यानि प्राप्य भूमिसूर्य्यवद्दृढ़ सुखा जायेरन् ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (धर्म) सत्य के धारक (सुधर्म) सुन्दर धर्मयुक्त पुरुष ! वा स्त्रि ! तू (अमेनि) हिंसा धर्म से रहित (असि) है जिस से (अस्मे) हमारे लिये (नृम्णानि) धनों को (धारय) धारण कर (ब्रह्म) वेद वा ब्राह्मण को (धारय) धारण कर (क्षत्रम्) क्षत्रिय वा राज्य को (धारय) धारण कर (विशम्) प्रजा को (धारय) धारण कर उस से (इषे) अन्नादि के लिये (पिन्वस्व) सेवन कर (ऊर्जे) बल आदि के लिये (पिन्वस्व) सेवन कर (ब्रह्मणे) वेद विज्ञान परमेश्वर वा वेदज्ञ ब्राह्मण के लिये (पिन्वस्व) सेवन कर (क्षत्राय) राज्य के लिये (पिन्वस्व) सेवन कर और (द्यावापृथिवीभ्याम्) भूमि और सूर्य के लिये (पिन्वस्व) सेवन कर ॥ १४ ॥

भावार्थः-जो स्त्री पुरुष अहिंसक धर्मात्मा हुए आप ही धन, विद्या, राज्य और प्रजा को धारण करें वे अन्न,बल, विद्या और राज्य को पाकर भूमि और सूर्य के तुल्य अत्यन्त सुख वाले होवें ॥ १४ ॥

स्वाहा पूष्ण इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । पूषादयो लिङ्गोक्ता देवताः । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्यः॒ स्वाहा॑ प्रतिर॒वेभ्यः॑ । स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ ऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घ॒र्म॒पाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳪ स्वाहा॒ वि॒श्वेभ्यो॑ दे॒वेभ्यः॑ ॥ १५ ॥

स्वाहा॑ । पू॒ष्णे । शर॑से । स्वाहा॑ । ग्राव॑भ्य॒ऽ इति॒ ग्राव॑ऽभ्यः । स्वाहा॑ । प्र॒ति॒र॒वेभ्य॒ऽ इति॑ प्रति॒ऽर॒वेभ्यः॑ । स्वाहा॑ । पि॒तृभ्य॒ऽ इति॑ पि॒तृऽभ्यः॑ । ऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्य॒ऽ इत्यू॒र्ध्वऽब॑र्हिऽभ्यः । घ॒र्म॒पाव॑भ्य॒ऽ इति॑ घ॒र्म॒ऽपाव॑भ्यः । स्वाहा॑ । द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म् । स्वाहा॑ । विश्वे॑भ्यः । दे॒वेभ्यः॑ ॥ १५ ॥

पदार्थः-(स्वाहा) सत्या क्रिया (पूष्णे) पुष्टिकारकाय (शरसे) हिंसकाय (स्वाहा) सत्या वाक् (ग्रावभ्यः) गर्जकेभ्यो मेघेभ्यः । ग्रावेति मेघना० निघं० १ । १० (स्वाहा) (प्रतिरवेभ्यः) ये रवान् प्रतिरुवन्ति शब्दायन्ते

तेभ्यः (स्वाहा) (पितृभ्यः) पालकेभ्य ऋतव इव वर्त्तमानेभ्यः(ऊर्द्धबर्हिभ्यः) ऊर्द्धमुत्कृष्टं बर्हिर्वर्द्धनं येभ्यस्तेभ्यः (घर्मपावभ्यः) घर्मेण यज्ञेन पवित्रीकर्त्तृभ्यः (स्वाहा) (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्यान्तरिक्षाभ्याम् (स्वाहा) (विश्वेभ्यः) समग्रेभ्यः (देवेभ्यः) दिव्येभ्यो पृथिव्यादिभ्यो विद्वद्भ्यो वा ॥ १५ ॥

अन्वयः—स्त्रीपुरुषैः पूष्णे शरसे स्वाहा प्रतिरवेभ्यः स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहोर्द्धबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः पितृभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यश्च स्वाहा सदा प्रयोज्या ॥ १५ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषैः सत्येन विज्ञानेन सत्यया क्रिययेदृशः पुरुषार्थः कर्त्तव्यो येन विश्वं पुष्टमानन्दितं स्यात् ॥ १५ ॥

पदार्थः—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि (पूष्णे) पुष्टिकारक (शरसे) हिंसक के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया अर्थात् अधर्म से बचाने का उपाय (प्रतिरवेभ्यः) शब्द के प्रति शब्द कहने हारों के लिये (स्वाहा) सत्यवाणी (ग्रावभ्यः) गर्जने वाले मेघों के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया (ऊर्द्धबर्हिभ्यः) उत्तम कक्षा तक बढ़े हुए (घर्मपावभ्यः) यज्ञ से संसार को पवित्र करने हारे (पितृभ्यः) रक्षक ऋतुओं के तुल्य वर्त्तमान सज्जनों के लिये (स्वाहा) सत्यवाणी (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्य और आकाश के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया और (विश्वेभ्यः) पृथिव्यादि वा विद्वानों के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया वा सत्यवाणी का सदा प्रयोग किया करें ॥१५॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि सत्यविज्ञान और सत्यक्रिया से ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे सबको पुष्टि और आनन्द होवे ॥ १५ ॥

स्वाहा रुद्रायेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । रुद्रादयो देवताः । भुरिगतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥
फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

स्वाहा॑ रु॒द्राय॑ रु॒द्रहू॑तये॒ स्वाहा॒ सं ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ः। अह॑ः के॒तुना॑ जुषता॑ꣳ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। रात्रि॑ः के॒तुना॑ जुषता॑ꣳ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। मधु॑ हु॒तमिन्द्र॑तमे अ॒ग्नाव॒श्याम॑ ते देव घर्म॒ नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः ॥ १६ ॥

स्वाहा॑। रु॒द्राय॑। रु॒द्रहू॑तय॒ इति॑ रु॒द्रऽहू॑तये। स्वाहा॑। सम्। ज्योति॑षा। ज्योति॑ः। अह॒रित्यह॑ः। के॒तुना॑। जु॒षता॒म्। सु॒ज्योति॒रिति॑ सु॒ऽज्योति॑ः। ज्योति॑षा। स्वाहा॑। रात्रि॑ः। के॒तुना॑। जु॒षता॒म्। सु॒ज्योति॒रिति॑ सु॒ऽज्योति॑ः। ज्योति॑षा। स्वाहा॑। मधु॑। हु॒तम्। इन्द्र॑तम॒ इतीन्द्र॑ऽतमे। अ॒ग्नौ। अ॒श्याम॑। ते॒। दे॒व॒। घ॒र्म॒। नम॑ः। ते॒। अ॒स्तु॒। मा। मा॒। हि॒ꣳसी॒ः ॥१६॥

पदार्थः—(स्वाहा) (रुद्राय) जीवाय (रुद्रहूतये) रुद्राः प्राणा जीवा वा हूयन्ते स्तूयन्ते येन तस्मै (स्वाहा) (सम्) (ज्योतिषा) प्रकाशेन (ज्योतिः) प्रकाशम्

(अहः) दिनम् (केतुना) प्रज्ञया । केतुरिति प्रज्ञाना० निघं० ३ । ९ (जुषताम्) सेवताम् (सुज्योतिः) शोभनं विद्यादिस-द्गुणप्रकाशम् (ज्योतिषा) सत्यविद्योपदेशरूपप्रकाशेन (स्वाहा) (रात्रिः) रात्रिम् । अत्र विभक्तिव्यत्ययः (केतुना) संकेतरूपचिह्नेन (जुषताम्) (सुज्योतिः) धर्मादिसद्गुणप्रकाशम् (ज्योतिषा) मननादिरूपप्रकाशेन (स्वाहा) (मधु) मधुरादिगुणयुक्तं घृतादि (हुतम्) वह्नौ प्रक्षिप्तम् (इन्द्रतमे) अतिशयेनैश्वर्य्यकारके विद्युद्रूपे (अग्नौ) पावके (अश्याम) प्राप्नुयाम (ते) तुभ्यम् (देव) विद्वन् (घर्म) प्रकाशमान (नमः) (ते) (अस्तु) (मा) निषेधे (मा) माम् (हिंसीः) हिंस्याः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! पुरुष ! वा भवति भवन्वा केतुना रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा ज्योतिषा ज्योतिः स्वाहा ज्योतिषा सुज्योतिरहः स्वाहा संजुषताम् । केतुना ज्योतिषा सुज्योतिः रात्री रात्रिं स्वाहा जुषताम् । हे देव घर्म ! येन तइन्द्रतमेऽग्नौ मधु हुतमश्याम ते नमोऽस्तु त्वं मा मा हिंसीः ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्राणानां जीवनस्य समाजस्य च रक्षणाय विज्ञानेन कर्माण्यहोरात्रं युक्त्या सेवनीयः प्रतिदिनं प्रातः सायं कस्तूर्यादि सुगन्धियुक्तं घृतं वह्नौ हुत्वा वाय्वादिशुद्धिद्वारा नित्यं मोदनीयम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! वा पुरुष ! आप (केतुना) बुद्धि से (रुद्रहूतये) प्राण वा जीवों की स्तुति करने वाले (रुद्राय) जीव के लिये (स्वाहा) सत्यवाणी से (ज्योतिषा) प्रकाश के साथ (ज्योतिः) प्रकाश को (स्वाहा) सत्यक्रिया से युक्त (ज्योतिषा) सत्यविद्या के उपदेश

रूप प्रकाश के साथ (सुज्योतिः) सुन्दर विद्यादि सद्गुणों के प्रकाश तथा (अह्नः) दिन को (स्वाहा) सत्यक्रिया से (सम्, जुषताम्) सम्यक् सेवन करो (केतुना) संकेतरूप चिन्ह और (ज्योतिषा) मननादि रूप प्रकाश के साथ (सुज्योतिः) धर्मादि रूप सद्गुणों के प्रकाश और (रात्रिः) रात्रि को (स्वाहा) सत्यक्रिया से (जुषताम्) सेवन करो। हे (घर्म) प्रकाशमान (देव) विद्वान् जन जिस से (ते) आप के लिये (इन्द्रतमे) अतिशय ऐश्वर्य के हेतु विद्युत्रूप (अग्नौ) अग्नि में (हुतम्) होम किये (मधु) मधुरादि गुणयुक्त घृतादि पदार्थ को प्राण द्वारा (अश्याम) प्राप्त होवें (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) प्राप्त हो आप (मा) मुझ को (मा) मत (हिंसीः) मारिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि प्राण जीवन और समाज की रक्षा के लिये विज्ञान के साथ कर्म और दिन रात्रि का युक्ति से सेवन करें और प्रतिदिन प्रातः सायं काल में कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्ययुक्त घृत को अग्नि में होम कर वायु आदि की शुद्धि द्वारा नित्य आनन्दित होवें ॥ १६ ॥

अभीममित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदतिशक्वरी छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर वैसी वि०॥

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सुप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीꣳ सꣳ सीदस्व महाँ२ऽ असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्ने अरुषं मियेद्ध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥ १७॥

अभि। इमम्। महिमा। दिवम्। विप्रः। बभूव। सप्रथा इति सऽप्रथाः। उत। श्रवसा। पृथिवीम्।

सम् । सीदस्व । महान् । असि । रोचस्व । देववीतम इति देवऽवीतमः । वि । धूमम् । अग्ने । अरुषम् । मियेध्य । सृज । प्रशस्त । दर्शतम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(अभि) आभिमुख्ये (इमम्) (महिमा) (दिवम्) अविद्यागुणप्रकाशम् (विप्रः) मेधावि (बभूव) भवति (सप्रथाः) सुकीर्त्तिप्रख्यातियुक्तः (उत) अपि (श्रवसा) श्रवणेनाऽन्नेन वा (पृथिवीम्) भूमिम् (सम्) (सीदस्व) सम्यगास्व (महान्) (असि) (रोचस्व) अभितः प्रीतो भव (देववीतमः) यो देवान् दिव्यान् गुणान् विदुषो वेति व्याप्नोति प्राप्नोति सोऽतिशयितः (वि) (धूमम्) (अग्ने) अग्निरिव प्रकाशमान विद्वन्! (अरुषम्) आरक्तरूपविशिष्टम् (मियेध्य) दुष्टानां प्रक्षेपणशील! (सृज) सर्जय (प्रशस्त) (दर्शतम्) दर्शनीयम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे प्रशस्त मियेध्याऽग्ने महिमा सप्रथा विप्रस्त्वमिमं दिवमभि बभूव। उतापि श्रवसा पृथिवीं सं सीदस्व यतो देववीतमो महानसि तस्माद्रोचस्वारुषं धूमं विसृज ॥ १७ ॥

भावार्थः—यएव मनुष्याणां महिमा यद्ब्रह्मचर्य्येण विद्यां प्राप्य सर्वत्र विस्तार्य शुभानां गुणानां प्रचारं कृत्वा सृष्टिविद्यामुन्नयन्ति ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे (प्रशस्त) प्रशंसा को प्राप्त (मियेध्य) दुष्टों को दूर करनेहारे (अग्ने) अग्नि के तुल्य प्रकाशमान तेजस्वी विद्वन्! (महिमा) महागुण विशिष्ट (सप्रथाः) प्रसिद्ध उत्तम कीर्त्ति वाले (विप्रः) बुद्धिमान् आप (इमम्) इस (दि-

वम्) अविद्यादि गुणों के प्रकाश को (अभि, बभूव) तिरस्कृत करते हैं (उत) और (श्रवसा) सुनने वा अन्न के साथ (पृथिवीम्) भूमि पर (सग्, सीदस्व) सम्यक् बैठिये जिस कारण (देववीतमः) दिव्य गुणों वा विद्वानों को अतिशय कर प्राप्त होने वाले (महान्) महात्मा (असि) हैं जिस से (रोचस्व) सब ओर से प्रसन्न हूजिये और (अरुषम्) थोड़े लाल रंग से युक्त इसी से (दर्शतम्) देखने योग्य (धूमम्) धुएं को होम द्वारा (वि, सृज) विशेष कर उत्पन्न कीजिये ॥ १७ ॥

भावार्थः—यही मनुष्यों की महिमा है जो ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या को प्राप्त हो सर्वत्र फैलाकर शुभ गुणों का प्रचार करके सृष्टिविद्या की उन्नति करते हैं॥ १७ ॥

याते इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
भुरिगाकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषाः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर स्त्री पुरुष क्या करें इस वि० ॥

या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याᳬं हविर्धाने । सा त आ प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यै ते स्वाहा । या ते घर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे । सा त आ प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यै ते स्वाहा । या ते घर्म पृथिव्याᳬं शुग्या जगत्याᳬं सदस्या । सा त आ प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यै ते स्वाहा ॥१८॥

या । ते । घर्म । दिव्या । शुक् । या । गायत्र्याम् । हविर्धान इति हविःऽधाने । सा । ते । आ । प्यायताम् ।

निः। स्त्यायताम्। तस्यै। ते। स्वाहा। या। ते। घर्म। अन्तरिक्षे। शुक्। या। त्रिष्टुभि। त्रिस्तुभीति त्रिऽस्तुभि। आग्नीध्रे। सा। ते। आ। प्यायताम्। निः। स्त्यायताम्। तस्यै। ते। स्वाहा। या। ते। घर्म। पृथिव्याम्। शुक्। या। जगत्याम्। सदस्या। सा। ते। आ। प्यायताम्। निः। स्त्यायताम्। तस्यै। ते। स्वाहा॥ १८॥

पदार्थः—(या) (ते) (घर्म) प्रकाशात्मन् (दिव्या) दिव्येषु गुणेषु भवा (शुक्) शोचन्ति विचारयन्ति यया सा (या) (गायत्र्याम्) गायत्री रक्षिकायां विद्यायाम् (हविर्धाने) हविषां धारणे (सा) (ते) तव (आ) (प्यायताम्) सर्वतो वर्द्धताम् (निः) नितराम् (स्त्यायताम्) अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् संहता भवन्तु (तस्यै) (ते) तुभ्यम् (स्वाहा) प्रशंसितावाक् (या) (ते) तव (घर्म) दिनमिव विशालविद्या (अन्तरिक्षे) आकाशे (शुक्) सूर्य्यस्येव प्रदीप्तिः (या) (त्रिष्टुभि) त्रिष्टुब् निर्मितेऽर्थे (आग्नीध्रे) अग्नीधः शरणे (सा) (ते) तव (आ) (प्यायताम्) (निः) (स्त्यायताम्) (तस्यै) (ते) (स्वाहा) (या) (ते) तव (घर्म) विद्युतः प्रकाशइव वर्त्तमान (पृथिव्याम्) भूमौ (शुक्) प्रदीप्तिः (या) (जगत्याम्) जगदन्वितायां सृष्टौ (सदस्या) सदसि सभायां भवा (सा)

(तव) (आ) (प्यायताम्) (निः) (स्त्यायताम्) (तस्यै) (ते) (स्वाहा) (सत्यविद्या) ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे घर्म विद्वन्! विदुषि! वा या ते गायत्र्यां हविर्धाने शुग्या च दिव्या वर्त्तते सा त आप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा स्यात्। हे घर्म! या तेऽन्तरिक्षे शुग्या आग्नीध्रे त्रिष्टुभि शुगस्ति सा त आप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। हे घर्म! या ते पृथिव्यां या सदस्या जगत्यां शुगस्ति सा त आप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा भवतु ॥ १८ ॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा दिव्यां क्रियां शुद्धामुपासनां पवित्रं विज्ञानं च प्राप्य प्रकाशन्ते त एव मनुष्यजन्मफलापन्ना भवन्ति अन्यानपि तथैव कुर्युः ॥१८॥

पदार्थः—हे (घर्म) प्रकाशस्वरूप विद्वन्! वा विदुषी स्त्रि! (या) जो (ते) तेरी (गायत्र्याम्) पढ़ने वालों की रक्षक विद्या और (हविर्धाने) होमने योग्य पदार्थों के धारण में (शुक्) विचार की साधनरूप क्रिया और (या) जो (दिव्या) दिव्य गुणों में हुई क्रिया है (सा) वह (ते) तेरी (आ, प्यायताम्) सब ओर से बढ़े और (निः, स्त्यायताम्) निरन्तर संयुक्त होवे। हे (घर्म) दिन के तुल्य प्रकाशित विद्या वाले जन! वा स्त्रि! (या) जो (ते) तेरी (अन्तरिक्षे) आकाश विषय में (शुक्)-सूर्य्य की दीप्ति के समान विमानादि की गमन क्रिया और (या) जो (आग्नीध्रे) अग्नि के आश्रय में तथा (त्रिष्टुभि) त्रिष्टुप्छन्द से निकले अर्थ में विचार रूप क्रिया है (सा) वह (ते) तेरी (आ, प्यायताम्) बढ़े और (निः, स्त्यायताम्) निरन्तर संयुक्त होवे (तस्यै) उस क्रिया और (ते) तेरे लिये (स्वाहा) सत्यवाणी होवे। हे (घर्म) बिजुली के प्रकाश के तुल्य वर्त्तमान स्त्रि वा पुरुष! (या) जो (ते) तेरी (पृथिव्याम्) भूमि पर और (या) जो (सदस्या) सभा में हुई (जगत्याम्) चेतन प्रजायुक्त सृष्टि में (शुक्) प्रकाशयुक्त क्रिया है (सा) वह (ते) तेरी (आ, प्यायताम्) बढ़े और (निः स्त्यायताम्) निरन्तर सम्बद्ध होवे (तस्यै) उस क्रिया तथा (ते) तेरे लिये (स्वाहा) सत्यवाणी होवे ॥ १८ ॥

भावार्थः-जो स्त्री पुरुष दिव्य क्रिया शुद्ध उपासना और पवित्र विज्ञान को पाकर प्रकाशित होते हैं वे ही मनुष्य जन्म के फल से युक्त होते हैं औरों को भी वैसा ही करें ॥ १८ ॥

क्षत्रस्येत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
निचृदुपरिष्टाद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
अथ राजप्रजे किं कुर्यातामित्याह ॥

अब राजा और प्रजा क्या करें इस वि० ॥

क्षत्रस्य॑ त्वा प॒रस्पा॑य॒ ब्रह्म॑णस्त॒न्वं॑ याहि । विश॑स्त्वा॒ धर्म॑णा व॒यमनु॑ क्रामाम सुवि॒ताय॒ नव्य॑से ॥ १९ ॥

क्ष॒त्रस्य॑ । त्वा॒ । प॒रस्पा॑य । प॒रः पा॒येति॑ प॒रःऽपाय॑ । ब्रह्म॑णः । त॒न्व॒म् । या॒हि॒ । वि॒शः॑ । त्वा॒ । धर्म॑णा । व॒यम् । अनु॑ । क्रा॒मा॒म॒ । सु॒वि॒ताय॑ । नव्य॑से ॥ १९ ॥

पदार्थः—(क्षत्रस्य) राजन्यकुलस्य राष्ट्रस्य वा (त्वा) त्वाम् (परस्पाय) येन परानन्यान् पाति तस्मै (ब्रह्मणः) ब्रह्मविदः (तन्वम्) शरीरम् (याहि) (विशः) मनुष्यादिप्रजाः । विश इति मनुष्यना० निघं० २ । ३ (त्वा) त्वाम् (धर्मणा) धर्मेण (वयम्) (अनु) (क्रामाम) अनुक्रमेण गच्छेम (सुविताय) ऐश्वर्यप्राप्तये (नव्यसे) अतिशयेन नवीनाय ॥ १९ ॥

अन्वयः-हे राजन्! राज्ञि! वा त्वं परस्पाय क्षत्रस्य ब्रह्मणस्त्वा तन्वं याहि यथा वयं नव्यसे सुविताय धर्मणाऽनुक्रामाम तथैव धर्मेण वर्त्तमानं त्वा विशोऽनुगच्छन्तु ॥ १९ ॥

भावार्थः-राज्ञा राजपुरुषैश्च धर्मेण विदुषः प्रजाश्च संरक्षणीयाः । एवं प्रजाभी राजपुरुषैश्च राजा सदा संरक्षणीय एवं न्यायविनयाभ्यां वर्त्तित्वा राजप्रजे नूतनमैश्वर्यमुन्नयेताम् ॥ १९ ॥

पदार्थः-हे राजन्! वा राणी ! आप (परस्पाय) जिस कर्म से दूसरों की रक्षा हो उस के लिये (क्षत्रस्य) क्षत्रिय कुल वा राज्य के तथा (ब्रह्मणः) वेदवित् ब्राह्मण-कुल के सम्बन्धी (त्वा) आप के (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा कीजिये जैसे (वयम्) हम लोग (नवस्ये) नवीन (सुविताय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (धर्मणा) धर्म के साथ (अनुक्रामाम) अनुकूल चलें वैसे ही धर्म के साथ वर्त्तमान (त्वा) आपके अनुकूल (विशः) प्रजाजन चलें ॥ १९ ॥

भावार्थः-राजा और राजपुरुषों को योग्य है कि धर्म के साथ विद्वानों और प्रजाजनों की रक्षा करें । वैसे ही प्रजा और राजपुरुषों को चाहिये कि राजा की सदैव रक्षा करें । इस प्रकार न्याय तथा विनय के साथ वर्त्तकर राजा और प्रजा नवीन २ ऐश्वर्य्य की उन्नति किया करें ॥ १९ ॥

चतुःस्रक्तिरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥
फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सुप्रथाः स नो विश्वायुः सुप्रथाः स नः सर्वायुः सुप्रथाः । अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ २० ॥

चतुःस्रक्तिरिति चतुःऽस्रक्तिः । नाभिः । ऋतस्य । सुप्रथाऽ इति सुऽप्रथाः । सः । नः । विश्वायुरिति

विश्वऽआयुः । सप्रथा इति सऽप्रथाः । सः । नः । स्वायुरिति सर्वऽआयुः । सप्रथाऽइति सऽप्रथाः । अप । द्वेषः । अप । ह्वरः । अन्यव्रतस्येत्यन्यऽव्रतस्य । सश्चिम ॥ २० ॥

पदार्थः—(चतुःस्रक्तिः) चतुरस्रा (नाभिः) नाभिरिव (ऋतस्य) सत्यस्वरूपस्य (सप्रथाः) विस्तारेण सह वर्त्तमानः (सः) (नः) अस्मान् (विश्वायुः) सर्वमायुर्यस्य (सप्रथाः) विस्तारेण सह वर्त्तमानः (सः) (नः) अस्मान् (सर्वायुः) विस्तारेण सह वर्त्तमानः (सः) (नः) अस्मान् (सर्वायुः) संपूर्णजीवनम् (सप्रथाः) विस्तीर्णसुखः (अप) दूरीकरणे (द्वेषः) ये द्विषन्ति तान् (अप) (ह्वरः) ये ह्वरन्ति कुटिलं गच्छन्ति तान् (अन्यव्रतस्य) अन्येषां पालने व्रतं शीलं यस्य तस्य (सश्चिम) दूरे प्राप्नुयाम गमयेम वा ॥ २० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यथा चतुःस्रक्तिर्नाभिरिव सप्रथा अन्यव्रतस्यर्त्तस्य परमात्मनः सेवां करोति स सप्रथा विश्वायुर्नोऽस्मान् बोधयतु स सप्रथाः सर्वायुर्नः परमेश्वरविद्यां ग्राहयतु येन वयं द्वेषोपसश्चिम तथा यूयमपि कुरुत ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या ! यथा मातरमा नाभीरसमुत्पाद्य सर्वान् शरीरावयवान् पुष्णाति तथा सेविता विद्वांस उपासितः परमेश्वरश्च द्वेषं कुटिलतादिदोषांश्च निवार्य्य सर्वान् जीवान् संरक्षतीति मत्वा तेषां तस्य च सततं सेवा कार्य्या ॥ २० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (चतुःस्रक्तिः) चार कोन वाली (नाभिः) नाभि मध्य मार्ग के तुल्य निष्पन्न (सप्रथाः) विस्तार के साथ वर्तमान सत्पुरुष (अन्यव्रतस्य) दूसरे

सब जगत् की रक्षा करने स्वभाव वाले (ऋतस्य) सत्य स्वरूप परमात्मा की सेवा करता (सः) वह (सप्रथाः) विस्तृत कार्य्यों वाला (विश्वायुः) संपूर्ण आयु से युक्त पुरुष (नः) हम लोगों को बोधित करे। (सः) वह (सप्रथाः) अधिक सुखी (सर्वायुः) समग्र अवस्था वाला पुरुष (नः) हम को ईश्वर सम्बन्धी विद्या का ग्रहण करावे जिससे हम लोग (द्वेषः) द्वेषी शत्रुओं को (अप, सध्रिम) दूर पहुंचावें और (ह्वरः) कुटिल जनों को (अप) पृथक् करें। वैसे तुम लोग भी करो ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो! जैसे रस को प्राप्त हुई नाभि रस को उत्पन्न कर शरीर के अवयवों को पुष्ट करती वैसे सेवन किये विद्वान् वा उपासना किया परमेश्वर द्वेष और कुटिलतादि दोषों को निवृत्त करा कर सब जीवों की रक्षा करते वा करता है उन विद्वानों और उस परमेश्वर की निरन्तर सेवा करनी चाहिये ॥ २० ॥

घर्मैतदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता।

अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥ २१॥

घर्म। एतत्। ते। पुरीषम्। तेन। वर्द्धस्व। च। आ। च। प्यायस्व। वर्द्धिषीमहि। च। वयम्। आ। च। प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

पदार्थः—(घर्म) पूजनीयतम! (एतत्) (ते) तव (पुरीषम्) व्यापनं पालनं वा (तेन) (वर्द्धस्व) (च) (आ) (च)

(प्यायस्व) पुष्पाण (वर्द्धिषीमहि) पूर्णां वृद्धिं प्राप्नुया-म (च) (वयम्) (आ) (च) (प्यासिषीमहि) सर्वतो वर्द्धेम ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे घर्म सर्वतः प्रकाशमय जगदीश्वर! विद्वन्! वा यदेतत्ते पुरीषमास्ति तेन त्वं वर्द्धस्व चाऽस्मान् वर्द्धय स्वयमाप्यायस्वाऽस्मांश्च पोषय तव कृपया शिक्षया वा यथा वयं वर्द्धिषीमहि तथाचाऽस्मान् वयं वर्द्धेम यथा च वयमाप्यासिषीमहि तथाऽन्यान् समन्ततः पोषयेम तथायूयमपि कुरुत ॥ २१ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलु०—हे मनुष्याः यथेश्वरेण सर्वत्राभिव्याप्तेन सर्वं रक्ष्यते पोष्यते च तथैव वर्द्धमानैः पुष्टैरस्माभिः सर्वे जीवा वर्द्धनीयाः पोषणीयाश्च ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (घर्म) अत्यन्त पूजनीय सब ओर से प्रकाशमय जगदीश्वर ! वा विद्वन् ! जो (एतत्) यह (ते) आपका (पुरीषम्) व्याप्ति वा पालन है (तेन) उस से आप (वर्द्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हूजिये (च) और दूसरों को बढ़ाइये । आप स्वयं (आ, प्यायस्व) पुष्ट हूजिये (च) और दूसरों को पुष्ट कीजिये, आप की कृपा वा शिक्षा से जैसे हम लोग (वर्द्धिषीमहि) पूर्ण वृद्धि को पावें (च) और वैसे ही दूसरों को बढ़ावें (च) और जैसे हम लोग (आ, प्यासिषीमहि) सब ओर से बढ़ें वैसे दूसरों को निरन्तर पुष्ट करें वैसे तुम लोग भी करो ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलु०—हे मनुष्यो! जैसे सर्वत्र अभिव्याप्त ईश्वर ने सब की रक्षा वा पुष्टि की है वैसे ही बढ़े हुए पुष्ट हम लोगों को चाहिये कि सब जीवों को बढ़ावें और पुष्ट करें ॥ २१ ॥

अचिक्रददित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता । परोष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सꣳ सूर्य्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः ॥ २२ ॥

अचिक्रदत् । वृषा । हरिः । महान् । मित्रः । न । दर्शतः । सम् । सूर्य्येण । दिद्युतत् । उदधिरित्युदऽधिः । निधि रिति निऽधिः ॥ २२ ॥

पदार्थः-(अचिक्रदत्) शब्दं कुर्वन् (वृषा) वर्षकः (हरिः) आशुगन्ता सर्वेभ्यो ज्येष्ठः (मित्रः) सखा (न) इव (दर्शतः) द्रष्टव्यः (सम्) (सूर्य्येण) सवित्रा (दिद्युतत्) विद्योतते (उदधिः) उदकानि धीयन्ते यस्मिँस्तत्समुद्रोऽन्तरिक्षं वा (निधिः) निधीयन्ते पदार्था यस्मिन् सः ॥ २२ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या! यो वृषा हरिर्महानचिक्रदन्मित्रो न दर्शतः सूर्येण सह उदधिर्निधिरिव संदिद्युतत्सएव विद्युद्रूपोऽग्निः सर्वैः संप्रयोज्यः ॥ २२ ॥

भावार्थः-अत्रोपमावाचकलु०-हे मनुष्याः ! यथा वृषभास्तुरङ्गाश्च शब्दायन्ते यथा सखा सखीन् प्रीतयति तथैव सर्वैर्लोकैः सह वर्त्तमाना विद्युत् सर्वान् प्रकाशयति तां विजानीत ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (वृषा) वर्षा का निमित्त (हरिः) शीघ्र चलने वाला (महान्) सब से बड़ा (अचिक्रदत्) शब्द करता हुआ (मित्रः) मित्र के तुल्य (दर्शतः) देखने योग्य (सूर्येण) सूर्य के साथ (उदधिः, निधिः) जिसमें पदार्थ रक्खे जाते तथा जिसमें जल इकट्ठे होते उस समुद्र वा आकाश में (सम्, दिद्युतत्) सम्यक् प्रकाशित होता है वही बिजुली रूप अग्नि सब को कार्य में लाने योग्य है॥२२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—हे मनुष्यो ! जैसे बैल वा घोड़े शब्द करते और जैसे मित्र मित्रों को तृप्त करता है वैसे ही सब लोकों के साथ वर्त्तमान विद्युत् रूप अग्नि सब को प्रकाशित करता है उस को जानो ॥ २२ ॥

सुमित्रियाइत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आपो देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ सज्जनदुर्जनकृत्यमाह ॥

अब सज्जन और दुर्जनों का कर्त्तव्य वि० ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

सुमित्रियाऽइति सुऽमित्रियाः । नः । आपः । ओषधयः । सन्तु । दुर्मित्रियाऽइति दुःऽमित्रियाः । तस्मै । सन्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(सुमित्रियाः) सुष्ठु सखाय इव (नः) अस्मभ्यम् (आपः) प्राणाः (ओषधयः) सोमाद्याः

(सन्तु) (दुर्मित्रियाः) दुष्टानि मित्राणीव (तस्मै) (सन्तु) (यः) पक्षपातेनाऽधर्मी (अस्मान्) (द्वेष्टि) (यम्) (च) (वयम्) (द्विष्मः) न प्रीणीमः ॥२३॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! आप ओषधयो नोऽस्मभ्यं सुमित्रिया इव सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तस्मै आप ओषधयश्च दुर्मित्रिया इव सन्तु॥२३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये मनुष्या अन्येषां सुपथ्यौषधिप्राणवद्रोगदुःखनिवारकास्ते धन्याः। ये च कुपथ्यदुष्टौषधमृत्युवदन्येषां दुःखप्रदास्तान् धिग्धिक्॥२३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (आपः) प्राण वा जल तथा (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधियां (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) सुन्दर मित्रों के तुल्य सुखदायी (सन्तु) होवें (यः) जो पक्षपाती अधर्मी (अस्मान्) हम धर्मात्माओं से (द्वेष्टि) द्वेष करे (च) और (यम्) जिस दुष्ट से (वयम्) हम धर्मात्मा लोग (द्विष्मः) द्वेष करें (तस्मै) उसके लिये प्राण जल वा ओषधियां (दुर्मित्रियाः) दुष्ट मित्रों के समान दुःखदायी (सन्तु) होवें ॥ २३ ॥

भावार्थः—इस में वाचकलु०—जो मनुष्य दूसरों के सुपथ्य ओषधि और प्राण के तुल्य रोग दुःख दूर करते हैं वे धन्यवाद के योग्य हैं। और जो कुपथ्य दुष्ट ओषधि और मृत्यु के समान औरों को दुःख देते हैं उनको वार २ धिक्कार है॥ २३ ॥

उद्वयमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। सविता देवता।
विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥
कीदृशो जनः सुखमाप्नुयादित्याह॥
कैसा पुरुष सुख को प्राप्त होवे० ॥

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

उत् । वयम् । तमसः । परि । स्वरिति स्वः । पश्यन्तः । उत्तरमित्युत्ऽतरम् । देवम् । देवत्रेति देवऽत्रा । सूर्य्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्तममित्युत्ऽतमम् ॥ २४ ॥

पदार्थः- (उत्) (वयम्) (तमसः) अन्धकारात् (परि) वर्जने (स्वः) सुखम् (पश्यन्तः) (उत्तरम्) सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य उत्तरस्मिन् वर्त्तमानम् (देवम्) दिव्यगुणकर्मस्वभावम् (देवत्रा) देवेषु दिव्येषु पदार्थेषु (सूर्य्यम्) सवितृवत् प्रकाशमयम् (अगन्म) (ज्योतिः) सर्वस्य प्रकाशकम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा वयं यं तमसः पृथक् वर्त्तमानमुत्तरं देवत्रा देवमुत्तमं ज्योतिः सूर्यं पश्यन्तः सन्तः स्वः सुखं पर्युदगन्म तथैव यूयमपि प्राप्नुत ॥२४॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये मनुष्या विद्युदादिविद्यां प्राप्य परमात्मानं साक्षात्पश्येयुस्ते प्रकाशिताः सन्तः सुखमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (वयम्) हम लोग (तमसः) अन्धकार से पृथक् वर्त्तमान (उत्तरम्) सब पदार्थों से उत्तर भाग में वर्त्तमान (देवत्रा) दिव्य उत्तम पदार्थों में (देवम्) उत्तम गुणकर्मस्वभाव वाले (उत्तमम्) सब से श्रेष्ठ (ज्योतिः) सब के प्रकाशक (सूर्यम्) सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप ईश्वर को (पश्यन्तः) ज्ञानदृष्टि से देखते हुए (स्वः) सुख को (परि, उत्, अगन्म) सब ओर से उत्कृष्टता के साथ प्राप्त होवें तुम लोग भी प्राप्त होओ ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य विद्युत आदि विद्या को प्राप्त हो परमात्मा को साक्षात् देखें वे प्रकाशित हुए निरन्तर सुख को प्राप्त होवें ॥ २४ ॥

एध इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
साम्नी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथाऽग्निमिषेण योगिकृत्यमाह ॥

अब अग्नि के मिष से योगियों के कर्त्तव्य वि० ॥

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ २५ ॥

एधः । असि । एधिषीमहि । समिदिति सम्ऽइत् । असि । तेजः । असि । तेजः । मयि । धेहि ॥ २५ ॥

पदार्थः—(एधः) इन्धते प्रदीपयन्ति येन तद्वत् (असि) (एधिषीमहि) सर्वतो वर्द्धेम (समित्) सम्यक् प्रदीप्तेव (असि) (तेजः) प्रकाशमयः (असि) (तेजः) (मयि) (धेहि) ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर! यस्त्वमस्मदात्मस्वेधइव प्रकाशकोऽसि समिदिवाऽसि तेजोवत्सर्वविद्यादर्शकोऽसि स त्वं मयि तेजो धेहि भवन्तं प्राप्य वयमेधिषीमहि ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथेन्धनेन घृतेन चाग्नेर्ज्वाला वर्द्धते तथैवोपसितेन जगदीश्वरेण योगिनामात्मानः प्रकाशिता भवन्ति ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर जो आप हमारे आत्माओं में (एधः) प्रकाश करने वाले ईन्धन के तुल्य प्रकाशक (असि) हैं (समित्) सम्यक् प्रदीप्त समिधा के समान (असि) हैं (तेजः) प्रकाशमय विजुली के तुल्य सब विद्या के दिखाने वाले (असि) हैं सो आप (मयि) मुझ में (तेजः) तेज को (धेहि) धारण कीजिये आप को प्राप्त होकर हम लोग (एधिषीमहि) सब ओर से वृद्धि को प्राप्त होवें ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जैसे ईंधन से और घी से अग्नि की ज्वाला बढ़ती है वैसे उपासना किये जगदीश्वर से योगियों के आत्मा प्रकाशित होते हैं ॥ २५ ॥

यावतीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
पुनर्विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥
फिर विद्वान् लोग क्या करें इस वि० ॥

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे । तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥ २६ ॥

यावतीऽ इति यावती । द्यावापृथिवीऽ इति द्यावापृथिवी । यावत् । च । सप्त । सिन्धवः । वितस्थिरऽ इति विऽतस्थिरे । तावन्तम् । इन्द्र । ते । ग्रहम् । ऊर्जा । गृह्णामि । अक्षितम् । मयि । गृह्णामि । अक्षितम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(यावती) यावत्परिमाणे (द्यावापृथिवी) भूमिसूर्य्यौ (यावत्) यावत्परिमाणाः (च) (सप्त) (सिन्धवः) समुद्राः (वितस्थिरे) विशेषेण तिष्ठन्ति (तावन्तम्) (इन्द्र) विद्युदिव वर्त्तमान (ते) तव (ग्रहम्) गृह्णाति येन तम् (ऊर्जा) बलेन (गृह्णामि) (अक्षितम्) क्षयरहितम् (मयि) गृह्णामि (अक्षितम्) नाशरहितम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! ते यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे तावन्तमक्षितं ग्रहमूर्जाऽहं गृह्णामि तावन्तमक्षितमहं मयि गृह्णामि ॥ २६ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्यावच्छक्यं तावत्पृथिवी विद्युदादिगुणान् गृहीत्वाऽक्षयं सुखमाप्तव्यम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) विद्युत् के समान वर्त्तमान परमेश्वर (ते) आप की (यावती) जितनी (द्यावापृथिवी) सूर्य भूमि (च) और (यावत्) जितने बड़े (सप्त) (सिन्धवः) सात समुद्र (वितस्थिरे) विशेष कर स्थिर हैं (तावन्तम्) उतने (अक्षितम्) नाशरहित (ग्रहम्) ग्रहण के साधन रूप सामर्थ्य को (ऊर्जा) बल के साथ मैं (गृह्णामि) स्वीकार करता तथा उतने (अक्षितम्) नाशरहित सामर्थ्य को मैं (मयि) अपने में (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थः—विद्वानों को योग्य है कि जहां तक होसके वहां तक पृथिवी और बिजुली आदि के गुणों को ग्रहण कर अक्षय सुख को प्राप्त होवें ॥ २६ ॥

मयि त्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ मनुष्यान् किं सुखयतीत्याह ॥

अब मनुष्यों को क्या वस्तु सुख देता है इस वि० ॥

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः । घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह ॥ २७ ॥

मयि । त्यत् । इन्द्रियम् । बृहत् । मयि । दक्षः । मयि । क्रतुः । घर्मः । त्रिशुगिति त्रिऽशुक् । वि । राजति । विराजेति विऽराजा । ज्योतिषा । सह । ब्रह्मणा । तेजसा । सह ॥ २७ ॥

पदार्थः—(मयि) इन्द्रे जीवात्मनि (त्यत्) तत् (इन्द्रियम्) मन आदि (बृहत्) महत् (मयि) (दक्षः) बलम् (मयि) (क्रतुः) प्रज्ञा कर्म वा (घर्मः) प्रतापो यज्ञो वा (त्रिशुक्) तिस्रो मृदुमध्यतीव्रा दीप्तयो यस्य सः (विराजति) विशेषेण प्रकाशते (विराजा) विशेषेण प्रकाशेन (ज्योतिषा) द्योतमानेन (सह) (ब्रह्मणा) धनेन (तेजसा) तीक्ष्णेन (सह) ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह च त्रिशुक् घर्मो विराजति तथा मयि बृहत् त्यदिन्द्रियं मयि दक्षो मयि क्रतुर्विराजति तथा युष्मासु स्वयं विराजताम् ॥ २७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्याः! यथाऽग्निविद्युत्सूर्यरूपेण त्रिविधः प्रकाशो जगत्प्रकाशयति तथोत्तमं बलं कर्म प्रज्ञाधर्मसञ्चितं धनं जितमिन्द्रियं बृहत्सुखं प्रयच्छति ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (विराजा) विशेष कर प्रकाशक (ज्योतिषा) प्रदीप्त ज्योति के (सह) साथ और (ब्रह्मणा, तेजसा) तीक्ष्ण कार्यसाधक धन के (सह) साथ (त्रिशुक्) कोमल मध्यम और तीव्र दीप्तियों वाला (घर्मः) प्रताप (विराजति) विशेष प्रकाशित होता है वैसे (मयि) मुझ जीवात्मा में (बृहत्) बड़े (त्यत्) उस (इन्द्रियम्) मन आदि इन्द्रिय (मयि) मुझ में (दक्षः) बल और (मयि) मुझ में (क्रतुः) बुद्धि वा कर्म विशेष कर प्रकाशित होता है वैसे तुम लोगों के बीच भी यह विशेष कर प्रकाशित होवे ॥ २७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो! जैसे अग्नि विद्युत और सूर्यरूप से तीन प्रकार का प्रकाश जगत् को प्रकाशित करता है वैसे उत्तम, बल, कर्म, बुद्धि धर्म से संचित धन जीता गया इन्द्रिय महान् सुख को देता है ॥ २७ ॥

पयस इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
स्वराड्धृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः किं किं कुर्य्युरित्याह ॥
फिर मनुष्य क्या२ करें इस वि० ॥

पर्यसो रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬं समाम् । त्विषः संवृक् क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः । इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमत उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि ॥ २८ ॥

पयसः । रेतः । आभृतमित्याऽभृतम् । तस्य । दोहम् । अशीमहि । उत्तरामुत्तरामित्युत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् । त्विषः । संवृगिति सम्ऽवृक् । क्रत्वे । दक्षस्य । ते । सुषुम्णस्य । सुसुम्नस्येति सुऽसुम्नस्य । ते । सुषुम्ण । सुसुम्नेति सुऽसुम्न । अग्निहुतऽ इत्यग्निऽहुतः । इन्द्रपीतस्येतीन्द्रऽपीतस्य । प्रजापतिभक्षितस्येति प्रजापतिऽभक्षितस्य । मधुमतऽ इति मधुऽमतः । उपहूतऽइत्युपऽहूतः । उपहूतस्येत्युपऽहूतस्य । भक्षयामि ॥ २८ ॥

पदार्थः—(पयसः) उदकस्य दुग्धस्य वा (रेतः) वीर्य्यम् (आभृतम्) समन्तात् पुष्टं धृतं वा (तस्य) (दोहम्) प्रपूर्त्तिम् (अशीमहि) प्राप्नुयाम (उत्तरामुत्तराम्) आगा-

मिनीमागामिनीम् (समाम्) वेलाम् (त्विषः) प्रदीप्तस्य (संवृक्) यः संवृक्ते सः (क्रत्वे) प्रज्ञायै (दक्षस्य) बलस्य (ते) तव (सुषुम्णस्य) शोभनं सुम्नं सुखम् यस्य (ते) तव (सुषुम्ण) शोभनसुखयुक्त ! (अग्निहुतः) अग्नौ हुतं प्रक्षिप्तं येन (इन्द्रपीतस्य) सूर्य्येण जीवेन वा पीतस्य (प्रजापतिभक्षितस्य) प्रजास्वामिनेश्वरेण सेवितस्य भक्षितस्य वा (मधुमतः) मधुरादिगुणयुक्तस्य (उपहूतः) उप समीपे कृताऽऽह्वानः (उपहूतस्य) समीपमाहूतस्य (भक्षयामि) ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे सुषुम्ण ! यथा त्वया यस्य पयसो रेत आभृतं तस्य दोहमुत्तरामुत्तरां समां वयमशीमहि तस्य ते क्रत्वे त्विषो दक्षस्य त आभृतमशीमहि सुषुम्णस्येन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्योपहूतस्य मधुमतः पयसो दोषान् संवृक् सन्नुपहूतोऽग्निहुतोऽहं भक्षयामि ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदा वीर्य्यं वर्द्धनीयं विद्यादिशुभगुणा धर्त्तव्याः प्रतिदिनं सुखं वर्द्धनीयं यथा स्वस्य सुखमिच्छेयुस्तथाऽन्येषामप्याकाङ्क्षेरन्निति ॥ २८ ॥

अस्मिन्नध्याये[illegible]स्यां सृष्टौ शुभगुणग्रहणं स्वस्य परस्य च पोषणं यज्ञेन जगत्पदार्थशोधनं सर्वत्र सुखप्राप्तिसाधनं धर्मानुष्ठानं पुष्टिवर्द्धनमीश्वरगुणव्याख्या सर्वतो बलवर्द्धनं सुखभोगश्चोक्तोऽतएतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाऽध्यायेन[illegible] सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे (सुषुम्ण) शोभन सुख युक्त जन ! जैसे आप ने जिस (पयसः) जल वा दूध के (रेतः) पराक्रम को (आभृतम्) पुष्ट वा धारण किया (तस्य) उस

की (दोहम्) पूर्णता तथा (उत्तरामुत्तरांम्) उत्तर २ (समाम्) समय को (अशीमहि) प्राप्त होवें। उस (ते) आपकी (क्रत्वे) बुद्धि के लिये (दिवः) प्रकाशित (दत्तस्य) बल के और (ते) आप की पुष्टि वा धारण को प्राप्त होवें (सुधुम्नस्य) सुन्दर सुख देने वाले (इन्द्रपीतस्य) सूर्य्य वा जीव ने ग्रहण किये (प्रजापतिभक्षितस्य) प्रजारक्षक ईश्वर ने सेवन वा जीव ने भोजन किये (उपहूतस्य) समीप लाये हुए दूध वा जल के दोषों को (संवृक्) सम्यक् अलग करने वाला (उपहूतः) समीप बुलाया गया और (अग्निहुतः) अग्नि में होम करने वाला मैं भोजन वा सेवन करूं ॥२८

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि सदा वीर्य बढ़ावें विद्यादि शुभगुणों का धारण करें। प्रतिदिन सुख बढ़ावें जैसे अपना सुख चाहें वैसे औरों के लिये भी सुख की आकांक्षा किया करें ॥ २८ ॥

इस अध्याय में इस सृष्टि में शुभगुणों का ग्रहण, अपना और दूसरों का पोषण, यज्ञ से जगत् के पदार्थों का शोधन, सर्वत्र सुख प्राप्ति का साधन, धर्म का अनुष्ठान, पुष्टि का बढ़ाना, ईश्वर के गुणों की व्याख्या, सब ओर से बल बढ़ाना, और सुख भोग कहा है इस से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां
श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्-
यानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिते संस्कृता-
र्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते
यजुर्वेदभाष्येऽष्टत्रिंशोऽध्यायः
समाप्तिमगमत् ॥ ३८ ॥

ओ३म्

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्याय आरभ्यते

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

स्वाहा प्राणेभ्यइत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः प्राणादयो लिंगोक्ता देवताः । पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथान्त्येष्टिकर्मविषयमाह ॥

अब उनतालीसवें अध्याय का आरम्भ है उसके प्रथम मन्त्र में अन्त्येष्टि कर्म का विषय कहते हैं ॥

स्वाहा॑ प्राणेभ्यः॒ साधि॑पतिकेभ्यः । पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॒ऽग्नये॒ स्वाहा॒ऽन्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॑ दि॒वे स्वाहा॒ सूर्या॑य स्वाहा॑ ॥ १ ॥

स्वाहा॑ । प्रा॒णेभ्यः॑ । साधि॑पतिकेभ्य॒ऽइति॒ साधि॑ऽपतिकेभ्यः । पृ॒थि॒व्यै । स्वाहा॑ । अ॒ग्नये॑ । स्वाहा॑ । अ॒न्तरि॑क्षाय । स्वाहा॑ । वा॒यवे॑ । स्वाहा॑ । दि॒वे । स्वाहा॑ । सूर्या॑य । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

पदार्थः—(स्वाहा) सत्या क्रिया (प्राणेभ्यः) जीवनहेतुभ्यः (साधिपतिकेभ्यः) अधिपतिना जीवेन सह वर्त्तमानेभ्यः (पृथिव्यै) भूम्यै (स्वाहा) सत्या वाक् (अ-

ग्नये) पावकाय (स्वाहा) (अन्तरिक्षाय) आकाशे ग-
मनाय (स्वाहा) (वायवे) वायुप्राप्तये (स्वाहा) (दिवे)
विद्युत् प्राप्तये (स्वाहा) (सूर्य्याय) सवितृप्रापणाय
(स्वाहा) ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! युष्माभिः साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा पृथि-
व्यै स्वाहाऽग्नये स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वा-
हा च यथावत् संप्रयोज्या ॥ १ ॥

भावार्थः—अस्मिन्नध्यायेऽन्त्येष्टिर्यस्या नृमेधः पुरुषमेधो दाहकर्मेत्यनर्था-
न्तरं नामोच्यते । यदा कश्चिन्म्रियेत तदा शरीरभारेण तुल्यं घृतं गृहीत्वा तत्र
प्रतिप्रस्थमेकरक्तिकामात्रां कस्तूरीं माषकमात्रं केसरं चन्दनादीनि काष्ठानि च
यथायोग्यं संभृत्य यावानूर्द्ध्वबाहुकः पुरुषस्तावदायामप्रमितां सार्द्धत्रिहस्तमात्रामुप-
रिष्टाद्विस्तीर्णां तावद्गभीरां वितस्तिमात्रामर्वाग्वेदीं निर्मायाऽधस्तादर्धमात्रां समिद्भिः
प्रपूर्य्य तदुपरि शवं निधाय पुनः पार्श्वयोरुपरिष्टाच्च सम्यक् समिधः सञ्चित्य वक्षः
स्थलादिषु कर्पूरं संस्थाप्य कर्पूरेण प्रदीप्तमग्निं चितायां प्रवेश्य यदा प्रदीप्तोऽ-
ग्निर्भवेत्तदैतैः स्वाहान्तैरेतदध्यायस्थैर्मन्त्रैः पुनःपुनरनु वृत्त्या घृतं हुत्वा शवं स-
म्यक् प्रदहेयुरेवं कृते दाहकार्त्तारो यज्ञफलं प्राप्नुयान्न कदाचिच्छवं भूमौ निदध्यु-
र्नारण्ये त्यजेयुर्न जले निमज्जयेयुर्विना दाहेन संबन्धिनो महत्पापं प्राप्नुयुः कुतः
प्रेतस्य विकृतस्य शरीरस्य सकाशादधिकदुर्गन्धोन्नतेः प्राण्यप्राणिष्वसंख्यरोगप्रा-
दुर्भावात्तस्मात्पूर्वोक्तविधिना शवस्य दाहएव कृते भद्रं नान्यथा ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि (साधिपतिकेभ्यः) इन्द्रियादि के
अधिपति जीव के साथ वर्त्तमान (प्राणेभ्यः) जीवन के तुल्य प्राणों के लिये (स्वाहा)
सत्यक्रिया (पृथिव्यै) भूमि के लिये स्वाहा सत्यवाणी (अग्नये) अग्नि के अर्थ (स्वाहा)
सत्यक्रिया (अन्तरिक्षाय) आकाश में चलने के लिये (स्वाहा) सत्यवाणी (वायवे)

वायु की प्राप्ति के अर्थ (स्वाहा) सत्यक्रिया (दिवे) विद्युत् की प्राप्ति के अर्थ (स्वाहा) सत्यवाणी और (सूर्य्याय) सूर्य्यमण्डल की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया को यथावत् संयुक्त करो ॥ १ ॥

भावार्थः—इस अध्याय में अन्त्येष्टिकर्म जिस को नरमेध, पुरुषमेध और दाहकर्म भी कहते हैं। जब कोई मनुष्य मरे तब शरीर की बराबर तोल घी लेकर उस में प्रत्येक सेर में एक रत्ती कस्तूरी एक मासा केसर और चन्दन आदि काष्ठों को यथायोग्य सम्हाल के जितना उर्ध्वबाहु पुरुष होवे उतनी लम्बी,साढे तीन हाथ चौड़ी और इतनी ही गहरी एक बिलस्त नीचे तले में वेदी बनाकर उसमें नीचे से अधवर तक समिधा भरकर उस पर मुर्दे को धर कर फिर मुर्दे के इधर उधर और ऊपर से अच्छे प्रकार समिधा चुनकर वक्षः स्थल आदि में कपूर धर कपूर से अग्नि को जलाकर चिता में प्रवेश कर जब अग्नि जलने लगे तब इस अध्याय के इन स्वाहान्त मंत्रों की बार २ आवृत्ति से घी का होमकर मुर्दे को सम्यक् जलावें इस प्रकार करने में दाह करने वालों को यज्ञ कर्म के फल की प्राप्ति होवे। और मुर्दे को न कभी भूमि में गाड़ें, न वन में छोड़ें, न जल में डुबावें, बिना दाह किये सम्बन्धी लोग महापाप को प्राप्त होवें क्योंकि मुर्दे के बिगड़े शरीर से अधिक दुर्गन्ध बढ़ने के कारण चराचर जगत् में असंख्य रोगों की उत्पत्ति होती है इससे पूर्वोक्त विधि के साथ मुर्दे के दाह करने में ही कल्याण है अन्यथा नहीं ॥१॥

दिग्भ्य इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। दिगादयो लिंगोक्ता देवताः। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा ॥ २ ॥

दिग्भ्यऽ इति दिक्ऽभ्यः। स्वाहा। चन्द्राय।

स्वाहा । नक्षत्रेभ्यः । स्वाहा । अद्भ्यऽ इत्यत्ऽभ्यः । स्वाहा । वरुणाय । स्वाहा । नाभ्यै । स्वाहा । पूताय । स्वाहा ॥ २ ॥

पदार्थः–(दिग्भ्यः) दिक्षु हुतद्रव्यस्य गमनाय (स्वाहा) (चन्द्राय) चन्द्रलोकस्य प्राप्तये (स्वाहा) (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्र प्रकाशप्राप्तये (स्वाहा) (अद्भ्यः) अप्सु गमनाय (स्वाहा) (वरुणाय) समुद्रादिषु गमनाय (स्वाहा) (नाभ्यै) नाभेर्दहनाय (स्वाहा) (पूताय) पवित्रकरणाय (स्वाहा) ॥ २ ॥

अन्वयः–हे मनुष्याः! यूयं शरीरस्य दाहे दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा सत्यां क्रियां सम्प्रयुङ्ध्वम् ॥ २ ॥

भावार्थः–मनुष्याः पूर्वोक्तविधिना शरीरं दग्ध्वा सर्वासु दिक्षु शरीरावयवानग्निद्वारा गमयेयुः ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग शरीर के जलाने में (दिग्भ्यः) दिशाओं में हुतद्रव्य के पहुंचाने को (स्वाहा) सत्यक्रिया (चन्द्राय) चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रलोकों के प्रकाश की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया (अद्भ्यः) जलों में चलने के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया (वरुणाय) समुद्रादि में जाने के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया (नाभ्यै) नाभि के जलने के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया और (पूताय) पवित्र करने के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया को सम्यक् प्रयुक्त करो ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग पूर्वोक्त विधि से शरीर जला कर सब दिशाओं में शरीर के अवयवों को अग्निद्वारा पहुंचावें ॥ २ ॥

वाचं इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। वागादयो लिङ्गोक्ता देवताः। स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा ॥ ३ ॥

वाचे । स्वाहा । प्राणाय । स्वाहा । प्राणाय । स्वाहा । चक्षुषे । स्वाहा । चक्षुषे । स्वाहा । श्रोत्राय । स्वाहा । श्रोत्राय । स्वाहा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(वाचे) वागिन्द्रियहोमाय (स्वाहा) (प्राणाय) शरीरस्याऽवयवान् जगत्प्राणे गमनाय (स्वाहा) (प्राणाय) धनंजयगमनाय (स्वाहा) (चक्षुषे) एकस्य चक्षुर्गोलकस्य दहनाय (स्वाहा) (चक्षुषे) इतरस्य नेत्रगोलकस्य दहनाय (स्वाहा) (श्रोत्राय) एकस्य श्रोत्रगोलकस्य विभागाय (स्वाहा) (श्रोत्राय) द्वितीयस्य श्रोत्रगोलकस्य विभागाय (स्वाहा) ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं मृतशरीरस्य वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहोक्ता घृताहुतीश्चितायां प्रक्षिपत ॥ ३ ॥

भावार्थः—ये सुगन्धियुक्तेन घृतादिसम्भारेण मृतं शरीरं दाहयेयुस्ते पुण्यभाजो जायन्ते ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग मरे हुए शरीर के (वाचे) वाणी इन्द्रिय सम्बन्धी होम के लिये (स्वाहा) सुन्दरक्रिया (प्राणाय) शरीर के अवयवों को जला के प्राण वायु में पहुंचाने को (स्वाहा) सत्यक्रिया (प्राणाय) धनंजय वायु को प्राप्त होने के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया (चक्षुषे) एक नेत्र गोलक के जलाने के लिये (स्वाहा) सुन्दर आहुति (चक्षुषे) दूसरे नेत्र गोलक के जलाने को (स्वाहा) अच्छी आहुति (श्रोत्राय) एक कान के विभाग के लिये (स्वाहा) सुन्दर आहुति (श्रोत्राय) दूसरे कान के विभाग के लिये (स्वाहा) यह शब्द कर घी की आहुति चिता में छोड़ो ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो लोग सुगन्धित युक्त घृतादि सामग्री से मरे शरीर को जलावें वे पुण्यसेवी होते हैं ॥ ३ ॥

मनस इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । श्रीर्देवता ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

मन॑सः काम॒माकू॑तिं वा॒चः स॒त्यम॑शीय । प॒शू॒नाᳬं रू॒पमन्न॑स्य॒ रसो॒ यशः॒ श्रीः श्र॑यतां॒ मयि॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

मन॑सः । काम॑म् । आकू॑ति॒मित्याऽऽकू॑तिम् । वा॒चः । स॒त्यम् । अ॒शी॒य । प॒शू॒नाम् । रू॒पम् । अन्न॑स्य । रसः॑ । यशः॑ । श्रीः । श्र॒य॒ता॒म् । मयि॑ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

पदार्थः—(मनसः) अन्तःकरणस्य (कामम्) इच्छापूर्त्तिम् (आकूतिम्) उत्साहम् (वाचः) (वाण्याः)

सत्सु साधु वचः (अशीय) प्राप्नुयाम् (पशूनाम्) गवादीनाम् (रूपम्) सुन्दरं स्वरूपम् (अन्नस्य) अनुमहेस्योदनादेः (रसः) मधुरादिः (यशः) कीर्त्तिः (श्रीः) शोभनैश्वर्यं च (श्रयताम्) सेवताम् (मयि) जीवात्मनि (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥ ४ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या ! यथाहं स्वाहैवं पूर्वपरोक्तप्रकारेण मृतानि शरीराणि दग्ध्वा मनसो वाचश्च सत्यं काममाकूतिं पशूनां रूपमशीय यथा मय्यन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां तथैवं कृत्वा यूयमेनं प्राप्नुत एता युष्मासु श्रयन्ताम् ॥ ४ ॥

भावार्थः-अत्र वाचकलु०—ये मनुष्याः सुविज्ञानोत्साहसत्यवचनैर्मृतानि शरीराणि विधिना दाहयन्ति ते पशून् प्रजाधनधान्यादीनि पुरुषार्थेन लभन्ते ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (स्वाहा) सत्यक्रिया से ऐसे आगे पीछे कहे प्रकार से मरे हुए शरीरों को जला के (मनसः) अन्तःकरण और (वाचः) वाणी के (सत्यम्) विद्यमानों में उत्तम (कामम्) इच्छा पूर्त्ति (आकूतिम्) उत्साह (पशूनाम्) गौ आदि के (रूपम्) सुन्दर स्वरूप को (अशीय) प्राप्त होऊं जैसे (मयि) मुझ जीवात्मा में (अन्नस्य) खाने योग्य अन्नादि के (रसः) मधुरादि रस (यशः) कीर्त्ति (श्रीः) शोभा वा ऐश्वर्य (श्रयताम्) आश्रय करें वैसे ही तुम इसको प्राप्त होओ और ये तुम में आश्रय करें ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य सुन्दर विज्ञान उत्साह और सत्य वचनों से मरे शरीरों को विधिपूर्वक जलाते हैं वे पशु प्रजा धनधान्य आदि को पुरुषार्थ से पाते हैं ॥ ४ ॥

प्रजापतिरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । कृतिश्छन्दः । । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः सꣳसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेज उद्यत आश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः ॥ ५ ॥

प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः। सम्भ्रियमाणऽइति सम्ऽभ्रियमाणः। सम्राडिति सम्ऽराट्। सम्भृतऽइति सम्ऽभृतः। वैश्वदेवऽइति वैश्वऽदेवः। सꣳसन्नऽइति सम्ऽसन्नः। घर्मः। प्रवृक्तऽइति प्रऽवृक्तः। तेजः। उद्यतऽइत्युत्ऽयतः। आश्विनः। पयसि। आनीयमानऽइत्याऽनीयमाने। पौष्णः। विष्यन्दमाने। विस्यन्दमानऽइति विऽस्यन्दमाने। मारुतः। क्लथन्। मैत्रः। शरसि। सन्ताय्यमानऽइति सम्ऽताय्यमाने। वायव्यः। ह्रियमाणः। आग्नेयः। हूयमानः। वाक्। हुतः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(प्रजापतिः) प्रजायाः पालको जीवः (सम्भ्रियमाणः) सम्यक् पोष्यमाणो भ्रियमाणो वा (सम्राट्) यः

सम्यग्राजते सः (सम्भृतः) सम्यक् पोषितो धृतो वा (वैश्वदेवः) विश्वेषां देवानां दिव्यानां जीवानां पदार्थानां वायः सम्बन्धी (संसन्नः) सम्यक् गच्छन् प्राप्नुवन् (घर्मः) (प्रवृक्तः) शरीरात्पृथक्भूतः (तेजः) (उद्यतः) ऊर्ध्वं गच्छन् (आश्विनः) आश्विनोः प्राणापानगत्योरयं सम्बन्धी (पयसि) उदके (आनीयमाने) समन्तात्प्राप्ते (पौष्णः) पूष्णः पृथिव्या अयं सम्बन्धी (विस्पन्दमाने) विशेषेण गम्यमाने (मारुतः) मनुष्यदेहानामयम् (क्लथन्) हिंसां कुर्वन् (मैत्रः) मित्रस्यायं सम्बन्धी (शरसि) तडागे (सन्ताय्यमाने) विस्तार्यमाणे पाल्यमाने वा (वायव्यः) वायौ भवः (ह्रियमाणः) यो ह्रियते सः (आग्नेयः) अग्निदेवताकः (हूयमानः) शब्द्यमानः (वाक्) यो वदति सः (हुतः) शब्दितः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! येनेश्वरेण सम्भ्रियमाणः सम्राड् वैश्वदेवः संसन्नो घर्मस्तेजः प्रवृक्त उद्यत आश्विन आनीयमाने पयसि पौष्णो विस्पन्दमाने मारुतः क्लथन्मैत्रः सन्ताय्यमाने शरसि वायव्यो ह्रियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः प्रजापतिः सम्भृतोऽस्ति तमेव परमात्मानं यूयमुपाध्वम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—यदायं देहं त्यक्त्वा सर्वेषु पृथिव्यादिपदार्थेषु भ्रमन् यत्र कुत्र प्रविशन् यतस्ततो गच्छन् कर्मानुसारेणेश्वरव्यवस्थया जन्म प्राप्नोति तदैव सुप्रसिद्धो भवति ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर ने (सम्भ्रियमाणः) सम्यक् पोषण वा धारण किया हुआ (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशमान (वैश्वदेवः) सब उत्तम जीव वा पदार्थों के सम्बन्धी (संसन्नः) सम्यक् प्राप्त होता हुआ (घर्मः) घाम रूप (तेजः) प्रकाश (तथा) (प्रवृक्तः) शरीर से पृथक् हुआ (उद्यतः) ऊपर को चलता हुआ (आश्विनः) प्राण अपान सम्बन्धी तेज (आनीयमाने) अच्छे प्रकार प्राप्त हुए (पयसि) जल

में (पौष्णः) पृथिवी सम्बन्धी तेज (विस्पन्दमाने) विशेष कर प्राप्त हुए समय में (मारुतः) मनुष्य देह सम्बन्धी तेज (क्लथन्) हिंसा करता हुआ (मैत्रः) मित्र प्राण सम्बन्धी तेज (सन्ताय्यमाने) विस्तार किये वा पालन किये (शरसि) तलाब में (वायव्यः) वायु सम्बन्धी तेज (ह्रियमाणः) हरण किया हुआ (आग्नेयः) अग्नि देवता सम्बन्धी तेज (हूयमानः) बुलाया हुआ (वाक्) बोलने वाला (हुतः) शब्द किया तेज और (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक जीव (सम्भृतः) सम्यक् पोषण वा धारण किया है उसी परमात्मा की तुम लोग उपासना करो ॥ ५ ॥

भावार्थः—जब यह जीव शरीर को छोड़ सब पृथिव्यादि पदार्थों में भ्रमण करता जहां तहां प्रवेश करता और इधर उधर जाता हुआ कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से जन्म पाता है तब ही सुप्रसिद्ध होता है ॥ ५ ॥

सवितेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । सवित्रादयो देवताः ।
विराड्धृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥ ६ ॥

सविता । प्रथमे । अहन् । अग्निः । द्वितीये । वायुः । तृतीये । आदित्यः । चतुर्थे । चन्द्रमाः । पञ्चमे । ऋतुः । षष्ठे । मरुतः । सप्तमे । बृहस्पतिः । अष्टमे । मित्रः । नवमे । वरुणः । दशमे । इन्द्रः । एकादशे । विश्वे । देवाः । द्वादशे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(सविता) सूर्यः (प्रथमे) आदिमे (अहन्) दिने (अग्निः) वन्हिः (द्वितीये) द्वयोः पूर्णे (वायुः) (तृतीये) (आदित्यः) (चतुर्थे) (चन्द्रमाः)(पञ्चमे) (ऋतुः) (षष्ठे) (मरुतः) मनुष्यादयः (सप्तमे) (बृहस्पतिः) बृहतांपालकः सूत्रात्मा (अष्टमे) (मित्रः) प्राणः (नवमे) (वरुणः) उदानः (दशमे) (इन्द्रः) विद्युत् (एकादशे) (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः (द्वादशे) ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! अनेन जीवेन प्रथमेऽहन् सविता द्वितीयेऽग्निस्तृतीये वायुश्चतुर्थ आदित्यः पञ्चमे चन्द्रमाः षष्ठ ऋतुः सप्तमे मरुतोऽष्टमे बृहस्पतिर्नवमे मित्रो दशमे वरुण एकादश इन्द्रो द्वादशेऽहनि विश्वे देवाश्च प्राप्यन्ते ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा सूर्यप्रकाशादीन् पदार्थान् प्राप्य किञ्चित्कालं भ्रमणं कृत्वा स्वकर्मानुयोगेन गर्भाशयं गत्वा शरीरं धृत्वा जायन्ते तदैव पुण्यपापकर्मणा सुखदुःखानि फलानि भुञ्जते ॥ ६ ॥

पदार्थः-हे मनुष्यो ! इस जीव को (प्रथमे) शरीर छोड़ने के पहिले (अहन्) दिन (सविता) सूर्य (द्वितीये) दूसरे दिन (अग्निः) अग्नि (तृतीये) तीसरे (वायुः) वायु (चतुर्थे) चौथे (आदित्यः) महीना (पञ्चमे) पांचवें (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (षष्ठे) छटे (ऋतुः) वसन्तादि ऋतु (सप्तमे) सातवें (मरुतः) मनुष्यादि प्राणि (अष्टमे) आठवें (बृहस्पतिः) बड़ों का रक्षक सूत्रात्मा वायु (नवमे) नवयें में (मित्रः) प्राण (दशमे) दशवें में (वरुणः) उदान (एकादशे) ग्यारहवें में (इन्द्रः) बिजुली और (द्वादशे) बारहवें दिन (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य उत्तम गुण प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जब ये जीव शरीर को छोड़ते हैं तब सूर्य प्रकाश आदि पदार्थों को प्राप्त होकर कुछ काल भ्रमण कर अपने कर्मों के अनुकूल गर्भाशय को

प्राप्त हो शरीर धारण कर उत्पन्न होते हैं तभी पुण्य पाप कर्म से सुखदुःखरूप फलों को भोगते हैं ॥ ६ ॥

उग्रश्चेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । मरुतो देवता । भुरिग्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः के जीवाः किंगुणाः सन्तीत्याह ॥

फिर कौन जीव किस गुण वाले हैं इस वि० ॥

उ॒ग्रश्च॑ भी॒मश्च॒ ध्वान्तश्च॒ धुनि॑श्च । सा॒स॒ह्वाँश्चा॑भियु॒ग्वा च॑ वि॒क्षिपः॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

उ॒ग्रः । च॒ । भी॒मः । च॒ । ध्वान्त॒ इति॑ धुऽआन्तः । च॒ । धुनिः॑ । च॒ । सा॒स॒ह्वान् । स॒स॒ह्वानिति॑ ससह्वान् । च॒ । अ॒भि॒ऽयु॒ग्वेत्य॑भि युग्वा । च॒ । वि॒क्षि॒प॒ इति॑ वि॒ऽक्षिपः॑ । स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(उग्रः) तीव्रस्वभावः (च) शान्तः (भीमः) बिभेति यस्मात्स भयंकरः (च) निर्भयः (ध्वान्तः) ध्वान्तमन्धकारं प्राप्तः (च) प्रकाशं गतः (धुनिः) कम्पमानः (च) निष्कम्पः (सासह्वान्) भृशं सहमानः (च) असहमानो वा (अभियुग्वा) योऽभितो युङ्क्ते स च वियुक्तः (विक्षिपः) यो विक्षिपति विक्षेपं प्राप्नोति सः (स्वाहा) स्वकीयया क्रियया ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! मरणं प्राप्तो जीवः स्वाहोग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपो जायते ॥ ७ ॥

भावार्थः-हे मनुष्या ! ये जीवाः पापाचरणास्त उग्रा ये धर्माचरणास्ते शान्ता ये भयप्रदास्ते भीमा ये भयं प्राप्तास्ते भीता येऽभयप्रदास्ते निर्भया येऽविद्यायुक्तास्तेऽन्धकारावृता ये विद्वांसो योगिनस्ते प्रकाशयुक्ता येऽजितेन्द्रियास्ते चञ्चला ये जितेन्द्रियास्तेऽचञ्चलाः स्वस्वकर्मफलानि सहमानाः संयुक्ता विक्षेपं प्राप्ताः सन्तोऽत्र जगति नित्यं भ्रमन्तीति विजानीत ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! मरण को प्राप्त हुआ जीव (स्वाहा) अपने कर्म से (उग्रः) तीव्र स्वभाव वाला (च) शान्त (भीमः) भयकारी (च) निर्भय (ध्वान्तः) अन्धकार को प्राप्त (च) प्रकाश को प्राप्त (धुनिः) कांपता (च) निष्कम्प (सासह्वान्) शीघ्र सहनशील (च) न सहने वाला (अभियुग्वा) सब ओर से नियमधारी (च) सब से अलग और (विक्षिपः) विक्षेप को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो जीव पापाचरणी हैं वे कठोर जो धर्मात्मा हैं वे शान्त जो भय देने वाले वे भीम शब्द वाच्य जो भय को प्राप्त हैं वे भीत शब्द वाच्य जो अभय देने वाले हैं वे निर्भय जो अविद्यायुक्त हैं वे अन्धकार से ढंपे जो विद्वान् योगी हैं वे प्रकाशयुक्त। जो जितेन्द्रिय नहीं हैं वे चंचल जो जितेन्द्रिय हैं वे चंचलता रहित अपने २ कर्म फलों को सहते भोगते संयुक्त विक्षेप को प्राप्त हुए इस जगत में नित्य भ्रमण करते हैं ऐसा जानो ॥ ७ ॥

अग्निमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। अग्न्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः। निचृदत्यष्टिश्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

के जना उभयजन्मनोः सुखमाप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य दोनों जन्म में सुख पाते हैं इस वि० ॥

अ॒ग्निꣳ हृद॑येना॒शनिꣳ॑ हृदया॒ग्रेण॑ पशु॒पतिं॑ कृत्स्न॒हृद॑येन भ॒वं य॒क्ना। श॒र्वं मत॑स्नाभ्या॒मीशा॑नं म॒न्युना॑ महादे॒वम॑न्तःपर्श॒व्येनो॒ग्रं दे॒वं व॑नि॒ष्ठुना॑ वसिष्ठह॒नुः शि॒ङ्गीनि॑ को॒श्याभ्या॑म् ॥ ८ ॥

अग्निम् । हृदयेन । अशनिम् । हृदयाग्रेणेति हृदयऽअग्रेण । पशुपतिमिति पशुऽपतिम् । कृत्स्नहृदयेनेति कृत्स्नऽहृदयेन । भवम् । यक्ना । शर्वम् । मतस्नाभ्याम् । ईशानम् । मन्युना । महादेवमिति महाऽदेवम् । अन्तःपर्शव्येनेत्यन्तःऽपर्शव्येन । उग्रम् । देवम् । वनिष्ठुना । वसिष्ठहनुरिति वसिष्ठऽहनुः । शिङ्गीनि । कोश्याभ्याम् ॥८॥

पदार्थः—(अग्निम्) पावकम् (हृदयेन) हृदयावयवेन (अशनिम्) विद्युतम् (हृदयाग्रेण) हृदयस्य पुरोभागेन (पशुपतिम्) पशूनां पालकं जगद्धर्त्तारं रुद्रं सर्वप्राणम् (कृत्स्नहृदयेन) संपूर्ण हृदयावयवेन (भवम्) यस्सर्वत्र भवति तम् (यक्ना) यकृताशरीराऽवयवेन (शर्वम्) विज्ञातारम् (मतस्नाभ्याम्) (हृदयपार्श्वाऽवयवाभ्याम्) (ईशानम्) सर्वस्य जगतः स्वामिनम् (मन्युना) दुष्टाचारिणः पापं च प्रति वर्त्तमानेन क्रोधेन (महादेवम्) महांश्चासौ देवश्च तं परमात्मानं (अन्तःपर्शव्येन) अन्तःपार्श्वावयवभावेन (उग्रम्) तीक्ष्णस्वभावम् (देवम्) देदीप्यमानम् (वनिष्ठुना) आंत्रविशेषेण (वसिष्ठहनुः) वसिष्ठस्यातिशयेन वासहेतोर्हनुरिव हनुर्यस्य तम् । अत्र सुपां सुलुगित्यमः स्थाने सुः (शिङ्गीनि) ज्ञातुं प्राप्तुम् योग्यानि ॥ अत्र श्रिगिधातोः पृषोदरादिनाभीष्टरूपसिद्धिः (कोश्याभ्याम्) कोशे उदरेभवाभ्यां मांसपिण्डाभ्याम् ॥ ८ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या! ये ते मृता जीवा हृदयेनाग्निं हृदयाग्रेणाशनिं कृत्स्नहृदयेन पशुपतिं यक्ना भवं मतस्नाभ्यां शर्वं मन्युनेशानमन्तःपर्शव्येन महादेवमुग्रं देवं वनिष्ठुना वसिष्ठहनुः कोश्याभ्यां शिङ्गीनि प्राप्नुवन्तीति यूयं विजानीत॥८॥

भावार्थः-ये मनुष्याः सर्वाङ्गैर्धर्माचरणं विद्याग्रहणं सत्सङ्गं जगदीश्वरोपासनं च कुर्वन्ति ते वर्त्तमानभविष्यतोर्जन्मनोः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति ॥८॥

पदार्थः-हे मनुष्यो! जो वे मरे हुए जीव (हृदयेन) हृदय रूप अवयव से (अग्निम्) अग्नि को (हृदयाग्रेण) हृदय के ऊपरले भाग से (अशनिम्) विजुली को (कृत्स्नहृदयेन) संपूर्ण हृदय के अवयवों से (पशुपतिम्) पशुओं के रक्षक जगत् धारण कर्त्ता सब के जीवन हेतु परमेश्वर को (यक्ना) यकृत् रूप शरीर के अवयव से (भवम्) सर्वत्र होने वाले ईश्वर को (मतस्नाभ्याम्) हृदय के इधर उधर के अवयवों से (शर्वम्) विज्ञानयुक्त ईश्वर को (मन्युना) दुष्टाचारी और पाप के प्रति वर्त्तमान क्रोध से (ईशानम्) सब जगत् के स्वामी ईश्वर को (अन्तःपर्शव्येन) भीतरली पसुरियों के अवयवों में हुए विज्ञान से (महादेवम्) महादेव (उग्रम्, देवम्) तीक्ष्ण स्वभाव वाले प्रकाशमान ईश्वर को (वनिष्ठुना) आंत विशेष से (वसिष्ठहनुः) अत्यन्त वास के हेतु राजा के तुल्य ठोडी वाले जन को (कोश्याभ्याम्) पेट में हुए दो मांस पिंडों से (शिङ्गीनि) जानने वा प्राप्त होने योग्य वस्तुओं को प्राप्त होते हैं ऐसा तुम लोग जानो ॥ ८ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य शरीर के सब अंगों से धर्माचरण विद्याग्रहण सत्संग और जगदीश्वर की उपासना करते हैं वे वर्त्तमान और भविष्यत् जन्मों में सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

उग्रमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। उग्रादयो लिङ्गोक्ता देवताः। भुरिगष्टिश्छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

मनुष्याः कथमुग्रस्वभावादीन् प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

मनुष्य लोग कैसे उग्रस्वभाव आदि को प्राप्त होते हैं इस वि० ॥

उग्रं लोहितेन मित्रꣳ सौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान्प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यꣳ रुद्रस्यान्तःपार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ॥ ९ ॥

उग्रम्। लोहितेन। मित्रम्। सौव्रत्येन। रुद्रम्। दौर्व्रत्येनेति दौःऽव्रत्येन। इन्द्रम्। प्रक्रीडेनेति प्रऽक्रीडेन। मरुतः। बलेन। साध्यान्। प्रमुदेति प्रऽमुदा। भवस्य। कण्ठ्यम्। रुद्रस्य। अन्तःपार्श्व्यमित्यन्तःऽपार्श्व्यम्। महादेवस्येति महाऽदेवस्य। यकृत्। शर्वस्य। वनिष्ठुः। पशुपतेरिति पशुऽपतेः। पुरीतत्। पुरितदिति पुरिऽतत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(उग्रम्) तीव्रं गुणम् (लोहितेन) शुद्धेन रक्तेन (मित्रम्) प्राणमिव सखायम् (सौव्रत्येन) श्रेष्ठेन कर्मणा (इन्द्रम्) परमैश्वर्यं विद्युतं वा (रुद्रम्) रोदयितारम् (दौर्व्रत्येन) दुष्टाचारेण (प्रक्रीडेन) (मरुतः) उत्तमान् मनुष्यान् (बलेन) (साध्यान्) साद्धुं योग्यान् (प्रमुदा) प्रकृष्टेन हर्षेण (भवस्य) यः प्रशंसितो भवति तस्य (कण्ठ्यम्) कण्ठे भवं स्वरम् (रुद्रस्य)

दुष्टानां रोदयितुः (अन्तः पार्श्व्यम्) अन्तः पार्श्वे भ-वम् (महादेवस्य) महतो विदुषः (यकृत्) हृदयस्थो रोहितः पिण्डः (शर्वस्य) सुखप्रापकस्य (वनिष्ठुः) आन्त्रविशेषः । अत्र सुपांसुलुगित्यमः स्थाने सुरादेशः (पशुपतेः) (पुरीतत्) हृदयस्य नाडी ॥ ९ ॥

अन्वयः-हे मनुष्या ! गर्भाशयस्था जीवा बाह्या वा लोहितेनोग्रं सौव्रत्येन मित्रं दौर्व्रत्येन रुद्रं प्रक्रीडेनेन्द्रं बलेन मरुतः प्रमुदा साध्यान् भवस्य कण्ठ्यं रुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् प्राप्नुवन्ति ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथा देहिनो रुधिरादिभ्यस्तेजआदिस्वभावादीन् प्राप्नुवन्ति तथा गर्भाशयेऽपि लभन्ते ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! गर्भाशय में स्थित वा बाहर रहने वाले जीव (लोहितेन) शुद्धरुधिर से (उग्रम्) तीव्र गुण (सौव्रत्येन) श्रेष्ठ कर्म से (मित्रम्) प्राण के तुल्य प्रिय (दौर्व्रत्येन) दुष्टाचरण से (रुद्रम्) रुलाने हारे (प्रक्रीडेन) (इन्द्रम्) उत्तम क्रीड़ा से परम ऐश्वर्य्य वा बिजुली (बलेन) बल से (मरुतः) उत्तम मनुष्यों को (प्रमुदा) उत्तम आनन्द से (साध्यान्) साधने योग्य पदार्थों को (भवस्य) प्रशंसा को प्राप्त होने वाले के (कण्ठ्यम्) कण्ठ में हुए स्वर (रुद्रस्य) दुष्टों को रुलाने हारे जन को (अन्तः पार्श्व्यम्) भीतर पसुरी में हुए (महादेवस्य) महादेव विद्वान् के (यकृत्) हृदय में स्थित लालपिण्ड (सर्वस्य) सुख प्रापक मनुष्य का (वनिष्ठुः) आंत विशेष (पशुपतेः) पशुओं के रक्षक पुरुष के (पुरीतत्) हृदय की नाडी को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जैसे देहधारी रुधिर आदि से तेजस्वी स्वभाव आदि को प्राप्त होते हैं वैसे ही गर्भाशय में भी प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

लोमभ्य इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता ।

आकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्भस्मान्तं शरीरं मन्त्रैर्दाह्यमित्याह ॥
मनुष्यों को भस्म होने तक शरीर का मन्त्रों से दाह करना चाहिये इस वि० ॥

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥ १० ॥

लोमभ्य इति लोमऽभ्यः। स्वाहा। लोमभ्य इति लोमऽभ्यः। स्वाहा। त्वचे। स्वाहा। त्वचे। स्वाहा। लोहिताय। स्वाहा। लोहिताय। स्वाहा। मेदोभ्य इति मेदःऽभ्यः। स्वाहा। मेदोभ्य इति मेदःऽभ्यः। स्वाहा। माꣳसेभ्यः। स्वाहा। माꣳसेभ्यः। स्वाहा। स्नावभ्य इति स्नावऽभ्यः। स्वाहा। स्नावभ्य इति स्नावऽभ्यः। स्वाहा। अस्थभ्य इत्यस्थऽभ्यः। स्वाहा। अस्थभ्य इत्यस्थऽभ्यः स्वाहा। मज्जभ्य इति मज्जऽभ्यः। स्वाहा। मज्जभ्य इति मज्जऽभ्यः। स्वाहा। रेतसे। स्वाहा। पायवे। स्वाहा॥१०॥

पदार्थः—(लोमभ्यः) त्वगुपरिस्थेभ्यो बालेभ्यः (स्वाहा) (लोमभ्यः) नखादिभ्यः (स्वाहा) (त्वचे) शरीरावरणदाहाय (स्वाहा) (त्वचे) तदन्तरावरणदाहाय (स्वाहा) (लोहिताय) रक्ताय (स्वाहा) (लोहिताय) हृदयस्थाय लोहितपिण्डाय (स्वाहा) (मेदोभ्यः) स्निग्धेभ्यो धातुविशेषेभ्यः (स्वाहा) (मेदोभ्यः) सर्वशरीरावयवार्द्रीकरेभ्यः (स्वाहा) (मांसेभ्यः) बहिःस्थेभ्यः (स्वाहा) (मांसेभ्यः) शरीरान्तर्गतेभ्यः (स्वाहा) (स्नावभ्यः) स्थूलनाडीभ्यः (स्वाहा) (स्नावभ्यः) सूक्ष्माभ्यः सिराभ्यः (स्वाहा) (अस्थभ्यः) शरीरस्थकठिनावयवेभ्यः (स्वाहा) (अस्थभ्यः) सूक्ष्मावयवाऽस्थिरूपेभ्यः (स्वाहा) (मज्जभ्यः) अस्थ्यन्तर्गतेभ्यो धातुभ्यः (स्वाहा) (मज्जभ्यः) तदन्तर्गतेभ्यः (स्वाहा) (रेतसे) वीर्य्याय (स्वाहा) (पायवे) गुह्यावयवदाहाय (स्वाहा) ॥ १० ॥

अन्वयः—मनुष्यैः मृतक्रियायां घृतादेर्लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा सततं प्रयोज्या ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यावल्लोमान्यारभ्य वीर्यपर्यन्तस्य तच्छरीरस्य भस्म न स्यात्तावद् घृतेन्धनानि प्रक्षिपत ॥ १० ॥

पदार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि दाहकर्म में घी आदि से (लोमभ्यः) त्वचा के ऊपरले बालों के लिये (स्वाहा) इस शब्द का (लोमभ्यः) नख आदि के लिये (स्वाहा) (त्वचे) शरीर की त्वचा जलाने को (स्वाहा) (त्वचे) भीतरली त्वचा जलाने के लिये (स्वाहा) (लोहिताय) रुधिर जलाने को (स्वाहा) (लोहिताय) हृदयस्थ रुधिर पिण्ड के जलाने को (स्वाहा (मेदोभ्यः) चिकने धातुओं के जलाने को (स्वाहा) (मेदोभ्यः) सब शरीर के अवयवों को आर्द्र करने वाले भागों के जलाने को (स्वाहा) (मांसेभ्यः) बाहरले मांसों के जलाने को (स्वाहा) (मांसेभ्यः) भीतरले मांसों के जलाने के लिये (स्वाहा) (स्नावभ्यः) स्थूल नाड़ियों के जलाने को (स्वाहा) (स्नावभ्यः) सूक्ष्म नाड़ियों के जलाने को (स्वाहा) (अस्थभ्यः) शरीरस्थ कठिन अवयवों के जलाने के लिये (स्वाहा) (अस्थभ्यः) सूक्ष्म अस्थिरूप अवयवों के जलाने को (स्वाहा) (मज्जभ्यः) हाड़ों के भीतर के धातुओं के लिये (स्वाहा) (मज्जभ्यः) उसके अन्तर्गत भाग के जलाने को (स्वाहा) (रेतसे) वीर्य के जलाने को (स्वाहा) और (पायवे) गुदारूप अवयव के दाह के लिये (स्वाहा) इस शब्द का निरन्तर प्रयोग करें ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जब तक लोम से लेकर वीर्य्य पर्यन्त उस मृत शरीर की भस्म न हो तब तक घी और ईन्धन डाला करो ॥ १० ॥

आयासायेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैर्जन्मान्तरे सुखार्थं किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को जन्मान्तर में सुख के लिये क्या कर्त्तव्य है इस वि० ॥

आ॒या॒साय॒ स्वाहा॑ प्राया॒साय॒ स्वाहा॑ संया॒साय॒ स्वाहा॑ विया॒साय॒ स्वाहो॑द्या॒साय॒ स्वाहा॑ । शु॒चे स्वाहा॒ शोच॑ते॒ स्वाहा॒ शोच॑मानाय॒ स्वाहा॒ शोका॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ११ ॥

आयासायेत्याऽयासाय। स्वाहा। प्रायासाय। प्रऽआसायेति प्रऽयासाय। स्वाहा। संयासायेति सम्ऽयासाय। स्वाहा। वियासायेति विऽयासाय। स्वाहा। उद्यासायेत्युत्ऽयासाय। स्वाहा। शुचे। स्वाहा। शोचते। स्वाहा। शोचमानाय। स्वाहा। शोकाय। स्वाहा ॥११॥

पदार्थः—(आयासाय) समन्तात्प्रापणाय (स्वाहा) (प्रायासाय) प्रयाणाय (स्वाहा) (संयासाय) सम्यग्गमनाय (स्वाहा) (वियासाय) विविधप्राप्तये (स्वाहा) (उद्यासाय) ऊर्ध्वं गमनाय (स्वाहा) (शुचे) पवित्राय (स्वाहा) शोचते) शुद्धिकर्त्रे (स्वाहा) (शोचमानाय) विचारप्रकाशाय (स्वाहा) (शोकाय) शोचन्ति यस्मिँस्तस्मै (स्वाहा) ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या! यूयमायासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थादिसिद्धये सत्या वाग् मतिः क्रिया चानुष्ठेया येन देहान्तरे जन्मान्तरे च मङ्गलं स्यात् ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग (आयासाय) अच्छे प्रकार प्राप्त होने को (स्वाहा) इस शब्द का (प्रायासाय) जाने के लिये (स्वाहा) (संयासाय) सम्यक् चलने के लिये (स्वाहा) (वियासाय) विविध प्रकार वस्तुओं की प्राप्ति को (स्वाहा) (उद्यासाय) ऊपर को जाने के लिये (स्वाहा) (शुचे) पवित्र के लिये (स्वाहा) (शोचते) शुद्धि करने वाले के लिये (स्वाहा) (शोचमानाय) विचार के प्रकाश के लिये

(स्वाहा) और (शोकाय) जिस में शोक करते हैं उस के लिये (स्वाहा) इस शब्द का प्रयोग करो ॥ ११ ॥

भावार्थः–मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ सिद्धि के लिये सत्य वाणी बुद्धि और क्रिया का अनुष्ठान करें जिस से देहान्तर और जन्मान्तर में मंगल हो ॥ ११ ॥

तपस इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः कैःसाधनैः सुखं प्राप्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को किन साधनों से सुख प्राप्त करना चाहिये इस वि० ॥

तप॑से स्वाहा तप्य॑ते स्वाहा॑ तप्य॑मानाय स्वाहा॑ तप्ताय॒ स्वाहा॑ घर्माय॒ स्वाहा॑ । निष्कृ॑त्यै स्वाहा॒ प्राय॑श्चित्यै स्वाहा॑ भेषजाय॒ स्वाहा॑ ॥ १२ ॥

तप॑से । स्वाहा॑ । तप्य॑ते । स्वाहा॑ । तप्य॑मानाय । स्वाहा॑ । तप्ताय॑ । स्वाहा॑ । घर्माय॑ । स्वाहा॑ । निष्कृ॑त्यै । निःकृ॑त्या॒ऽइति॒ निःऽकृ॑त्यै । स्वाहा॑ । प्राय॑श्चित्यै । स्वाहा॑ । भे॒षजाय॑ । स्वाहा॑ ॥ १२ ॥

पदार्थः–(तपसे) प्रतापाय (स्वाहा) (तप्यते) यस्तापं प्राप्नोति तस्मै (स्वाहा) (तप्यमानाय) प्राप्ततापाय (स्वाहा) (तप्ताय) (स्वाहा) (घर्माय) दिनाय (स्वाहा) (निष्कृत्यै) निवारणाय (स्वाहा) (प्रायश्चित्यै) पापनिवारणाय (स्वाहा) (भेषजाय) सुखाय भेषजमिति सुखना० निघं० ३।६ (स्वाहा) ॥ १२ ॥

अन्वयः—मनुष्यैस्तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा च निरन्तरं प्रयोक्तव्या ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्राणायामादिसाधनैः सर्वं किल्विषं निवार्य्य सुखं प्राप्तव्यं प्रापयितव्यं च ॥ १२ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को चाहिये (तपसे) प्रताप के लिये (स्वाहा) (तप्यते) संताप को प्राप्त होने वाले के लिये (स्वाहा) (तप्यमानाय) ताप गर्मी को प्राप्त होने वाले के लिये (स्वाहा) (तप्ताय) तपे हुए के लिये (स्वाहा) (घर्माय)दिन के होने को (स्वाहा) (निष्कृत्यै) निवारण के लिये (स्वाहा) (प्रायश्चित्यै) पापनिवृत्ति के लिये (स्वाहा) और (भेषजाय) सुख के लिये (स्वाहा) इस शब्द का निरन्तर प्रयोग करें ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि प्राणायाम आदि साधनों से सब किल्विष का निवारण कर के सुख को स्वयं प्राप्त हों और दूसरों को प्राप्त करावें ॥ १२॥

यमायेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ १३ ॥

य॒मायं। स्वाहां। अन्तंकाय। स्वाहां। मृत्यवें। स्वाहां। ब्रह्मंणे। स्वाहां। ब्र॒ह्म॒ह॒त्याया॒ऽइति॑ ब्रह्मह॒त्यायै॑। स्वाहां। विश्वे॑भ्यः। दे॒वेभ्यः। स्वाहां। द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म्। स्वाहां ॥१३॥

पदार्थः—(यमाय) नियन्त्रे न्यायाधीशाय वायवे वा (स्वाहा) (अन्तकाय) नाशकाय कालाय (स्वाहा) (मृत्यवे) प्राणत्यागकारिणे समयाय (स्वाहा) (ब्रह्मणे) बृहत्तमाय परमात्मने ब्रह्मविदुषे वा (स्वाहा) (ब्रह्महत्यायै) ब्रह्मणो वेदस्येश्वरस्य विदुषो वा हनननिवारणाय (स्वाहा) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिवेभ्यो जलादिभ्यो वा (स्वाहा) (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्यभूमिशोधनाय (स्वाहा) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा च प्रयुङ्ध्वम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या न्यायव्यवस्थां पालयित्वाऽल्पमृत्युं विनिवार्येश्वरविदुषः संसेव्य ब्रह्महत्यादिदोषान्निवार्य्य सृष्टिविद्यां विदित्वाऽन्त्येष्टिं विदधति ते सर्वेषां मङ्गलप्रदा भवन्ति सर्वदैवं मृतकशरीरं दग्ध्वा सर्वेषां सुखमुन्नेयमिति ॥ १३ ॥

अत्राऽन्त्येष्टिकर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेदितव्यम् ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (यमाय) नियन्ता न्यायाधीश वा वायु के लिये (स्वाहा) इस शब्द का (अन्तकाय) नाशकर्त्ता काल के लिये (स्वाहा)

(मृत्यवे) प्राणत्याग कराने वाले समय के लिये (स्वाहा) (ब्रह्मणे) बृहत्तम अति बड़े परमात्मा के लिये वा ब्राह्मण विद्वान् के लिये (स्वाहा) (ब्रह्महत्यायै) ब्रह्म वेद वा ईश्वर वा विद्वान् की हत्या के निवारण के लिये (स्वाहा) (विश्वेभ्यः) सब (देवेभ्यः) दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों वा जलादि के लिये (स्वाहा) और (द्यावापृथिवीभ्याम्) और सूर्य्य भूमि के शोधने के लिये (स्वाहा) इस शब्द का प्रयोग करो ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य न्यायव्यवस्था का पालन कर अल्पमृत्यु को निवारण कर ईश्वर और विद्वानों का सेवन कर ब्रह्महत्यादि दोषों को छुड़ा के सृष्टि विद्या को जान के अन्त्येष्टि कर्म विधि करते हैं वे सब के मंगल देने वाले होते हैं सब काल में इस प्रकार मृतक शरीर को जलाके सब सुख की उन्नति करनी चाहिये ॥ १३ ॥

इस अध्याय में अन्त्येष्टि कर्म का वर्णन होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति है ऐसा जानना चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते यजुर्वेदभाष्ये संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः पूर्त्तिमगमत् ॥
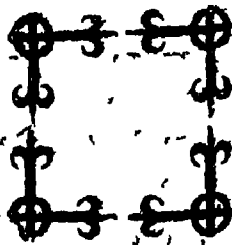
ओ३म्

अथ चत्वारिंशाऽध्यायारम्भः ॥

—०-:०*०:-०—

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

ईशावास्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किं कुर्युरित्याह ॥

अब चालीसवें अध्याय का आरम्भ है इस के प्रथम मंत्र में
मनुष्य ईश्वर को जानके क्या करें इस वि० ॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईशा । वास्यम् । इदम् । सर्वम् । यत् । किम् । च । जगत्याम् । जगत् । तेन । त्यक्तेन । भुञ्जीथाः । मा । गृधः । कस्य । स्वित् । धनम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(ईशा) ईश्वरेण सकलैश्वर्य्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना (वास्यम्) आच्छादयितुं योग्यं सर्वतोऽभिव्याप्यम् (इदम्) प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तरम् (सर्वम्) अखिलम् (यत्) (किम्) (च) (जगत्याम्) गम्यमानायां सृष्टौ (जगत्) यद्गच्छति तत् (तेन) (त्यक्तेन) वर्जितेन तच्चित्तरहितेन (भुञ्जीथाः) भोगमनु-

भवेः (मा) निषेधे (गृधः) अभिकांक्षीः (कस्य) (स्वित्) कस्यापि स्विदि प्रश्ने वा (धनम्) वस्तुमात्रम्॥ १ ॥

अन्वयः- हे मनुष्य ! त्वं यदिदं सर्वं जगत्यां जगदीशाऽऽवास्यमस्ति तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः किञ्च कस्य स्विद्धनं मा गृधः ॥ १ ॥

भावार्थः-ये मनुष्या ईश्वराद्बिभ्यत्ययमस्मान्सर्वदा सर्वतः पश्यति जगदिदमीश्वरेण व्याप्तं सर्वत्रेश्वरोऽस्तीति व्यापकमन्तर्यामिणं निश्चित्य कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुस्ते धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) प्राप्त होने योग्य सृष्टि में (जगत) चरप्राणीमात्र (ईशा) संपूर्ण ऐश्वर्य से युक्त सर्वशक्तिमान् परमात्मा से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् सब ओर से व्याप्त होने योग्य है (तेन) उस (त्यक्तेन) त्याग किये हुए जगत् से (भुञ्जीथाः) पदार्थों के भोगने का अनुभव कर किन्तु (कस्य, स्वित्) किसी के भी (धनम्) वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सदा सब ओर से देखता है यह जगत् ईश्वर से व्याप्त और सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है इस प्रकार व्यापक अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके भी अन्याय के आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं किया चाहते वे धर्मात्मा होकर इस लोक के सुख और परलोक में मुक्तिरूप सुख को प्राप्त कर के सदा आनन्द में रहें ॥ १ ॥

कुर्वन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते ।

अब वेदोक्त कर्म की उत्तमता अ० ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कुर्वन् । एव । इह । कर्माणि । जिजीविषेत् । शतम् । समाः । एवम् । त्वयि । न । अन्यथा । इतः । अस्ति । न । कर्म । लिप्यते । नरे ॥ २ ॥

पदार्थः—(कुर्वन्) (एव) (इह) अस्मिन् संसारे (कर्माणि) धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि (जिजीविषेत्) जीवितुमिच्छेत् (शतम्) (समाः) संवत्सरान् (एवम्) अमुना प्रकारेण (त्वयि) (न) निषेधे (अन्यथा) (इतः) अस्मात् प्रकारात् (अस्ति) भवति (न) निषेधे (कर्म) अधर्म्यमवैदिकं मनोर्थसम्बन्धिकर्म (लिप्यते) (नरे) नयनकर्त्तरि ॥ २ ॥

अन्वयः—मनुष्य इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समा जिजीविषेदेवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे न कर्म लिप्यते इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभावः ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्त्तुमर्हां तदाज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीयाल्पमृत्युं

ग्न्तु युक्ताहारविहारेण शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु । यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धिर्निवर्त्तते विद्यायुः सुशीलता च वर्द्धते ॥ २ ॥

पदार्थः—मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे (एवम्) इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवर्त्तमान (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों को चलाने हारे जीवन के इच्छुक होते हुए (कर्म) अधर्मयुक्त अवैदिक काम्य कर्म (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता (इतः) इस से जो और प्रकार से (न, अस्ति) कर्म लगाने का अभाव नहीं होता है ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य आलस्य को छोड़ के सब देखने हारे न्यायाधीश परमात्मा और करने योग्य उस की आज्ञा को मानकर शुभ कर्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य के सेवनसे विद्या और अच्छी शिक्षा को पाकर उपस्थ इन्द्रिय के रोकने से पराक्रम को बढ़ाकर अल्पमृत्यु को हटावें, युक्त आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें। जैसे २ मनुष्य सुकर्मों में चेष्टा करते हैं वैसे २ ही पाप कर्म से बुद्धि की निवृत्ति होती और विद्या, अवस्था और सुशीलता बढ़ती है ॥ २ ॥

असुर्या इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह ॥

अब आत्मा के हननकर्त्ता अर्थात् आत्मा को भूले हुए जन कैसे होते हैं इस वि० ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

असुर्य्याः । नाम । ते । लोकाः । अन्धेन । तमसा । आवृता इत्याऽवृताः । तान् । ते । प्रेत्येति प्रऽइत्य । अपि । गच्छन्ति । ये । के । च । आत्महन इत्यात्मऽहनः । जनाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(असुर्य्याः) असुराणां प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) (लोकाः) लोकन्ते पश्यन्ति ते जनाः (अन्धेन) अन्धकाररूपेण (तमसा) अत्यावरकेण (आवृताः) समन्ताद्युक्ता आच्छादिताः (तान्) दुःखान्धकारावृतान् भोगान् (ते) (प्रेत्य) मरणं प्राप्य (अपि) जीवन्तोपि (गच्छन्ति) प्राप्नुवन्ति (ये) (के) (च) (आत्महनः) य आत्मानं घ्नन्ति तद्विरुद्धमाचरन्ति ते (जनाः) मनुष्याः ॥ ३ ॥

अन्वयः—ये लोका अन्धेन तमसा वृता ये के चात्महनो जनाः सन्ति तेऽसुर्य्या नाम ते प्रेत्यापि तान् गच्छन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थः—त एव असुरा दैत्या राक्षसाः पिशाचा दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरन्ति तेन कदाचिद् विद्यादुःखसागरादुत्तीर्य्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा यद्वाचा तत्कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति त एव देवा आर्य्याः सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत्पवित्रयन्त इहामुत्रातुलं सुखमश्नुवते ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो (लोकाः) देखने वाले लोग (अन्धेन) अन्धकाररूप (तमसा) ज्ञान का आवरण करनेहारे अज्ञान से (आवृताः) सब ओर से ढंपे हुए (च) और (ये) जो (के) कोई (आत्महनः)आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे (असुर्य्याः)

अपने प्राण पोषण में तत्पर अविद्यादि दोषयुक्त लोगों के सम्बन्धी उनके पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध में होते हैं (ते) (वे) (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख और अज्ञानरूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस तथा पिशाच आदि हैं जो आत्मा में और जानते वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं वे कभी अविद्यारूप दुःख सागर से पार हो आनन्द को नहीं प्राप्त हो सकते। और जो आत्मा मन वाणी और कर्म से निष्कपट एकसा आचरण करते हैं वे ही देव आर्य सौभाग्यवान् सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

अनेजदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्रह्म देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात्करोतीत्याह ॥
कैसा जन ईश्वर को साक्षात् करता है इस वि० ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

अनेजत् । एकम् । मनसः । जवीयः । न । एनत् । देवाः । आप्नुवन् । पूर्वम् । अर्षत् । तत् । धावतः । अन्यान् । अति । एति । तिष्ठत् । तस्मिन् । अपः । मातरिश्वा । दधाति ॥ ४ ॥

पदार्थः--(अनेजत्) न एजते कम्पते तदचलत् स्वावस्थायाश्च्युतिः कंपनं तद्रहितम् (एकम्) अद्वितीयं ब्रह्म (मनसः) मनोवेगात् (जवीयः) अतिशयेन वेगवत् (न) (एनत्) (देवाः) चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा (आप्नुवन्) प्राप्नुवन्ति (पूर्वम्) पुरः सरं पूर्णं (अर्षत्) गच्छत् (धावतः) विषयान् प्रति पततः (अन्यान्) स्वस्वरूपाद्विलक्षणान्मनोवागिन्द्रियादीन् (अति) उल्लंघने (एति) प्राप्नोति गच्छति (तिष्ठत्) स्वस्वरूपेण स्थिरं सत् (तस्मिन्) सर्वत्राऽभिव्याप्ते (अपः) कर्म क्रियां वा (मातरिश्वा) मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान्धरति वायुस्तद्वद्वर्त्तमानो जीवः (दधाति) ॥ ४ ॥

अन्वयः--हे विद्वांसो मनुष्या यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्षद्ब्रह्माऽस्त्येनद्देवा नाप्नुवँस्तत्स्वयं तिष्ठत्सत्स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यानत्येति तस्मिन्स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिव जीवोऽपो दधातीति विजानीत ॥ ४ ॥

भावार्थः--ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद्यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र पुरस्तादेवाऽभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्त्तते तद्विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते चक्षुरादिभिरविद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति स्वयं निश्चलं सत्सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च तस्यातिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद्धार्मिकस्य विदुषो योगिनएव साक्षात्कारो भवति नेतरस्य ॥ ४ ॥

पदार्थः--हे विद्वान् मनुष्यो ! जो (एकम्) अद्वितीय (अनेजत्) नहीं कंपने वाला अर्थात् अचल अपनी अवस्था से हटना कंपन कहाता है उस से रहित (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान् (पूर्वम्) सब से

आगे (अर्षत्) चलता हुआ अर्थात् जहां कोई चलकर जावे वहां प्रथम ही सर्वत्र व्याप्ति से पहुंचता हुआ ब्रह्म है (एनत्) इस पूर्वोक्त ईश्वर को (देवाः) चक्षु आदि इन्द्रिय (न) नहीं (आप्नुवन्)प्राप्त होते (तत्) वह परब्रह्म अपने आप (तिष्ठत्) स्थिर हुआ अपनी अनन्तव्याप्ति से (धावतः) विषयों की ओर गिरते हुए (अन्यान्) आत्मा के स्वरूप से विलक्षण मन वाणी आदि इन्द्रियों का (अति, एति) उल्लंघन कर जाता है (तस्मिन्) उस सर्वत्र अभिव्याप्त ईश्वर की स्थिरता में (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में प्राणों को धारण करने हारे वायु के तुल्य जीव (अपः) कर्म वा क्रिया को (दधाति) धारण करता है यह जानो ॥ ४ ॥

भावार्थः—ब्रह्म के अनन्त होने से जहां २ मन जाता है वहां २ प्रथम से ही अभिव्याप्त पहिले से ही स्थिर ब्रह्म वर्त्तमान है उसका विज्ञान शुद्ध मन से होता है चक्षु आदि इन्द्रियों और अविद्वानों से देखने योग्य नहीं है । वह आप निश्चल हुआ सब जीवों को नियम से चलाता और धारण करता है । उसके अतिसूक्ष्म इन्द्रियगम्य न होने के कारण धर्मात्मा विद्वान् योगी को ही उसका साक्षात् ज्ञान होता है अन्य को नहीं ॥ ४ ॥

तदेजतीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।

निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्मदूरेऽस्तीत्याह ॥

विद्वानों के निकट और अविद्वानों के ब्रह्म दूर है इस वि० ॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत् । एजति । तत् । न । एजति । तत् । दूरे । तत् । ऊँऽइत्यूँ । अन्तिके । तत् । अन्तः । अस्य । सर्वस्य । तत् ऊँऽइत्यूँ । सर्वस्य । अस्य । बाह्यतः ॥५॥

पदार्थः—(तत्) (एजति) कम्पते चलति मूढदृष्ट्या (तत्) (न) (एजति) कम्पते कम्प्यते वा (तत्) (दूरे) अधर्मात्मभ्योऽविद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः (तत्) (उ) (अन्तिके) धर्मात्मनां विदुषां योगिनां समीपे (तत्) अन्तः आभ्यन्तरे (अस्य) (सर्वस्य) अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा (तत्) (उ) (सर्वस्य) समग्रस्य (अस्य) प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकस्य (बाह्यतः) बहिरपि वर्त्तमानः॥५॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तद्ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्यान्तस्तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतो वर्त्तत इति निश्चिनुत ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यास्तद्ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव तत्स्वतो व्यापकत्वात्कदाचिन्न चलति ये तदाज्ञा विरुद्धास्ते इतस्ततो धावन्तोपि तन्न विजानन्ति ये चेश्वराज्ञानुष्ठातारस्ते स्वात्मस्थमतिनिकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति यद्ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याऽभ्यन्तराऽवयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पापपुण्यात्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं प्रयच्छत्येतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (तत्) वह ब्रह्म (एजति) मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता (तत्) (न, एजति) अपने स्वरूप से न चलायमान और न चलाया जाता (तत्) वह (दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर अर्थात् क्रोड़ों वर्ष में भी नहीं प्राप्त होता (तत्) वह (उ) ही (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप (तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् वा जीवों के (अन्तः) भीतर (उ) और (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य) इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप जगत् के (बाह्यतः) बाहर भी वर्त्तमान है ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म मूढ़ की दृष्टि में कम्पता जैसा है वह आप व्यापक होने से कभी नहीं चलायमान होता जो जन उसकी आज्ञा से विरुद्ध हैं वे इधर उधर भागते हुए भी उसको नहीं जानते और जो ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करने वाले हैं वे अपने आत्मा में स्थित अतिनिकट ब्रह्म को प्राप्त होते हैं जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर भीतर अवयवों में अभिव्याप्त हो के अन्तर्यामिरूप से सब जीवों के सब पाप पुण्यरूप कर्मों को जानताहुआ यथार्थ फल देता है वही सब को ध्यान में रखना चाहिये और उसी से सब को डरना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्त्वित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर वि० ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यः । तु । सर्वाणि । भूतानि । आत्मन् । एव । अनुपश्यतीत्यनुऽपश्यति । सर्वभूतेष्विति सर्वऽभूतेषु । च । आत्मानम् । ततः । न । वि । चिकित्सति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यः) विद्वान् जनः (तु) पुनरर्थे (सर्वाणि) अखिलानि (भूतानि) प्राण्यप्राणिरूपाणि (आत्मन्) परमात्मनि (एव) (अनुपश्यति) विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते (सर्वभूतेषु) सर्वेषु प्रकृत्यादिषु (च) (आत्मानम्)

अतति सर्वत्र व्याप्नोति तम् (ततः) तदनन्तरम् (न) (वि) (चिकित्सति) संशयंप्राप्नोति ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! य आत्मन्नेव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीत ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! ये सर्वव्यापिनं न्यायकारिणं सर्वज्ञं सनातनं सर्वात्मानं सकलस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा सुखदुःखहानिलाभेषु स्वात्मवत्सर्वाणि भूतानि विज्ञाय धार्मिका जायन्ते तएव मोक्षमश्नुवते ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (यः) जो विद्वान् जन (आत्मन्) परमात्मा के भीतर (एव) ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी अप्राणियों को (अनु) (पश्यति) विद्या धर्म और योगाभ्यास करने पश्चात् ध्यान दृष्टि से देखता है (तु) और जो (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) आत्मा को (च) भी देखता है वह विद्वान् (ततः) तिस पीछे (न) नहीं (विचिकित्सति) संशय को प्राप्त होता ऐसा तुम जानो ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो लोग सर्वव्यापी न्यायकारी सर्वज्ञ सनातन सब के आत्मा अन्तर्यामी सब के द्रष्टा परमात्मा को जान कर सुख दुःख हानि लाभों में अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जानकर धार्मिक होते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ केऽविद्यादिदोषान् जहतीत्याह ॥

अब कौन अविद्यादि दोषों को त्यागते हैं इस वि० ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

यस्मिन् । सर्वाणि । भूतानि । आत्मा । एव । अभूत् । विजानतऽइति विऽजानतः । तत्र । कः । मोहः । कः । शोकः । एकत्वमित्येकऽत्वम् । अनुपश्यतऽ इत्यनुपश्यतः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा (सर्वाणि) (भूतानि) (आत्मा) आत्मवत् (एव) (अभूत्) भवन्ति। अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम् (विजानतः) विशेषेण समीक्षमाणस्य (तत्र) तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य (कः) (मोहः) मूढावस्था (कः) (शोकः) परितापः (एकत्वम्) परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् (अनुपश्यतः) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्मिन् परमात्मनि विजानतः सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् तत्रैकत्वमनुपश्यतो योगिनः को मोहोऽभूत्कः शोकश्च ॥ ७ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सह चरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद्विजानन्ति यथा स्वात्मनो हितमिच्छन्ति तथैव तेषु वर्त्तन्त एकमेवाऽद्वितीयं परमात्मानं शरणमुपागताः सन्ति तान् मोहशोकलोभादयो दोषाः कदाचिन्नाप्नुवन्ति ये च स्वात्मानं यथावद्विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो !(यस्मिन्)जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान वा धर्म में (विजानतः) विशेष कर ध्यान दृष्टि से देखते हुए को (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणीमात्र (आत्मा, एव) अपने तुल्य ही सुख दुःख वाले (अभूत्) होते हैं (तत्र) उस परमात्मा आदि में (एकत्वम्) अद्वितीय भाव को (अनु, पश्यतः) अनुकूल योगाभ्यास-

से साक्षात् देखते हुए योगि जन को (कः) कौन (मोहः) मूढावस्था और (कः) कौन (शोकः) शोक वा क्लेश होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं अर्थात् जैसे अपना हित चाहते वैसे ही अन्यों में भी वर्त्तते हैं । एक अद्वितीय परमेश्वर के शरण को प्राप्त होते हैं उनको मोह शोक और लोभादि कदाचित् प्राप्त नहीं होते । और जो लोग अपने आत्मा को यथावत् जान कर परमात्मा को जानते हैं वे सुखी सदा होते हैं ॥ ७ ॥

स पर्य्यगादित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । स्वराड्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः परमेश्वरः कीदृश इत्याह ॥

फिर परमेश्वर कैसा है इस वि० ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

सः । परि । अगात् । शुक्रम् । अकायम् । अव्रणम् । अस्नाविरम् । शुद्धम् । अपापविद्धमित्यपापऽविद्धम् । कविः । मनीषी । परिभूरिति परिऽभूः । स्वयम्भूरिति स्वयम्ऽभूः । याथातथ्यतऽइति याथाऽतथ्यतः । अर्थान् । वि । अदधात् । शाश्वतीभ्यः । समाभ्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(सः) परमात्मा (परि) सर्वतः (अगात्) व्याप्तोऽस्ति (शुक्रम्) आशुकरं सर्वशक्तिमत् (अकायम्) स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम् (अव्रणम्)

अच्छिद्रमच्छेद्यम् (अस्नाविरम्) नाड्यादिसम्बन्धबन्धरहितम् (शुद्धम्) अविद्यादिदोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् (अपापविद्धम्) यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् (कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता (परिभूः) यो दुष्टान् पापिनः परिभवति तिरस्करोति सः (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपो यस्य संयोगेनोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो मातापितरौ गर्भवासो जन्म वृद्धिक्षयौ च न विद्येते (याथातथ्यतः) यथार्थतया (अर्थान्) वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् (वि) विशेषेण (अदधात्) विधत्ते (शाश्वतीभ्यः) सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यद्ब्रह्म शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं पर्यगाद्यः कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यो याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्स एव युष्माभिरुपासनीयः ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यद्यनन्तशक्तिमदजं निरन्तरं सदामुक्तं न्यायकारि निर्मलं सर्वज्ञं सर्वस्य साक्षि नियन्तृ अनादिस्वरूपं ब्रह्म कल्पादौ जीवेभ्यः स्वोक्तैर्वेदैः शब्दार्थसम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत्तर्हि कोऽपि विद्वान्न भवेत् न च धर्मार्थकाममोक्षफलं भाप्तुं शक्नुयात् तस्मादिदमेव सदैवोपास्यम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित (अव्रणम्) छिद्ररहित और नहीं छेद करने योग्य (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित (शुद्धम्) अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (अपापविद्धम्) जो पापयुक्त पापकारी और पाप में प्रीति करने वाला कभी नहीं होता (परि, अगात्) सब ओर से

व्याप्त है जो (कविः) सर्वज्ञ (मनीषी) सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जानने वाला (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला और (स्वयम्भूः) अनादि-स्वरूप जिस की संयोग से उत्पत्ति वियोग से विनाश माता पिता गर्भवास जन्म वृद्धि और मरण नहीं होते वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादिस्वरूप अपने २ स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ भाव से (अर्थान्) वेद द्वारा सब पदार्थों को (व्यदधात्) विशेष कर बनाता है वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने के योग्य है ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अनन्त शक्ति युक्त अजन्मा निरन्तर सदामुक्त न्यायकारी निर्मल सर्वज्ञ सब का साक्षी नियन्ता अनादिस्वरूप ब्रह्म कल्प के आरम्भ में जीवों को अपने कहे वेदों से शब्द अर्थ और उनके सम्बन्ध को जनाने वाली विद्या का उपदेश न करे तो कोई विद्वान् न होवे और न धर्म अर्थ काम और मोक्ष के फलों के भोगने को समर्थ हो इसलिये इसी ब्रह्म की सदैव उपासना करो ॥ ८ ॥

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य अन्धकार को प्राप्त होते हैं इस वि० ॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसंभूतिमुपासते । ततो भूयं इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬ रताः ॥९॥

अन्धम् । तमः । प्र । विशन्ति । ये । असंभूतिमित्यसम्ऽभूतिम् । उपासत इत्युपऽआसते । ततः । भूयऽइवेति भूयःऽइव । ते । तमः । ये । ऊँ इत्यूँ । सम्भूत्यामिति सम्ऽभूत्याम् । रताः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अन्धम्) आवरकम् (तमः) अन्धकारम् (प्र) प्रकर्षेण (विशन्ति) (ये) (असम्भूतिम्) अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्वरजस्तमोगुणमयं जडं वस्तु (उपासते) उपास्यतया जानन्ति (ततः) तस्मात् (भूय इव) अधिकमिव (ते) (तमः) अविद्यामयमन्धकारम् (ये) (उ) वितर्केण सह (संभूत्याम्) महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ (रताः) ये रमन्ते ते ॥९॥

अन्वयः—ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिमुपासते तेऽन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूत्यां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ॥ ९ ॥

भावार्थः—ये जनाः सकलजडजगतोऽनादि नित्यं कारणमुपास्यतया स्वीकुर्वन्ति तेऽविद्यां प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति ये च तस्मात्कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादिस्थूलं सूक्ष्मं कार्यकारणाख्यमनित्यं संयोगजन्यं कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते ते गाढामविद्यां प्राप्याधिकतरं क्लिश्यन्ति तस्मात्सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानमेव सर्वे सदोपासीरन् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(ये) जो लोग परमेश्वर को छोड़ कर (असम्भूतिम्) अनादि अनुत्पन्न सत्व रज और तमोगुणमय प्रकृतिरूप जड़ वस्तु को (उपासते) उपास्यभाव से जानते हैं वे (अन्धम्, तमः) आवरण करने वाले अन्धकार को (प्रविशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होते और (ये) जो (सम्भूत्याम्) महत्तत्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) वितर्क के साथ (ततः) उस से (भूय इव) अधिक जैसे वैसे (तमः) अविद्यारूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य समस्त जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण को उपासना भाव से स्वीकार करते हैं वे अविद्या को प्राप्त होकर क्लेश को प्राप्त होते और

जो उस कारण से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म कार्य्य कारणाख्य अनित्य संयोगजन्य कार्य्य जगत् को इष्ट उपास्य मानते हैं वे गाढ़ अविद्या को पाकर अधिकतर क्लेश को प्राप्त होते हैं इसलिये सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की ही सब सदा उपासना करें ॥ ९ ॥

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥
फिर मनुष्य क्या करें इस वि० ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यत् । एव । आहुः । सम्भवादिति सम्ऽभवात् । अन्यत् । आहुः । असम्भवादित्यसम्ऽभवात् । इति । शुश्रुम । धीराणाम् । ये । नः । तत् । विचचक्षिरऽइति विऽचचक्षिरे ॥ १० ॥

पदार्थः—(अन्यत्) कार्य्यं फलं वा (एव) (आहुः) कथयन्ति (सम्भवात्) संयोगजन्यात्कार्य्यात् (अन्यत्) भिन्नम् (आहुः) कथयन्ति (असम्भवात्) अनुत्पन्नात्कारणात् (इति) अनेन प्रकारेण (शुश्रुम) शृणुमः (धीराणाम्) मेधाविनां विदुषां योगिनाम् (ये) (नः) अस्मान् प्रति (तत्) तयोर्विवेचनम् (विचचक्षिरे) व्याचक्षते ॥ १० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं धीराणां सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम ये नस्तद्विचचक्षिरे ते सम्भवादन्यदेवाहुरसम्भवादन्यदाहुरिति यूयमपि शृणुत ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथा विद्वांसः कार्य्यात्कारणाद्वस्तुनो भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति ग्राहयन्ति तद्गुणान् विज्ञाय विज्ञापयन्त्येवमेव यूयमपि निश्चिनुत ॥ १० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (धीराणाम्) मेधावि योगी विद्वानों से जो वचन (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो वे लोग (नः) हमारे) प्रति (विचचक्षिरे) व्याख्यान पूर्वक कहते हैं वे लोग (सम्भवात्) संयोगजन्य कार्य्य से (अन्यत्, एव) और ही कार्य्य वा फल (आहुः) कहते (असम्भवात्) उत्पन्न नहीं होने वाले कारण से (अन्यत्) और (आहुः) कहते हैं (इति) इस बात को तुम भी सुनो॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य्यकारण रूप वस्तु से भिन्न २ वक्ष्यमाण उपकार लेते और लिवाते हैं तथा उन कार्य्यकारण के गुणों को जानकर जनाते हैं । ऐसे ही तुम लोग भी निश्चय करो ॥ १० ॥

सम्भूतिमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः कार्य्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को कार्य्यकारण से क्या२ सिद्ध करना चाहिये इस वि० ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयंꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥११॥

सम्भूतिमिति सम्ऽभूतिम् । च । विनाशमिति विऽनाशम् । च । यः । तत् । वेद । उभयम् । सह । विनाशेनेति विनाशेन । मृत्युम् । तीर्त्वा । सम्भूत्येति सम्ऽभूत्या । अमृतम् । अश्नुते ॥ ११ ॥

पदार्थः—(सम्भूतिम्) सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिम् (च) तस्या गुणकर्मस्वभावान् (विनाशम्) विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् (च) तद्गुणकर्मस्वभावान् (यः) (तत्) (वेद) जानाति (उभयम्) कार्य्यकारणस्वरूपं जगत् (सह) (विनाशेन) नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह (मृत्युम्) शरीरवियोगजन्यं दुःखम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (सम्भूत्या) शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपयोत्पन्नया कार्य्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या (अमृतम्) मोक्षम् (अश्नुते) प्राप्नोति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यो विद्वान् सम्भूतिं च विनाशं च सहोभयं तद्वेद स विनाशेन सह मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या सहामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! कार्य्यकारणाख्ये वस्तुनी निरर्थके न स्तः किन्तु कार्य्यकारणयोर्गुणकर्मस्वभावान् विदित्वा धर्मादिमोक्षसाधनेषु संप्रयोज्य स्वात्मकार्यकारणयोर्विज्ञातेन नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयतेति कार्यकारणाभ्यामन्यदेव फलं निष्पादनीयमिति । अनयोर्निषेधो हि परमेश्वरस्थान उपासना प्रकरणे वेदितव्यः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते उस कार्यरूप सृष्टि (च) और उसके गुण, कर्म, स्वभावों को तथा (विनाशम्) जिस में पदार्थ नष्ट होते उस कारणरूप जगत् (च) और उसके गुण, कर्म्म, स्वभावों को (सह) एक साथ (उभयम्) दोनों (तत्) उन कार्य्य और कारण स्वरूपों को (वेद) जानता है वह विद्वान् (विनाशेन) नित्यस्वरूप जाने हुए कारण के साथ (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख से (तीर्त्वा) पार होकर (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई, कार्यरूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! कार्य्यकारणरूप वस्तु निरर्थक नहीं है किन्तु कार्य कारण के गुण कर्म और स्वभावों को जान कर धर्म आदि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके अपने शरीरादि के कार्य कारण को नित्यत्व से जान के मरण का भय छोड़ कर मोक्ष की सिद्धि करो। इस प्रकार कार्य्यकारण से अन्य ही फल सिद्ध करना चाहिये इन कार्य्यकारण का निषेध परमेश्वर के स्थान में जो उपासना उस प्रकरण में करना चाहिये ॥ ११ ॥

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ विद्याऽविद्योपासनफलमाह ॥

अब विद्या अविद्या की उपासना का फल कहते हैं ॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयं इव ते तमो यऽउ विद्यायांᳬ रताः॥१२॥

अन्धम्। तमः। प्र। विशन्ति। ये। अविद्याम्। उपासतऽइत्युपऽआसते। ततः। भूयऽइवेति भूयःऽइव। ते। तमः। ये। ऊँऽ इत्यूँ। विद्यायाम्। रताः॥१२॥

पदार्थः—(अन्धम्) दृष्ट्यावरकम् (तमः) गाढमज्ञानम् (प्र) (विशन्ति) (ये) (अविद्याम्) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्य्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् (उपासते) अभ्यस्यन्ति (ततः) (भूय इव) अधिकमिव (ते) (तमः) अज्ञानम् (ये) पण्डितंमन्यमानाः (उ) (विद्या-

याम्) शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे (रताः) रममाणाः॥ १२॥

अन्वयः–ये मनुष्या अविद्यामुपासते तेऽन्धन्तमः प्रविशन्ति ये विद्यायां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ॥ १२ ॥

भावार्थः–अत्रोपमालं०—यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयं यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं वा तदुपासनीयं सेवनीयं च यदतो भिन्नं तन्नोपासनीयं किन्तूपकर्त्तव्यं । ये मनुष्या अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशैः क्लेशैर्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायातो भिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःखसागरे मज्जन्ति ये च शब्दार्थान्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहितन्यायाचरणाख्यं धर्मं नाचरन्त्यभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याऽविद्यामेव मन्यन्ते तेचाऽधिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ॥ १२ ॥

पदार्थः—(ये) जो मनुष्य (अविद्याम्) अनित्य में नित्य अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख और अनात्मा शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अविद्या उस की अर्थात् ज्ञानादि गुण रहित कारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं वे(अन्धम्, तमः) दृष्टि के रोकने वाले अन्धकार और अत्यन्त अज्ञान को (प्र, विशन्ति) प्राप्त होते हैं और (ये) जो अपने आत्मा को पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द अर्थ, और इनके सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते (ते) वे (उ) भी (ततः) उस से (भूय इव) अधिकतर (तमः) अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जो २ चेतन ज्ञानादि गुणयुक्त वस्तु है वह जानने वाला जो अविद्यारूप है वह जानने योग्य है और जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् का आत्मा है वह उपासना के योग्य है जो इस से भिन्न है वह उपास्य नहीं है किन्तु उपकार लेने योग्य है। जो मनुष्य अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों से युक्त हैं वे परमेश्वर को छोड़ इस से भिन्न जड़ वस्तु की उपासना कर महान् दुःखसागर में डूबते हैं और जो शब्द अर्थ

का अन्वय मात्र संस्कृत पढ़कर सत्यभाषण पक्षपात रहित न्याय का आचरण रूप धर्म नहीं करते अभिमान में आरूढ़ हुए विद्या का तिरस्कार कर अविद्या को ही मानते हैं वे अत्यन्त तमोगुणरूप दुःखसागर में निरन्तर पीडित होते हैं ॥ १२ ॥

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ जड़चेतनयोर्विभागमाह ॥

अब जड़ चेतन का भेद कहते हैं ॥

अ॒न्यदे॒वाहुर्वि॒द्याया॑ अ॒न्यदा॑हु॒रवि॑द्यायाः ।
इति॑ शुश्रुम॒ धीरा॑णां॒ ये न॒स्तद्वि॑चचक्षि॒रे ॥१३॥

अ॒न्यत् । ए॒व । आ॒हुः । वि॒द्याया॑ः । अ॒न्यत् । आ॒हुः । अवि॑द्यायाः । इति॑ । शु॒श्रु॒म॒ । धीरा॑णाम् । ये । नः॒ । तत् । वि॒च॒च॒क्षि॒र॒ऽइति॑ विऽच॒च॒क्षि॒रे ॥ १३ ॥

पदार्थः—(अन्यत्) अन्यदेव कार्य्यं फलं वा (एव) (आहुः) कथयन्ति (विद्यायाः) पूर्वोक्तायाः (अन्यत्) (आहुः) (अविद्यायाः) पूर्वमंत्रेण प्रतिपादितायाः (इति) (शुश्रुम) श्रुतवन्तः (धीराणाम्) आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् (ये) (नः) अस्मभ्यम् (तत्) विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा (विचचक्षिरे) व्याख्यातवन्तः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! ये विद्वांसो नो विचचक्षिरे विद्याया अन्यदाहुरविद्याया अन्यदेवाहुरिति तेषां धीराणां तद्वचो वयं शुश्रुमेति विजानीत ॥ १३ ॥

भावार्थः—ज्ञानादिगुणयुक्तस्य चेतनस्य सकाशाद्य उपयोगो भवितुं योग्यो न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात् यच्च जडात्प्रयोजनं सिध्यति न तच्चेतनादिति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गेन विज्ञानेन योगेन धर्माचरणेन चानयोर्विवेकं कृत्वोभयोरुपयोगः कर्त्तव्यः ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिये (विचचक्षिरे) व्याख्या पूर्वक कहते थे (विद्यायाः) पूर्वोक्त विद्या का (अन्यत्) अन्य ही कार्य वा फल (आहुः) कहते थे (अविद्यायाः) पूर्व मंत्र से प्रतिपादन की अविद्या का (अन्यत्) अन्य फल (आहुः) कहते हैं इस प्रकार उन (धीराणाम्) आत्म ज्ञानी विद्वानों से (तत्) उस वचन को हम लोग (शुश्रुम) सुनते थे ऐसा जानो ॥ १३ ॥

भावार्थः—ज्ञानादि गुण युक्त चेतन से जो उपयोग होने योग्य है वह अज्ञान युक्त जड़ से कदापि नहीं और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है वह चेतन से नहीं। सब मनुष्यों को विद्वानों के संग, योग, विज्ञान और धर्माचरण से इन दोनों का विवेक करके दोनों से उपयोग लेना चाहिये ॥ १३ ॥

विद्यामित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।

स्वराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

विद्याम् । च । अविद्याम् । च । यः । तत् । वेद । उभयम् । सह । अविद्यया । मृत्युम् । तीर्त्वा । विद्यया । अमृतम् । अश्नुते ॥ १४ ॥

पदार्थः-(विद्याम्) पूर्वोक्ताम् (च) तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् (अविद्याम्) प्रतिपादितपूर्वाम् (च) एतदुपयोगिसाधनकलापम् (यः) (तत्) (वेद) विजानीत (उभयम्) (सह) (अविद्यया शरीरादिजडेन-पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (मृत्युम्) मरणदुःखभयम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (विद्यया) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन (अमृतम्) नाश रहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा (अश्नुते) ॥ १४ ॥

अन्वयः-यो विद्वान् विद्यां चाऽविद्यां च तदुभयं सह वेद सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायाऽनयोर्जडचेतनौ साधकौ वर्त्तेते इति निश्चित्य सर्वं शरीरादिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थकाममोक्षसिद्धये सहैव संप्रयुञ्जते ते लौकिकं दुःखं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादि कार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्तुं कथं शक्नुयात्तस्मान्न केवलेन जडेन न च केवलेन चेतनेनाथवा न केवलेन कर्मणा न केवलेन ज्ञानेन च कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्त्तुं समर्थो भवति ॥ १४ ॥

पदार्थः—(यः) जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वोक्त विद्या (च) और उस के सम्बन्धी साधन उपसाधनों (अविद्याम्) पूर्व कही अविद्या (च) और इसके उपयोगी साधन समूह को और (तत्) उस ध्यानगम्य मर्म (उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ ही (वेद) जानता है वह (अविद्यया) शरीरादि जड पदार्थ समूह से किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) मरणदुःख के भय को (तीर्त्वा) उल्लंघ कर (विद्यया) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उस से उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शनरूप विद्या से (अमृतम्) नाश रहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जानकर इन के जड़ चेतन साधक हैं ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही प्रयोग करते हैं वे लौकिक दुःख को छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं जो जड़ प्रकृति आदि कारण वा-शरीरादि कार्य्य न हो तो परमेश्वर जगत् कि उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और ज्ञान-के करने को कैसे समर्थ हों ? इस से न केवल जड़ न केवल चेतन से अथवा न केवल-कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता-है ॥ १४ ॥

वायुरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
स्वराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
अथ देहान्ते किं कार्य्यमित्याह ॥
अब देहान्त के समय क्या करना चाहिये इस वि० ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

वायुः । अनिलम् । अमृतम् । अथ । इदम् । भस्मान्तमिति भस्मऽअन्तम् । शरीरम् । ओ३म् । क्रतो इति क्रतो । स्मर । क्लिबे । स्मर । कृतम् । स्मर ॥ १५ ॥

पदार्थः—(वायुः) धनंजयादिरूपः (अनिलम्) कारण-रूपं वायुम् (अमृतम्) नाशरहितं कारणम् (अथ) (इदम्) (भस्मान्तम्) भस्म अन्ते यस्य तत् (शरीरम्) यच्छीर्य्यते-

हिंस्यते तदाश्रयम् (ओ३म्) एतन्नामवाच्यमी-श्वरम् (क्रतो) यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ (स्मर) प-र्य्यालोचय (क्लिबे) स्वसामर्थ्याय (स्मर) (कृतम्) यदनु-ष्ठितम् (स्मर) तत् ॥ ५ ॥

अन्वयः–हे क्रतो! त्वं शरीरत्यागसमये (ओ३म्) स्मर क्लिबे परमात्मा-नं स्वस्वरूपं च स्मर कृतं स्मर । अत्रस्थो वायुरनिलममृतं धरति । अ-थेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीत ॥ १५ ॥

भावार्थः–मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तवृत्तिर्जायते शरीरादात्मनः पृथग्भा-वश्च भवति तथैवेदानीमपि विज्ञेयम् । एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्य्या नातो दहनात्परः कश्चित्संस्कारः कर्त्तव्यो वर्त्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यैवाज्ञा-पालनमुपासनं स्वसामर्थ्यवर्द्धनञ्चैव कार्य्यम् । कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वाधर्मेरुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ॥ १५ ॥

पदार्थः–हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव तू शरीर छूटते समय (ओ३म्) इस नाम वाच्य ईश्वर को (स्मर) स्मरण कर (क्लिबे) अपने सामर्थ्य के लिये पर-मात्मा और अपने स्वरूप का (स्मर) स्मरण कर (कृतम्) अपने किये का (स्मर) स्मरण कर । इस संसार का (वायुः) धनंजयादिरूप वायु (अनिलम्) कारणरूप वायु को कारणरूप वायु (अमृतम्) अविनाशी कारण को धारण करता (अथ) इ-सके अनन्तर (इदम्) यह (शरीरम्) नष्ट होने वाला सुखादि का आश्रय शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है ऐसा जानो ॥ १५ ॥

भावार्थः–मनुष्यों को चाहिये कि जैसी मृत्यु समय में चित्त की वृत्ति होती है और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है वैसे ही इस समय भी जानें । इस शरीर को जलाने पर्य्यन्त क्रिया करें । जलाने पश्चात् शरीर का कोई संस्कार न करें । वर्त्तमान समय में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन उपासना और अपने सामर्थ्य को बढ़ाया करें । किया हुआ कर्म निष्फल नहीं होता ऐसा मान कर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति किया करें ॥ १५ ॥

अग्ने नयेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥
ईश्वरः काननुगृह्णातीत्याह॥
ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है इस वि०॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम॥ १६॥

अग्ने॑। नय॑। सुपथेति॑ सु॒ऽपथा॑। रा॒ये। अ॒स्मान्। विश्वा॑नि। दे॒व। व॒युना॑नि। वि॒द्वान्। यु॒यो॒धि। अ॒स्मत्। जु॒हु॒रा॒णम्। एनः॑। भूयि॑ष्ठाम्। ते॒। नम॑ऽउक्तिमिति॒ नमः॑ऽउक्तिम्। वि॒धे॒म॥ १६॥

पदार्थः—(अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामयजगदीश्वर! (नय) गमय (सुपथा) धर्म्येण मार्गेण (राये) विज्ञानाय धनाय वसुसुखाय (अस्मान्) जीवान् (विश्वानि) अखिलानि (देव) दिव्यस्वरूप (वयुनानि) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि। वयुनमिति प्रशस्य ना० निघं० ३। ८ प्रज्ञानामसु निघं० ३। ९ (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति सः (युयोधि) पृथक्कुरु (अस्मत्) अस्माकं सकाशात्

(जुहुराणम्) कौटिल्यम् (एनः) पापाचरणम् (भूयिष्ठाम्) बहुतमाम् (ते) तुभ्यम् (नमउक्तिम्) सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् (विधेम) परिचरेम ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे देवाग्ने परमेश्वर! यतो वयं ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम तस्माद्विद्वांस्त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोध्यस्मान् राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय माप्य ॥ १६ ॥

भावार्थः—ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते यथासामर्थ्यं तदाज्ञां पालयन्ति सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते तान् दयालुरीश्वरः पापाचरणमार्गात्पृथक्कृत्य धर्म्यमार्गे चालयित्वा विज्ञानं दत्वा धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति तस्मात् सर्वे एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय कस्याप्युपासनं कदाचिन्नैव कुर्युः ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) प्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! जिससे हम लोग (ते) आप के लिये (भूयिष्ठाम्) अधिकतर (नमउक्तिम्) सत्कार पूर्वक प्रशंसा का (विधेम) सेवन करें । इससे (विद्वान्) सब को जानने वाले आप (अस्मत्) हम लोगों से (कुटिलतारूप (एनः) पापाचरण को (युयोधि) पृथक् कीजिये (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान धन वा धन से हुए सुख के लिये (सुपथा) धर्मानुकूल मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त ज्ञानों को (नय) प्राप्त कीजिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो सत्यभाव से परमेश्वर की उपासना करते यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं उनको दयालु ईश्वर पापाचरणमार्ग से पृथक् कर धर्मयुक्त मार्ग में चला के विज्ञान देकर धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिये समर्थ करता है इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना कदापि न करें ॥ १६ ॥

हिरण्मयेनेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति ॥
अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

हिरण्मयेन । पात्रेण । सत्यस्य । अपिहितमित्यपिऽहितम् । मुखम् । यः । असौ । आदित्ये । पुरुषः । सः । असौ । अहम् । ओ३म् । खम् । ब्रह्म ॥ १७ ॥

पदार्थः—(हिरण्मयेन) ज्योतिर्मयेन (पात्रेण) रक्षकेण (सत्यस्य) अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य (अपिहितम्) आच्छादितम् (मुखम्) मुखवदुत्तमाङ्गम् (यः) (असौ) (आदित्ये) प्राणे सूर्यमण्डले वा (पुरुषः) पूर्णः परमात्मा (सः) (असौ) (अहम्) (ओ३म्) योऽवति सकलं जगत्तदाख्या (खम्) आकाशवद्व्यापकम् (ब्रह्म) सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत् ॥१७॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितं मुखं विक्रियते योऽसावादित्ये पुरुषोऽस्ति सोऽसावहं खम्ब्रह्मास्म्यो३मिति विजानीत ॥१७॥

भावार्थः—सर्वान्मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति । हे मनुष्या ! योऽहमत्राऽस्मि स एवान्यत्र सूर्यादौ योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवाऽत्राऽस्मि सर्वत्र

परिपूर्णः खवद्व्यापको न मत्तः किञ्चिदन्यद्बृहदहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि मदीयं सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं निजस्य नामों ३ मिति वर्त्तते यो मम प्रेमसत्याचरणभावाभ्यां शरणं गच्छति तस्यान्तर्यामिरूपेणाहमविद्यां विनाश्य तदात्मानं प्रकाश्य शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा सत्यस्वरूपावरणं स्थापयित्वा शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्वा सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक्कृत्य मोक्षसुखं प्रापयामीत्योंइम् ॥ १७ ॥

अत्रेश्वरगुणवर्णनमधर्मत्यागोपदेशः सर्वदा सत्कर्मानुष्ठानावश्यकत्वमधर्माचरणनिन्दा परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मस्वरूपदर्शनं विदुषा ज्ञेयत्वमविदुषामविज्ञेयत्वं सर्वत्रात्मभावेन हिंसाधर्मपालनं तेन मोहशोकादित्याग ईश्वरस्य जन्मादिदोषराहित्यं वेदविद्योपदेशः [illegible] कार्य्यकारणात्मकस्य जडस्योपासननिषेधस्ताभ्यां कार्य्यकारणाभ्यां मृत्युं [illegible] र्य्यं मोक्षसिद्धिकरणं जडवस्तुन उपासननिषेधश्चेतनोपासनविधिः [illegible] ज्ञानाऽऽवश्यकत्वं शरीरस्वभाववर्णनं समाधिना परमेश्वरमा- [illegible] रीरत्यागकरणं शरीरदाहादूर्ध्वमन्यक्रियानुष्ठाननिषेधोऽधर्मत्या- [illegible] परमेश्वरप्रार्थनमीश्वरस्वरूपवर्णनं सर्वेभ्यो नामभ्य ओ३मि- [illegible] त्वं च कृतमत एतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्ग- [illegible]

[illegible] मनुष्यो ! जिस हिरण्मयेन ज्योतिःस्वरूप (पात्रेण) रक्षक मुझ से [illegible] विनाशी यथार्थ कारण के (अपिहितम्) आच्छादित (मुखम्) मुख [illegible] म अंग का प्रकाश किया जाता (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण वा सूर्य्यमण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह (असौ) परोक्ष रूप (अहम्) मैं (खम्) आकाश के तुल्य व्यापक (ब्रह्म) सब से गुण, कर्म और स्वरूप करके अधिक हूं (ओ३म्) सब का रक्षक जो मैं उस का (ओ३म्) ऐसा नाम जानो ॥ १७ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जो मैं यहां हूं वही अन्यत्र सूर्य्यादि लोक में जो अन्यत्र सूर्य्यादि लोक में हूं वही यहां हूं सर्वत्र परिपूर्ण आकाश के तुल्य व्यापक मुझ से भिन्न कोई बड़ा नहीं मैं ही सब से बड़ा हूं । मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा मेरा निज का नाम

"ओ३म्" यह है जो मेरा प्रेम और सत्याचरण भाव से शरण लेता उस को अन्तर्यामिरूप से मैं अविद्या का विनाश कर उस के आत्मा का प्रकाश करके शुभ गुण कर्म स्वभाव वाला कर सत्यस्वरूप का आवरण स्थिर कर योग से हुए विज्ञान को दे और सब दुःखों से अलग करके मोक्ष सुख को प्राप्त करता हूं। इति ॥ १७ ॥

इस अध्याय में ईश्वर के गुणों का वर्णन अधर्म त्याग का उपदेश सब काल में सत् कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता, अधर्माचरण की निन्दा, परमेश्वर के अति सूक्ष्म स्वरूप का वर्णन, विद्वान् को जानने योग्य का होना, अविद्वान् को अज्ञेयपन का होना, सर्वत्र आत्मा जान के अहिंसाधर्म की रक्षा, उस से मोह शोकादि का त्याग, ईश्वर का जन्मादि दोष रहित होना, वेद विद्या का उपदेश, कार्य्य कारणरूप जड़ जगत् की उपासना का निषेध, उन कार्य्य कारणों से मृत्यु का निवारण कर [illegible] सिद्धि करना, जड़ वस्तु की उपासना का निषेध, चेतन की उपासना [illegible] चेतन दोनों के स्वरूप के जानने की आवश्यकता, शरीर के स[illegible] से परमेश्वर को अपने आत्मा में धर के शरीर त्यागना, [illegible] क्रिया के अनुष्ठान का निषेध, अधर्म के त्याग और धर्म के [illegible] प्रार्थना, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन और सब नामों से "ओ३म् [illegible] का प्रतिपादन किया है। इस से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्वा[illegible] के साथ सङ्गति है यह जानना चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीपरमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामिना निर्मिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः समाप्तः। समाप्तश्चायंग्रन्थ इति ॥

[illegible] में छपना आरम्भ हुआ [illegible]

[illegible] में छपकर समाप्त हुआ

विज्ञापन ॥

पहिले कमीशन में पुस्तकें मिलती थीं अब नक़द रुपया मिलेगा ॥
डाक महसूल सब का मूल्य से अलग देना होगा ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेदभाष्य (९ भाग)	३६)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	१६)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	१।)
वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग	४।≡)॥।
अष्टाध्यायी मूल	≡)॥
पंचमहायज्ञविधि	-)॥
निरुक्त	॥=)
शतपथ (१ काण्ड)	।)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	=)
व्यवहारभानु	=)
भ्रमोच्छेदन	)॥।
अनुभ्रमोच्छेदन	)॥
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर) नागरी	-)
" उर्दू	-)
आर्योद्देश्यरत्नमाला (नागरी)	)।
" (मरहठी)	-)
" (अंग्रेज़ी)	)॥।
गोकरुणानिधि	-)
स्वामीनारायणमतखण्डन	-)॥
हवनमन्त्र	)।

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
सत्यार्थप्रकाश	१॥)
संस्कारविधि	॥)
विवाहपद्धति	।)
आर्याभिविनय	≡)
शास्त्रार्थ फीरोजाबाद	-)॥
आ० स० के नियमोपनियम	)।
वेदविरुद्धमतखण्डन	=)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण नागरी	)॥।
" अंग्रेज़ी	-)
भ्रान्तिनिवारण	-)
शास्त्रार्थकाशी	)॥।
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश नागरी	)॥
तथा अंग्रेज़ी	)।
मूलवेद साधारण	५)
तथा बढ़िया	५॥)
अनुक्रमणिका	१॥)
सत्यार्थप्रकाश (बंगला)	१॥)
शतपथब्राह्मण पूरा	४)
ईशादिदशोपनिषद् मूल	॥=)

पुस्तक मिलने का पता—

प्रबन्धकर्त्ता
वैदिक यन्त्रालय
अजमेर